भूमिका

लेखकों ने इस पुस्तक में मनोविज्ञान और बुनियादी शिक्षा के सि
का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। कोई भी शिक्षापद्धति सफल नहीं
जा सकती जब तक वह मनोविज्ञान की कसौटी पर नहीं आँकी जावे। शिक्षा
की आवश्यकताओं को अवश्य ध्यान में रखती है पर इसी के साथ वह मनु
स्वाभाविक प्रकृति को भुला नहीं सकती। समाज और शिक्षा का पुनर्गठन मनो
निक सिद्धान्तों पर ही होना चाहिए—इस दृष्टि से लेखकों का प्रयास सराहनी

फिर भी हमको यह नहीं भूलना चाहिये कि शिक्षा के सिद्धान्त और
विज्ञान ये दोनों स्वतन्त्र हैं। शिक्षा की दृष्टि समाज के मूल्यों की तरफ रहत
बुनियादी शिक्षा भारतीय समाज के विशिष्ट मूल्यों की तरफ संकेत करती है।
मनोविज्ञान की दृष्टि विश्लेषणात्मक होती है। उसका ध्यान मूल्यों की तर
जाता परन्तु बालक की वास्तविक प्रकृति को समझना और विश्लेषण कर
शिक्षा कला और विज्ञान दोनों का सम्मिश्रण है और मनोविज्ञान का दृ
वैज्ञानिक है। शिक्षा और मनोविज्ञान का यह अन्तर यदि हम भुला देते हैं तो
को हानि हो सकती है। वे एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं पर एक नहीं हो।

लेखकों को बुनियादी शिक्षा का अनुभव है। इन्होंने बुनियादी प्र
केन्द्र में अध्यापन का काम किया है और यह पुस्तक अनुभव के आधार पर
गई है। मुझे आशा है कि बुनियादी ट्रेनिंग कालेज के छात्रों के लिए यह
उपयोगी होगी।

प्रस्तावना

प्रथम संस्करण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही राष्ट्र की बुनियादी शिक्षा के प्रसार के प्रति एक अपूर्व जागरूकता दृष्टिगोचर हो रही है। राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में प्रदेशीय सरकारें भी इस ओर प्रगतिशील हैं। इस प्रकार शनैः शनैः वर्तमान रूढ़िगत टकसाली शिक्षा के भार से अबोध बालकों को मुक्ति करने का कार्य द्रुतगति से प्रारम्भ हो चुका है। इसी के फलस्वरूप कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलन, अधिवेशन, सेमिनार, वर्कशाप एवं प्रदर्शनियाँ द्रुतगति से आयोजित होती चली जा रही हैं। शैक्षणिक जागृति चारों ओर लक्षित हो रही है।

शिक्षा की व्यवस्था एवं उसकी सार्थकता अधिकांशतः शिक्षकों की योग्यता, क्षमता, कर्त्तव्य निष्ठा एवं उनकी शिक्षण विधि पर आधारित है। यह शिक्षण विधि तब तक अपूर्ण है जब तक पढ़ाई जाने वाली शिक्षा के सिद्धान्तों एवं शिक्षा मनोविज्ञान के तथ्यों का वह वेत्ता नहीं है। इस दृष्टि से बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय, शिक्षकों को बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों से परिचित कराते हैं और साथ ही साथ मनोविज्ञान से भी उन्हें जानकारी कराई जाती है। परन्तु दोनों का पर्याप्त समन्वय नहीं हो पाता क्योंकि इस दृष्टि से पथ-प्रदर्शक पुस्तकें न्यूनतम हैं। ऐसी अवस्था में अध्यापक बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों से अलग परिचित होता है और मनोविज्ञान के तथ्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व उसके मस्तिष्क में समा जाता है। परन्तु सत्य तो यह है कि शिक्षा सिद्धान्त एवं शिक्षा मनोविज्ञान के सम्मिलित आधार पर बालक को शिक्षा देना अध्यापक की सफलता का परिचायक होगा। शिक्षा सिद्धान्त एवं शिक्षा मनोविज्ञान अध्यापक के दो नेत्र हैं जिनसे वह उचित मार्ग ढूंढकर बालक को उस मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करता है।

इस पुस्तिका में इस दृष्टिकोण से बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों का प्रमुखतया मनोवैज्ञानिक तथ्यों से तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों का बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों से तारतम्य मिलाने का प्रयास किया गया है। यही इस पुस्तक की विशेषता है। इस दृष्टि से यह अपनी तरह की प्रथम पुस्तक है।

हमारे इस प्रयास का श्रेय विद्याभवन सोसायटी को है जिसने हमारे जीवन में शैक्षणिक जागृति उत्पन्न की है और जहाँ के कर्मठ कार्यकर्त्ताओं के सम्पर्क ने हमें इस ओर उन्मुख किया है। हमे इस प्रकार की प्रेरणा प्रदान करने वाले माननीय डाक्टर कालूलाल श्रीमाली हैं जिनकी अमिट छाप शिक्षा जगत पर पूर्णतः अंकित है और जो अपने शिष्यों को प्रकाशित होते एवं प्रगति करते देखकर स्वाभाविक आत्मतोष एवं प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। उन्होने ही इस पुस्तक की भूमिका लिखने की अनुपम कृपा की है। इसके लिए लेखक हृदय से उनके आभारी हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में हमें प्रवेश देकर अधिकाधिक रुचिशील एवं अध्ययनशील बनाने वाले श्री केदारनाथ श्रीवास्तव—स्थानापन्न प्रिंसिपल, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, विद्याभवन, उदयपुर—के प्रोत्साहन, प्रशिक्षण, एवं उनके जीवन ने हमें बहुत अधिक प्रभावित किया है। आज के शिक्षा-क्षेत्र में जिन विचारों का प्रभाव नज़र आता है उन विचारों को पुस्तक रूप में संकलित करने का प्रोत्साहन कर अपने व्यस्त जीवन मे भी उन्होंने समय-समय पर निर्देश देने का जो कष्ट उठाया उससे इस पुस्तक के स्तर को उन्नत बनाने में पर्याप्त योग मिला है। इसके लिए हम अन्तस्तल से उनका आभार प्रदर्शन करते हैं।

हम जनशिक्षण के सम्पादक मण्डल के संयोजक श्री प्रतापसिंह सुराणा के भी अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने जनशिक्षण में मुद्रित लेख को इस पुस्तक में स्थान देने की अनुमति ही प्रदान नहीं की वरन् उन्होंने हमें शिक्षा के क्षेत्र में अपना योग प्रदान करने के लिये समय-समय पर उत्साहित भी किया।

हमारे अन्तरंग मित्र श्री दिनेश चन्द्र भारद्वाज, एम० ए० ने इस पुस्तक को योजना-बद्ध करने मे सहायता देकर व इसके कवर पृष्ठ को बना कर जो आत्मीयता प्रदर्शित की है उसके प्रति उनको धन्यवाद देकर अपने सम्बन्धों को घटाना उचित नहीं समझते क्योंकि सहयोग उनके जीवन का भी अभिन्न अंग है।

अन्त में हम उन सभी साथियों, लेखकों, विचारकों एवं विद्वानो के आभारी हैं जिनके विचारों एवं कृतियों ने हमारा पथ-प्रदर्शन किया है।

शिवकुमार शर्मा
रमेशचन्द्र शर्मा

द्वितीय संस्करण

बुनियादी शिक्षा—सिद्धान्त एवं मनोविज्ञान का प्रथम संस्करण एक वर्ष में ही समाप्त हो गया और इस दूसरे संस्करण को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का शीघ्र ही अवसर प्राप्त हुआ यह एक हर्ष का विषय है। प्रथम संस्करण पर हमें कुछ सहयोगियों द्वारा रचनात्मक सुझाव प्राप्त हुए। उन सुझावों का इस संस्करण मे समावेश कर लेने और नवीन पाठ्यक्रम की आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से कुछ पाठ और भी बढ़ा देने से हमें विश्वास है कि यह नवीन स्वरूप पाठकों के लिए अधिक लाभकारी सिद्ध होगा।

अनेक पत्रों, अधिकारियों, शिक्षा विशेषज्ञों एवं साथियों ने प्रस्तुत पुस्तक की प्रशंसा की और इस पुस्तक को लोकप्रिय बनाने में उन्होंने जो सहयोग दिया उसके लिए हम हृदय से उनके आभारी हैं।

उदयपुर
१४-५-५८

शिवकुमार शर्मा
रमेशचन्द्र शर्मा

तृतीय संस्करण

वर्तमान पुस्तक के द्वितीय संस्करण की समाप्ति पर यह तृतीय संस्करण आवश्यक सुधारों के साथ पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव होता है।

विशेषज्ञों एवं साथियों के सहयोग में आस्था रखते हुए, हमें विश्वास है कि इस नवीन संस्करण का अधिकाधिक स्वागत होगा।

गोगुन्दा — शिवकुमार शर्मा
१४-७-६० — रमेशचन्द्र शर्मा

चतुर्थ संस्करण

इस पुस्तक का यह चौथा संस्करण, इस पुस्तक पर आए हुए समस्त सुझावों को समाविष्टित कर, प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस दृष्टि से, विश्वास है कि, अब यह पुस्तक राष्ट्रीय शिक्षा के विकास और प्रसार में संलग्न पाठकों के लिए और भी अधिक रुचिकर सिद्ध होगी।

अजमेर — शिवकुमार शर्मा
१-६-६२ — रमेशचन्द्र शर्मा

पंचम संस्करण

यह संस्करण इस पुस्तक में आवश्यक सुधार करके प्रस्तुत किया जा रहा है। विश्वास है यह नवीन संस्करण पाठकों के लिए अधिक रुचिकर और लाभकारी सिद्ध होगा।

उदयपुर — शिवकुमार शर्मा
६-७-६५ — रमेशचन्द्र शर्मा

विषय-सूची

अध्याय विषय पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

अध्याय १

मानव का विकास-क्रम और शिक्षा का स्वरूप

प्रस्तावना—प्रारंभिक मानव जंगल में रहता था और शिकार करता था। उसे धीरे-धीरे यह ज्ञान हुआ कि पशुओं को मारने की बजाय पालकर रखना अधिक लाभकारी है। बाद मे उसे यह भी ज्ञान हुआ कि उदरपूर्ति के लिए खेती की जानी चाहिये और उसके पालतू पशु इस काम में उसकी मदद कर सकते हैं। क्रमशः उसका ज्ञान इस सीमा तक बढ़ा कि उसने अपनी मदद के लिये कलें बनाना शुरू किया और अपना जीवन ज्यादा से ज्यादा सुखी बनाने मे सफलता हासिल की। प्रारंभिक मानव शिकारी मानव था। बाद मे वह पशुपालक मानव बना। फिर कृषक मानव बना। आज वह कल-युगी मानव बना हुआ है। उसकी शिक्षा का तरीका भी इन चारो स्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा। इस आधार पर हम शिक्षा को भी निम्नलिखित चार क्रमों में समझ सकते हैं :—

(१) शिकारी मानव की शिक्षा।
(२) पशुपालक मानव की शिक्षा।
(३) किसान मानव की शिक्षा।
(४) कल-युगी मानव की शिक्षा।

(१) शिकारी मानव की शिक्षा—विकास के प्रथम चरण मे मानव शिकार और कंद, मूल, फल द्वारा अपनी उदरपूर्ति करता था, पहनने को वृक्षों की छाल उसके लिए पर्याप्त थी। निवास के लिए पर्वतो की गुहा या वृक्षो की खोह ही उसे सब प्रकार का संतोष दे देती थी। उस काल की जीवन-पद्धति अत्यन्त सरल थी। उस समय का मानव अपनी संस्कृति, मान्यतायें या जातीय कौशल अपनी सन्तान मे केवल सहवास से ही उतार सकता था। तब शिक्षा देने का कोई विधिवत् तरीका विद्यमान नहीं था।

(२) पशुपालक मानव की शिक्षा—शिकारी मानव ने अपने परिश्रम एवं कठिनाई के जीवन में लगातार अनुभव करके अपने वातावरण को विजित करने का तरीका ढूंढ निकाला। उसने यह जान लिया कि संहार के स्थान पर अगर पशुओं का पालन किया जावे तो उनसे उसे भोजन मिल सकेगा। उसकी दूर-दूर तक शिकार की खोज में घूमने की कठिनाई का भी अन्त हो सकेगा। इस ज्ञान ने उसके वस्त्र और शरणस्थानों के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया। अब वह अपने पशुओं के गल्लों के साथ चरागाहों की तलाश मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर कुटुम्ब-सहित घूमने लगा। वृक्षों की छाल के वस्त्र व कंदरा का स्थान चमड़े के वस्त्र व खेमों ने ले लिया। परिवर्तित मानव की संस्कृति एवं जातीय कौशल शिकारी मानव की तुलना

में विकसित था, फिर भी उसका ज्ञान प्रत्येक पिता को होता था। बालक कुटुम्ब प्रत्येक कार्य मे प्रारम्भ से ही *भाग लेता था। मिल-जुल कर काम करते-करते* सब कुछ सीख जाता था। शिक्षा देने का विधिवत् तरीका इस समय भी शुरू न हुआ।

(३) **किसान मानव की शिक्षा**—मानव ने परिस्थिति और वातावरण पर विजय प्राप्त करने के मार्ग मे एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने यह जान लिया कि *चरागाहों में विभिन्न प्रकार के ऐसे बीज होते हैं, जिन्हें* आवश्यकतानुसार परिस्थिति प्रदान की जावें तो उनकी फसल तैयार हो सकती है। एक के बाद दूसरी फसल उसी जमीन पर लगातार चालू रह सकती है। ऐसी पैदावार से चरागाहों की तलाश में घूमने-फिरने के स्थान पर स्थायी जीवन सम्भव हो सकता है। अतः पशुपालक मानव, किसान-मानव के रूप में परिवर्तित होने लगा। उसने खेती करना प्रारम्भ *किया। अब वह मैदानों में स्थायी जीवन बिताने की भी तैयारी* में था। उसे यह कन्दरा उपलब्ध नही थी। उसे चमड़े के खेमे की भी जरूरत नहीं थी। अब तो उसे मिट्टी और पत्थर के मकान बनाना सीखना था। उसे खेती के लिए मौसम और जलवायु का भी ज्ञान प्राप्त करना था। वह अतिरिक्त पैदावार को आवश्यक वस्तुओं से बदलने के लिए बाजारों के समय और भाव की भी जानकारी रखना चाहता था। उसे अब परिष्कृत वस्त्रों की भी जरूरत थी। उसकी जरूरतें लगातार बढ़ रही थीं। इतनी जानकारी अविधिक शिक्षा द्वारा बच्चों को पिता या अभिभावक नही दे सकते थे। अतः प्राकृतिक एवं अविधिक शिक्षा धीरे-धीरे लुप्त होने लगी और अप्राकृतिक एवं सविधिक शिक्षा का युग प्रारम्भ हुआ।

(४) **कल-युगी मानव की शिक्षा**—विकासोन्मुख मानव उपरोक्त स्थिति से ही सन्तुष्ट न हुआ। उसने *परिस्थिति और वातावरण पर विजय के हेतु प्रयत्न चालू* रखा। उसने अपनी सहायता में जीवधारियों के स्थान पर निर्जीव कलों के प्रयोग का तरीका ढूंढ निकाला। कलों के प्रयोग के आधार पर भी यह युग कल-युग कहलाया। इस युग के मानव को कल-युगी मानव कहकर सम्बोधित किया जाता है। आज का मानव अपनी सन्तान को स्वयं प्राकृतिक प्रणाली से शिक्षा दे सकने की स्थिति में नहीं है। *इसी कारण शिक्षा के दूसरे साधन जुटाने की जरूरत दिनोंदिन बढ़ती जा रही* है। यह सविधिक शिक्षा का युग है। इस शिक्षा को अधिकाधिक दृढ़ और प्रभावपूर्ण बनाने की भी दृष्टि से आज सर्वत्र प्रयत्न चल रहे हैं।

विधि के अनुसार शिक्षा के दो स्वरूप

(अ) **अविधिक शिक्षा**—हमने अभी यह देखा है कि अविधिक शिक्षा प्रारम्भिक युग में महत्वपूर्ण रही है। *मानवता एवं संस्कृति के विकास के साथ उसका महत्व कम* होता गया और सविधिक शिक्षा का महत्व बढ़ता गया। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आज अविधिक शिक्षा समाप्त हो चुकी है। उसे तो विद्यालय के बाहर कार्य करते बालक अनुभव द्वारा आज भी प्राप्त करते हैं। परन्तु अविधिक शिक्षा पर

आवश्यकतानुसार नियन्त्रण करना असम्भव होता है। इसी कारण आज सविधिक शिक्षा को अधिक से अधिक सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न चल रहा है।

(आ) सविधिक शिक्षा—अविधिक शिक्षा, जिसमें केवल प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा ही बालक पर प्रभाव पड़ता है उसके स्थान पर सविधिक शिक्षा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के बालक पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार से अविधिक शिक्षा की कमियों को सविधिक शिक्षा पूर्ण करती है। यद्यपि यह सत्य है कि अविधिक शिक्षा प्राकृतिक, स्वाभाविक और प्रारम्भिक है, फिर भी यह आज के विकसित समाज की आवश्यकता की पूर्ति करने में सर्वथा असमर्थ है। यही कारण है कि समाज आज सुनियन्त्रित सविधिक शिक्षा का सहारा लिए हुए है। फिर भी यह कभी नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार अविधिक शिक्षा समाप्त हो जावेगी। वह तो सृष्टि के प्रारम्भ से प्रारम्भ हुई है और जब तक सविधिक शिक्षा चलती रहेगी तब तक उसे सहायता देती रहेगी। इसके सहारे के बिना सविधिक शिक्षा अपना कार्य पूर्ण नहीं कर सकेगी।

आज की समस्या—छात्र आज स्कूल में केवल छः घंटे ही रहता है और शेष समय वह स्कूल के बाहर गुजारता है। इस प्रकार सविधिक शिक्षा के छः घंटे के प्रभाव के अतिरिक्त अठारह घंटे उसकी अविधिक शिक्षा रहती है। बालक के इस अठारह घंटे के जीवन पर नियन्त्रण हो सके और उसे सुधारा जा सके, तो विद्यालय का कार्य बड़ा सरल बन सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या अविधिक शिक्षा के क्षेत्र को नियन्त्रित किया जा सकेगा ? वर्तमान दशा में ऐसे अनेकों प्रयत्न चल रहे हैं। परन्तु उनसे प्राप्त अनुभवों से यह स्पष्ट हुआ है कि इस क्षेत्र पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं। इसी कारण शिक्षा-विशेषज्ञों का मत है कि सविधिक शिक्षा में ही सच्चे अर्थों में प्राण-प्रतिष्ठान किया जाना चाहिए।

सारांश

प्रस्तावना—मानव के विकास की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं। शिक्षा को भी हम इन चार भागों में समझ सकते हैं:—

(१) शिकारी मानव की शिक्षा।
(२) पशुपालक मानव की शिक्षा।
(३) किसान मानव की शिक्षा।
(४) कल-युगी मानव की शिक्षा।

प्रारम्भिक दो दशाओं में अविधिक शिक्षा का आधिपत्य एवं अन्तिम दो दशाओं में सविधिक शिक्षा का आधिपत्य—शिक्षा के दो स्वरूप :—

(अ) अविधिक शिक्षा।
(आ) सविधिक शिक्षा।

सविधिक शिक्षा और अविधिक शिक्षा दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं।

आज की समस्या—अविधिक शिक्षा पर नियन्त्रण सम्भव न होने से

सविधिक शिक्षा का क्षेत्र अधिक से अधिक विस्तृत किया जाने में ही समस्या का हल नजर आता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) मानवता के आदिकाल में मानव की शिक्षा का क्या स्वरूप था ?

(२) शिक्षा के तरीके में सामाजिक विकास किस प्रकार परिवर्तन लाता है ? सविस्तार उत्तर दीजिए।

(३) अविधिक शिक्षा के स्थान पर सविधिक शिक्षा की स्थापना की आवश्यकता क्योंकर महसूस हुई ? स्पष्ट कीजिए।

(४) सविधिक शिक्षा में कौन सा क्षेत्र सम्मिलित होता है ? सप्रमाण उत्तर दीजिए।

—:०:—

अध्याय २

राष्ट्र और शिक्षा

संसार के विभिन्न राष्ट्रों की शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि प्रत्येक राष्ट्र की जीवन प्रणाली के अनुसार ही वहाँ की अपनी शिक्षा-पद्धति होती है। इसी कारण एक राष्ट्र की शिक्षा का स्वरूप दूसरे राष्ट्र की शिक्षा के स्वरूप से भिन्न भी होता है। उदाहरणार्थ हम इंगलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस को लेते हैं।

(१) इंगलैंड—इस युग मे इंगलैंड बड़ा महत्वपूर्ण राष्ट्र रहा है। वहाँ बड़ी आदर्श परम्पराएँ रही हैं। वहाँ की शिक्षा प्राचीन होने के साथ-साथ प्रगतिवादी पहलुओं को भी अपनाने का प्रयत्न करती है। शिक्षा का केन्द्र बालक है। वे अध्ययन के एकीकरण को यह कहकर टाल देते हैं कि स्वयं अंग्रेजी ही एक महान् शक्ति है जो एकीकरण के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार वे विभिन्नता में ही एकता का दर्शन करते हैं फिर भी सारे राज्य में अनिवार्य शिक्षा समान है।

(२) संयुक्त राज्य अमेरिका—इंगलैंड से भिन्न संयुक्त राज्य अमेरिका एक नवीन राष्ट्र है। यहाँ की शिक्षा मे प्रगतिवाद का आधिपत्य है। बालक पर विचार समाज के दृष्टिकोण से किया जाता है। अध्ययन के एकीकरण पर बल दिया जाता है। परन्तु शिक्षा, संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न राज्यों का निजी क्षेत्र होने से सभी राज्यों में अनिवार्य शिक्षा की अवधि समान नहीं है।

(३) रूस—यह एक विस्तृत देश है जहाँ साम्यवादी शासन व्यवस्था है। लेनिन ने कहा है 'राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से रहित होकर शिक्षा के विषय में विचार करना निरर्थक है।' अतः वहाँ राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शिक्षा का उपयोग होना स्वाभाविक है। बालक के स्थान पर शिक्षा मे केन्द्र-बिन्दु समाज माना जाता है। पाठ्य-सामग्री में समानता होने पर भी अनिवार्य शिक्षा की अवधि में गाँव, कस्बे व शहरों मे अन्तर पाया जाता है।

उपरोक्त तीनों प्रमुख राष्ट्रों की शिक्षा मे भिन्नता है। परन्तु इस भिन्नता के अन्तस्तल में एक महान् एकता के भी दर्शन होते हैं और वह यह कि प्रत्येक राष्ट्र की शिक्षा केवल निम्न बिन्दुओं द्वारा ही निर्धारित की गई है :—

(१) भौगोलिक परिस्थिति।
(२) राजनैतिक परिस्थिति।
(३) सामाजिक परिस्थिति।
(४) आर्थिक परिस्थिति।
(५) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।

इन्हीं बिन्दुओं के प्रकाश के फलस्वरूप शिक्षा की विशेष प्रकार की व्यवस्था प्रत्येक देश में प्रचलित होती है। भारत की शिक्षा-व्यवस्था पर भी इन्हीं बिन्दुओं का प्रभाव स्पष्ट है।

(१) भौगोलिक परिस्थिति—भारत एक विशाल देश है जिसमें लाखों गाँव हैं। गाँवों के लोगों को शिक्षित करने की समस्या एक जटिल समस्या है। उनको शिक्षित करके नगर की ओर आकर्षित नहीं करना है, वरन् शिक्षा द्वारा उनके जीवन में सुधार करके उन्हें ग्रामोत्थान की ओर प्रेरित करना है। संसार की घटनाओं एवं परिस्थितियों से उन्हें जानकारी रहे एवं वे विचारों का आदान प्रदान लिखित रूप में भी कर सकें, इस दृष्टि से उन्हें साक्षर भी बनाना है। इन सभी बातों की योजना बनाते समय देश के विस्तार एवं भौगोलिक परिस्थितियों को सामने रखकर विचार करना होगा।

(२) राजनैतिक परिस्थिति—प्रत्येक प्रकार की शासन-व्यवस्था अपनी नींव को सुदृढ़ बनाने हेतु शिक्षा का आश्रय लेती है। एकतन्त्र में शिक्षा का सम्पूर्ण स्वरूप एकतन्त्र को स्थायी बनाने का प्रयास करता है। क्या पढ़ाया जाये, कैसे पढ़ाया जाये और किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पढ़ाया जाये इन सभी बिन्दुओं पर एकतन्त्र की छाप रहती है। जनतन्त्र में शिक्षा की रूपरेखा, एकतन्त्र से सर्वदा भिन्न होती है। एक में व्यक्ति का महत्त्व है, तो दूसरे में समाज का। जहाँ समाज एवं जनता का महत्त्व होता है वहाँ भी विभिन्न कारणों से विभिन्न प्रकार की जनतान्त्रिक शासन-प्रणाली चलती है। रूस, अमेरिका और इंगलैंड तीनों जनतन्त्री देश होने का दावा करते हैं। फिर भी उन तीनों की जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में भिन्नता है। इसी कारण उनकी शिक्षा का स्वरूप भी एक दूसरे से भिन्न है। भारत में अंग्रेजों के समय में जो सेवक एवं कर्मचारी बनाने की शिक्षा थी, स्वतन्त्रता के पश्चात् वह अधूरी, एवं अयोग्य सिद्ध हुई। यद्यपि भारत सन् १९४७ में स्वतन्त्र हुआ, फिर भी स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के स्वरूप पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में सन् १९३७ से ही विचार-विनिमय शुरू हो गया था। आज हम देखते हैं कि बुनियादी तालीम अंग्रेजी राज्य की शिक्षा-व्यवस्था की उत्तराधिकारी के रूप में विकसित एवं विस्तृत होती जा रही है।

(३) सामाजिक परिस्थिति—रेडिन के मतानुसार "शिक्षा द्वारा हम उन अनुभूतियों तथा नियमबद्ध प्रभावों को प्राप्त करते हैं, जिनको समाज का वयस्क वर्ग जानबूझ कर आदर्श तथा अनुशासन द्वारा तरुण वर्ग पर इसलिए डालता है कि बालक की सब शक्तियों का विकास हो तथा व्यक्ति अपने समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो।" इस कथन में दो बिन्दु विचारणीय हैं। प्रथम है अनुभूति तथा नियमबद्ध प्रभाव और दूसरा है आदर्श। एक स्पष्ट करता है कि हम क्या हैं और दूसरा प्रदर्शित करता है कि हमें कहाँ पहुँचना है? एक ओर है वर्तमान सामाजिक जीवन के करने योग्य मूल्य दूसरी ओर है आदर्श समाज की वह कल्पना जिसे भावी

समाज में साकार होते हुए देखना है। इसी भावना के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के समाज की छाप, वहाँ की शिक्षा पर होने के साथ-साथ उसमें ऐसे आदर्शों का समावेश भी होता है, जिनको वह भावी समाज में साकार होते हुए देखना चाहता है। इस पृष्ठभूमि द्वारा हम बुनियादी तालीम पर दृष्टि डालें तो, स्पष्ट होता है कि जिस वर्गहीन समाज की कल्पना राष्ट्र के सामने है उसी आदर्श की पूर्ति की दृष्टि से इसमें भी कुछ प्रमुख तत्वों का समावेश किया गया है। इसी के साथ भारत के जन-जीवन का वास्तविक प्रतिनिधित्व गाँव करते हैं। उनसे शिक्षा का मेल बैठ सके ऐसा भी प्रयत्न स्पष्ट है।

(४) आर्थिक परिस्थिति—एक ओर जहाँ राष्ट्र की आर्थिक परिस्थिति का शिक्षा के स्वरूप को निश्चित करने में भारी हाथ रहता है वहाँ दूसरी ओर शिक्षा का स्वरूप भी राष्ट्र की आर्थिक परिस्थिति पर प्रभाव डालने की शक्ति रखता है। जापान के आर्थिक विकास मे वहाँ की व्यावसायिक शिक्षा का भारी हाथ है। उसमें भी आवश्यकता के अनुसार ही निश्चित कार्य के लिए निश्चित प्रकार के कार्यकर्ता तैयार करने की व्यवस्था है। भारत को इस दिशा मे बहुत प्रगति करनी है। सन् १९३७ में जब बुनियादी तालीम का जन्म हुआ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सामने आर्थिक समस्या बड़ी विकट थी। उन प्रांतों मे जहाँ कांग्रेस मन्त्रिमण्डल थे शराब-बन्दी की योजना को कार्यान्वित करना था। राज्य की आय कम होने के आसार थे। दूसरी ओर असंख्य ग्रामीण जनता की शिक्षा के लिए अतिरिक्त रुपया चाहिए था। ऐसी दशा में जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ हो उसकी मूल योजना निश्चित ही ऐसी होनी चाहिए थी जो कम खर्चीली हो। महात्माजी तो इससे भी एक कदम आगे थे। वे कहते हैं "अगर शिक्षा के प्रचार के लिए हम केवल धन पर ही निर्भर रहेंगे तो एक निश्चित समय के अन्दर राष्ट्र से अपने फर्ज को अदा करने की आशा हम कभी कर ही नहीं सकते। इसलिए मैंने यह सुझाने का साहस किया है कि शिक्षा को हमें स्वावलम्बी बना देना चाहिए, फिर चाहे लोग भले ही मुझे यह कहें कि मेरे अन्दर किसी रचनात्मक कार्य की योग्यता नहीं है।"

(५) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—प्रत्येक राष्ट्र की शिक्षा-प्रणाली की बुनियाद में कोई मूलभूत आदर्श होता है जो उसके सभी अंगों पर छाया रहता है। इस आदर्श को वहाँ की संस्कृति निश्चित करती है। भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र को राम, बुद्ध और अशोक-जैसे महापुरुषों ने प्रकाशित किया है। समय-समय पर इस संस्कृति में जिन मूल्यों का समावेश हुआ उनमें सत्य और अहिंसा प्रमुख हैं। महात्मा गांधी के दर्शन में तो 'सत्य' को ही सर्वोच्च सिद्धान्त माना गया है। इसी सिद्धान्त का क्रियात्मक पक्ष उन्होंने 'अहिंसा' को माना था। यदि 'सत्य' की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है तो उसका मार्ग अहिंसा है। अहिंसा गांधीयुग के पूर्व वैयक्तिक एवं धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित थी। परन्तु महात्मा गांधी ने इसका क्षेत्र विस्तृत कर इसका प्रयोग राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र मे किया एवं भारत में

सृजन था जो कि उस समय के निवासियों तथा देवताओं के बीच मध्यस्थ थे। इस समय विद्या-अध्ययन भी ब्राह्मणों का प्रमुख कर्म था। बालक घर मे रहता था और घर के प्रत्येक कार्य में बचपन से ही भाग लेता था, न केवल उन्हीं में वरन् उन सभी जातीय आयोजनों में भी, जो समाज के सब लोग मिल-जुल कर करते थे। उदाहरणार्थ यज्ञ आदि तमाम आयोजनों मे भाग लेते-लेते बालक सब कुछ सीख जाता था। उसे यह पता था कि अमुक त्यौहार पर क्या करना पड़ता है या अमुक अवसर पर कौन से मन्त्रों का उच्चारण होना है। इस वर्ण-व्यवस्था में विभाजित समाज में पिता के साथ रहते हुए बालक के शिक्षित होने की व्यवस्था थी, ऐसी शिक्षा को हमने अविधिक शिक्षा कहा है। इस समय मे ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक ग्रंथों का पठन-पाठन ही शिक्षा का स्वरूप था।

(३) मौर्य एवं गुप्त काल—(पौराणिक युग के पश्चात् मुस्लिम युग के पूर्व) समाज के विकास और नई समस्याएँ पैदा होने के कारण समाज की जीवन-प्रणाली अब उतनी सरल नहीं रहीं। आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तन ने जीवन के मूल्यों को परिवर्तित कर दिया था। इसी युग मे राम और कृष्ण का जन्म हुआ था। राम को राज-ऋषि विश्वामित्र द्वारा शिक्षा एवं यज्ञ की रक्षा हेतु मांगना और दशरथ का अपने प्रिय पुत्रों के प्रति अगाध प्रेम होने पर भी देने से इंकार न कर सकना यह स्पष्ट करता है कि गुरुओं का समाज मे बड़ा ऊँचा स्थान था और शिक्षा आश्रमों में दी जाती थी। इस युग मे सविधिक शिक्षा का प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु बालक को शिक्षित होने मे अविधिक शिक्षा का भी प्रभाव पर्याप्त होता था। बालक अब पिता के बजाय गुरु के आचरण से प्रभावित होने लगा था। गुरु संदीपन के आश्रम में जाकर कृष्ण के विद्याध्ययन की कथा भी सर्वविदित है। आश्रम का विकसित स्वरूप आगे जाकर गुरुकुल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस काल मे जनसाधारण की शिक्षा की दृष्टि से मन्दिरों में गुरु या पुजारी द्वारा गाँव के बच्चों को पढ़ाने की व्यवस्था थी। उन्हें जीवन-यापन की आवश्यक सामग्री प्रत्येक कुटुम्ब से भेंटस्वरूप प्राप्त होती थी। यही उनका वेतन था।

(४) मुस्लिमकाल—भारतीय राजनैतिक जीवन में एक बड़ा उथल-पुथल इस समय आया। इसी समय यहाँ पर एक नये धर्म और एक नई भाषा का प्रारम्भ भी हुआ। फिर भी पुरानी शिक्षा-व्यवस्था वैसे ही चलती रही। मुल्ला-मौलवियों द्वारा चलाये जाने वाले कुछ मकतब व मदरसे अवश्य शुरू हुए जो मन्दिरों की बजाय मस्जिदों में चलते थे। पाठ्य-सामग्री की दृष्टि से मुसलमान धर्म की पुस्तकों का प्रयोग होता था।

(५) अंग्रेजी काल—इस युग में लार्ड मेकाले की योजना के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति प्रारम्भ हुई। इसका मूलमन्त्र यह था कि शिक्षा-रूपी स्रोत पहले उच्च वर्ग पर गिरे और उसके पश्चात् तो यह स्रोत निश्चित ही निम्न वर्ग तक पहुँच जावेगा। यह एक ऐसा वर्ग तैयार करने की योजना थी जो शरीर से पूर्वीय हो परन्तु

विचारधारा से पूरी तरह पश्चिमी हो। यह योजना सफल हुई और शिक्षित वर्ग अपने घर, कुटुम्ब, गाँव और संस्कृति से दूर होता गया और समाज में विषमता बढ़ती गई।

(६) आधुनिक काल—उपरोक्त विषमता की वृद्धि के फलस्वरूप हमारे समाज में जो दोष पैदा हुए उनका विस्तृत विवेचन अगले पृष्ठों में होगा परन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उस पुरानी शासन एवं शिक्षा-पद्धति के प्रति विद्रोह के रूप में ही बुनियादी शिक्षा-पद्धति समाने आई। वह शिक्षा जो कर्म-रहित ज्ञान को महत्व देती थी, जिसे शारीरिक श्रम से घृणा थी और जिसमें ऊँच-नीच की भावना घुसी हुई थी, जिसमें केवल मस्तिष्क एवं बुद्धि का शासन था, उसके स्थान पर राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने बुनियादी तालीम को राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में स्थापित किया। उन्होंने कहा था—"मस्तिष्क की भाँति हमारे हाथों में भी तो कला-कौशल का निवास है। लम्बे अर्से से निष्क्रिय बुद्धि को ईश्वर समझकर हम उसकी पूजा करते आये हैं। उसने हम पर बड़ा जुल्म किया है, वह हमारी शासिका और स्वामिनी रही है, हमारी नवीन समाज-रचना में बुद्धि हमारे अनेक सेवकों में से एक होगी।"

अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक राष्ट्र की शिक्षा-प्रणाली वहाँ की परिस्थितियों के आधार पर एक विशेष प्रकार का स्वरूप ग्रहण करती है। परन्तु राष्ट्रीय जीवन में जो परिवर्तन आते रहते हैं वे शिक्षा को प्रभावित किये बिना नहीं रहते। फिर भी शिक्षा, राष्ट्रीय जीवन को उन्नत करने का सतत प्रयत्न करती रहती है। इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

सारांश

इंगलैंड की शिक्षा—परम्परा एवं प्रगतिवाद से सम्मिलित शिक्षा।

संयुक्त राज्य अमेरिका—प्रगतिवादी शिक्षा।

रूस—राजनैतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूरक शिक्षा।

उपरोक्त विरोध में जो एकता है वह यह कि प्रत्येक राष्ट्र की शिक्षा निम्न परिस्थितियों से प्रभावित होती है—भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक।

भारतीय शिक्षा का उपरोक्त परिस्थितियों से प्रभावित होकर पूर्व-ऐतिहासिक काल से आज तक के विकास का निम्नलिखित भागों में विभाजन किया जा सकता है :—

(१) ऐतिहासिक काल।

(२) वैदिक एवं पौराणिक काल।

(३) मौर्य एवं गुप्त काल (पौराणिक काल के पश्चात् और मुस्लिम युग के पूर्व तक)।

(४) मुस्लिम काल।

(५) अंग्रेजी काल।

(६) आधुनिक काल एवं बुनियादी शिक्षा की स्थापना।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) किसी राज्य की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ उस देश की शिक्षा के ढाँचे को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

(२) "प्रत्येक शासन-व्यवस्था अपनी नींव को सुदृढ़ करने हेतु अपने अनुकूल शिक्षा-पद्धति को जन्म देती है।" उपरोक्त कथन की पुष्टि कीजिये।

(३) प्रत्येक का महत्त्व स्पष्ट करते हुए उन सभी बिन्दुओं पर प्रकाश डालिए जो किसी राष्ट्र की शिक्षा को प्रभावित करते हैं।

(४) "वर्धा शिक्षा योजना हमारी राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा की सर्वश्रेष्ठ योजना है।" इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

—:०:—

शिक्षा के अर्थ

शब्दार्थ—हमारे प्राचीन साहित्य में 'शिक्षा' वेदांगों में से एक का नाम है। इसमें वेदों के वर्ण, स्वर, मात्रा आदि का विवेचन किया गया है। 'शिक्ष' शब्द से 'शिक्षा' शब्द का निर्माण हुआ है। 'शिक्ष' का अर्थ है ज्ञान प्राप्त करना एवं विद्या ग्रहण करना। अतः शिक्षा एक प्रक्रिया है। एक जड़ वस्तु नहीं है। शिक्षक और शिक्षार्थियों के बीच विचारों का आदान-प्रदान शिक्षण-कार्य में लगातार चलता रहता है।

शिक्षा को अंग्रेजी भाषा में 'एडूकेशन' (Education) कहते हैं। इस शब्द का *निर्माण लैटिन शब्द 'एडूकेटम' (Educatum) से हुआ है। 'एडूकेटम' का अर्थ 'शिक्षित* करना' है। इसी शब्द के विस्तृत विवेचन से स्पष्ट होता है—'ए' (A) का अर्थ है 'अन्दर से' और 'डूको' (Duco) का अर्थ है 'आगे की ओर बढ़ना' एवं 'अग्रगति देना'। इस प्रकार शिक्षा का शाब्दिक अर्थ है 'अन्तः शक्तियों को बाहर की ओर विकसित करना'।

परिभाषा—शिक्षा देने एवं प्राप्त करने के कार्य का प्रारम्भ तभी से माना जाता है जब से ससार में प्राणियों का अस्तित्व माना जाता है। इस कार्य के इतने पुराने होने के कारण ही अनेकों दार्शनिकों ने इस समस्या पर विचार किया है और अपने-अपने ढग से इसका अर्थ समाज के सामने रखा है। एक अर्थ दूसरे अर्थ से किसी-*न-किसी रूप में भिन्नता लिए हुए अवश्य होता है। कारण भी स्पष्ट है।* जब एक दार्शनिक किसी एक पहलू पर अधिक बल देता है और उसके दुष्परिणाम समाज के सामने आते हैं तो उसका मूल सुधार होना आवश्यक हो जाता है। दूसरा दार्शनिक उस मूल सुधार के हेतु जब अपना अर्थ निकालता है तो उसकी भी वही गति होती है। यह दशा ठीक वैसी ही है जैसी कि एक साइकिल सवार की जिसकी साइकिल का हैन्डिल तेजी में किसी एक ओर घूम गया है। वह उसे संतुलित करने को जब दूसरी ओर तेजी से मोड़ देता है तो फल यह होता है कि वह दूसरी ओर भी आवश्यकता से अधिक घूम जाता है फिर भूल सुधार की आवश्यकता सामने आ खड़ी होती है। साइकिल जिस मार्ग पर चलती है उस मार्ग में तो साधारणतः बार-बार परिवर्तन *नहीं आता, परन्तु शिक्षा-रूपी गाड़ी जिस समाज-रूपी सड़क* पर चल रही है उसकी परिस्थितियाँ तो जल्दी-जल्दी बदलती हैं। अतः यह भी तो सम्भव है कि मार्ग की निश्चित स्थितियों को देखकर गाड़ी को गति दे देने के थोड़ी देर पश्चात् ही यह अनुभव होगा कि मार्ग की स्थितियों में परिवर्तन आ गया है। अतः समाज में जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं के साथ-साथ शिक्षा के अर्थ के पुनः निर्माण की भी आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक ही है।

शिक्षा के अर्थ

शिक्षा की परिभाषा पर व्यक्त किये गये विचार इस प्रकार है :—

प्राचीन भारतीय शिक्षा विशेषज्ञो ने 'ब्रह्मगति' की प्राप्ति के साधन को शिक्षा कहा है। अरस्तू के मतानुसार "प्रत्येक मनुष्य को सद्गुणी समाज मे सद् जीवन व्यतीत कर, उच्चकोटि के आनन्द को प्राप्त करने मे सहायता देना ही शि है।" अरस्तू ने एक दूसरे स्थान पर "स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन का निर्माण कर ही शिक्षा माना है। रूसो के मतानुसार "शिक्षा जीवन है और उसका उद्देश्य व्यक्ति का उत्कर्ष करना है।" सुप्रसिद्ध शिक्षा-विचारक पेस्तलाजी के मतानुसार "शि मनुष्य की समस्त शक्तियों का स्वाभाविक, प्रगतिशील और विरोधहीन विकास है

स्पेन्सर ने कहा है "मनुष्य के भीतर और बाहर समन्वय स्थापित करना शिक्षा है।" टी० रेमट के मतानुसार "शिक्षा के हम उन विशेष प्रभावों को समझ जिनको समाज का वयस्क वर्ग जान-बूझकर निश्चित योजना द्वारा अपने से पर तथा तरुण वर्ग पर डालता है।" जी० एच० टाम्सन की परिभाषानुसार "व वरण के जिन प्रभावों के कारण मनुष्य के भावों, व्यवहारों तथा विचारो मे स्थ परिवर्तन होता है उसी को शिक्षा कहते हैं।" माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी स्पेन्सर रि में शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। उसके अनुसार "शि अभ्यास, स्मृति भाव, शारीरिक तथा मानसिक चातुर्य, बौद्धिक अभिव्यंजना, नै आदर्श तथा तथ्य एवं सार, साथ ही रीति के ज्ञान के सम्यक् विकास को शिक्षा गया है।" एक अन्य दार्शनिक के कथनानुसार—"शिक्षा वह साधन है जि परिस्थितियों तथा वातावरण पर विजय प्राप्त की जाती है और एक नए वाताव की रचना की जाती है।" स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार—"मनुष्य की अन्तर्नि पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।" प्रसिद्ध शिक्षा-विचारक डीवी शिक्षा एक प्रक्रिया मानते हुए कहते हैं कि इस प्रक्रिया के दो अंग हैं। एक मनोवैज्ञानिक जिसका आधार छात्रों की मूल प्रवृत्तियों तथा शक्तियों का अध्ययन करना है, जि शिक्षण सुव्यवस्थित हो जाता है। दूसरा सामाजिक है, जिसके विषय में उनका कथन "जातीय सामाजिक जीवन में क्रियाशील होकर ही मनुष्य शिक्षा ग्रहण कर स है। जन्म से ही जातीय भावना का प्रभाव मनुष्य के जीवन तथा व्यक्तित्व पर अज्ञ रूप से पड़ता है, और इसी से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। एक व्यक्ति समाज के लिए होता है जिसमें वह जन्मा है, पला है और बड़ा हुआ है और कारण उस समाज के सिद्धान्तों, रीति-रिवाजों और देशकाल के अनुरूप उसका वि करना ही सच्ची शिक्षा है।" सन् १९३७ मे 'आलोचनाओं का जवाब' नामक लेख अन्तर्गत महात्मा गांधी ने हरिजन में लिखा है—"शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे मनुष्य की तमाम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विक अक्षर-ज्ञान न तो शिक्षा का आरम्भ है और न अंतिम लक्ष्य। वह तो उन अनेक उप में से एक है जिनके द्वारा स्त्री-पुरुषों को शिक्षित किया जा सकता है। फिर अक्षर- को शिक्षा कहना गलत है।"

अक्षर-ज्ञान शिक्षा नहीं साधन है—शिक्षा की परिभाषा संक्षेप में देने के पश्चात् हमारे लिए किसी एक सर्वमान्य परिभाषा पर पहुँच जाना कठिन हो जाता है। फिर भी वर्तमान दशा में राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में बुनियादी तालीम को स्वीकार कर लेने के पश्चात् भारत ने एक प्रकार से महात्मा गांधी की शिक्षा की परिभाषा को स्वीकार कर लिया है। उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाएँ जहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करती हैं कि शिक्षा केवल लिखने-पढ़ने तक ही सीमित नहीं है, वहाँ महात्मा गांधी की परिभाषा ने स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट यह कहकर कर दिया है कि अक्षर-ज्ञान शिक्षा नहीं वह तो अनेकों साधनों में से एक है जिनके द्वारा हम भावी नागरिकों को शिक्षित करना चाहते हैं।

शिक्षा के दो अर्थ—हमने अभी विभिन्न शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा व्यक्त शिक्षा की कुछ परिभाषाओं पर विचार किया है। इन सब में दार्शनिकों के अपने-अपने आदर्श निहित हैं। कई शिक्षा-विशेषज्ञ शिक्षा को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रक्रिया के दो अंग एवं पहलू हैं, एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा सामाजिक। ये ही दो अंग शिक्षा के संकुचित और व्यापक अर्थ की आधार-भूमि तैयार करते हैं :—

शिक्षा-प्रक्रिया

१. मनोवैज्ञानिक पक्ष	सामाजिक पक्ष
२. संकुचित शिक्षा	व्यापक शिक्षा
३. नियंत्रित शिक्षा	अनियंत्रित शिक्षा
४. सविधिक शिक्षा	अविधिक शिक्षा
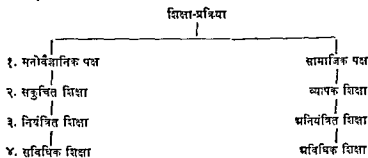
शिक्षा का व्यापक अर्थ—इस अर्थ के अनुसार मनुष्य की शिक्षा का कार्य जीवन-भर चलता रहता है। उसका सारा जीवन ही शिक्षा-काल है और सम्पूर्ण समाज उसकी पाठशाला। जितने लोग बालक के सम्पर्क में आते हैं वे सभी उसे शिक्षा देते हैं। इतना ही नहीं मूक प्रकृति भी उसे अनेक प्रकार से शिक्षा देती रहती है। इस प्रकार की शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है। इसी विकास के बल पर मानव अपनी अनेकानेक समस्याओं को सुलझाता हुआ अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। इस शिक्षा के बिना मानव जीवन में सफल नहीं हो सकता। इस व्यापक अर्थ के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक भी है और शिक्षार्थी भी। वह दोनों कार्य करता है। वह सीखता हुआ एवं सिखाता हुआ जीवन में आगे बढ़ता है।

शिक्षा का संकुचित अर्थ—इस विषय में टी रेमंट की परिभाषा यहाँ एक बार और भी उद्धृत की जानी चाहिए—"शिक्षा से हम उन विशेष प्रभावों को समझते हैं

जिनको समाज का वयस्क वर्ग जान-बूझकर निश्चित योजना द्वारा अपने से छोटों पर तथा तरुण-वर्ग पर डालता है।" ऐसी शिक्षा विद्यालय में कुछ वर्षों तक ही चल सकती है। यहाँ शिक्षक इस कार्य के प्रति उत्तरदायी होता है। शिक्षा का जो व्यापक अर्थ है उसके मूल्य को स्वीकार करते हुए भी, यह कठिनाई है कि इस क्षेत्र को सतत प्रयत्न के पश्चात् भी नियंत्रित नहीं किया जा सका है। इसी कारण भविष्य में शिक्षा के विषय में विवेचन के समय हम संकुचित अर्थ को ही आधार मानेंगे। यही वह क्षेत्र है जिसके द्वारा बच्चों का नियन्त्रित विकास सम्भव है।

शिक्षा के व्यापक अर्थ वाले पक्ष को शिक्षा विशेषज्ञ अनियंत्रित अथवा अविधिक शिक्षा भी कहकर सम्बोधित करते हैं और संकुचित अर्थ वाले पक्ष को नियंत्रित अथवा सविधिक शिक्षा कहते हैं। शिक्षा के अविधिक और सविधिक विभाजन पर इससे पूर्व विवेचन किया जा चुका है।

सारांश

प्राचीन साहित्य के अनुसार शिक्षा का शाब्दार्थ है ज्ञान प्राप्त करना और अंग्रेजी भाषा में 'एडूकेशन' (Education) का अर्थ है अन्तः शक्तियों को बाहर की ओर विकसित करना।

शिक्षा-विशेषज्ञों ने शिक्षा की अनेक परिभाषाओं की समय-समय पर रचना की है परन्तु भारत के लिए महात्मा गांधी की शिक्षा की परिभाषा ही मान्य समझी जानी चाहिए। "शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे की तमाम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास।"

शिक्षा के मनोवैज्ञानिक पक्ष को संकुचित, नियन्त्रित एवं सविधिक शिक्षा और सामाजिक पक्ष को व्यापक, अनियंत्रित एवं अविधिक शिक्षा कहते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) शिक्षा के विभिन्न अर्थों का विवेचन कीजिये और यह प्रमाणित कीजिए कि किस प्रकार से एक अर्थ दूसरे अर्थ का पूरक है?

(२) वर्तमान शिक्षा विशारदों ने शिक्षा का क्या अर्थ दिया है और वह आज की परिस्थितियों के अनुसार कहाँ तक उपयुक्त है?

(३) "शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की तमाम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास।" उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(४) महात्मा जी ने कहा है—"अक्षर-ज्ञान न तो शिक्षा का आरम्भ है और न अन्तिम लक्ष्य। वह तो अनेक उपायों में से एक है। जिसके द्वारा स्त्री पुरुषों को शिक्षित किया जा सकता है। फिर सिर्फ अक्षर-ज्ञान को शिक्षा कहना गलत है।" उपरोक्त कथन पर आप अपनी सम्मति व्यक्त कीजिये।

—:०:—

शिक्षा के उद्देश्य

प्रस्तावना—मानव की समस्त गतिविधियों का संचालन किसी निश्चित उद्देश्यरूपी केन्द्रबिन्दु के इर्द-गिर्द होता है। यही दशा शिक्षा की भी है। उन व्यक्तियों को जिन पर शिक्षा-यन्त्र चलाने की जिम्मेदारी हो यह स्पष्ट होना चाहिए कि आखिर यह सब है किस लिए? किन उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु यह सब कुछ किया जा रहा है? कार्य पूर्ण होने पर क्या-क्या परिणाम सामने आने वाले हैं? इन प्रश्नों का उत्तर हमारे सामने होना जरूरी है। इसी कारण हमें शिक्षा के उद्देश्य की आवश्यकता अनुभव होती है। शिक्षण-कार्य अनन्तकाल से प्रारम्भ हुआ और लगातार चलता रहेगा। समय-समय पर भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने इसके अलग-अलग उद्देश्य माने हैं। इसके पूर्व कि हम उन उद्देश्यों पर विवेचन प्रारम्भ करें, हमें यह स्पष्ट होना चाहिये कि शिक्षा विशारदों द्वारा अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण, देशकाल और परिस्थितियों के आधार पर उद्देश्य के विषय में निर्णय होते रहे हैं। किसी एक शिक्षा विशारद ने किसी एक अङ्ग पर अधिक बल दिया और उसके दुष्परिणाम जब सामने आये तो दूसरे ने प्रतिक्रियास्वरूप दूसरे अङ्ग को आवश्यकता से अधिक महत्व देकर पूर्व अङ्ग को न्यायपूर्ण अधिकार से भी वंचित कर दिया। इसी कारण हम देखते हैं कि अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा व्यक्त उद्देश्यों में एकांगीपन एवं भिन्नता है। इसका संक्षिप्त विवेचन आगामी पृष्ठों में किया जावेगा।

जीविकोपार्जन—मानव को जीवित रहने के लिए तीन बुनियादी आवश्यकताओं (कपड़ा, भोजन, एवं शरण स्थान) की पूर्ति करनी पड़ती है। शिक्षा का उद्देश्य बालक को इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के योग्य बनाना है। ऐसा होने पर ही वह अपने जीवन को जीने योग्य बना सकेगा। जीविकोपार्जन की योग्यता मानव के जीवन में आवश्यक है। रोटी का प्रश्न आज का प्रमुख प्रश्न है। जो शिक्षा रोटी के सवाल को हल कर सकती है वह मानव एवं समाज की एक बड़ी जरूरत की पूर्ति करती है। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि जीवन-हेतु भोजन है या भोजन-हेतु जीवन। उत्तर सरल है *'जीवन हेतु भोजन है' अर्थात् मानव जीवित* रहने के उद्देश्य से ही भोजन करता है। यदि शिक्षा का उद्देश्य उदरपूर्ति तक ही सीमित कर लिया जाय तो जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति करना कौन सिखाएगा? भोजन कर लेने मात्र ही से तो जीवन की क्रिया और उसकी सफलता समाप्त नहीं हो जाती। शिक्षा का जीविकोपार्जन का उद्देश्य जीवन की सफलता की अवहेलना करता है। अतः यह उद्देश्य एकांगी है।

सामाजिकता का विकास—समाज व्यक्तियों का एक समूह है और व्यक्ति

समाज की इकाई है। अनेकों व्यक्ति मिलकर समाज का निर्माण करते हैं। समाज का उपयोगी एवं कल्याणकारी अङ्ग बनने हेतु व्यक्ति का शिक्षण होना जरूरी है। इस उद्देश्य के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व का कोई महत्व नहीं माना जाता। उसे अपना व्यक्तित्व समाज के विकास के हेतु समाज को समर्पित कर देना पड़ता है। यद्यपि समाज का निर्माण व्यक्तियों के द्वारा ही होता है फिर भी व्यक्तियों के अपने अनुकूल विकास का यहाँ कोई महत्व नहीं, व्यक्ति को समाज से हीन मानकर उसके विकास की अवहेलना की जाती है। यह उद्देश्य वास्तव में उपयुक्त नहीं। व्यक्ति का अपने गुणों और रुचियों के अनुकूल स्वतन्त्र विकास होगा तभी वह समाज के लिये अधिक लाभकारी प्रमाणित होगा और समाज का सुधार हो सकेगा। प्रत्येक देश में महापुरुषों ने समाज का समय-समय पर जीर्णोद्धार किया है। महात्मा गांधी भी एक ऐसे ही महापुरुष थे। ऐसे महापुरुषों के प्रादुर्भाव की दृष्टि से व्यक्तिगत विकास को समाज में पर्याप्त अवसर मिलना जरूरी है। सामाजिकता के विकास का उद्देश्य वैयक्तिक विकास से मेल नहीं खाती। अतः यह उद्देश्य भी अपूर्ण है।

व्यक्तित्व का विकास—मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। एक की रुचि, इच्छा, गुण, सीमा और योग्यता दूसरे के समान नहीं होती। इसी कारण यह आवश्यक है कि शिक्षक प्रत्येक बालक की रुचि योग्यता एवं ग्रहण-शक्ति का अध्ययन करे और उसकी प्रकृति के अनुकूल उसे शिक्षा दे। अगर वह कला में निपुण होने की योग्यता रखता है तो उसे कला की ओर उसे विज्ञान में रुचि है तो उसे विज्ञान की शिक्षा देनी चाहिये। इस उद्देश्य के समर्थक शिक्षा-शास्त्रियों ने व्यक्ति को समाज से अधिक महत्व दिया है। जब व्यक्ति को समाज से भी ऊपर मानना शुरू होता है तो व्यक्ति का अहम् जागृत होकर वह अहंकारी बन जाता है। यह अपने व्यक्तित्व को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से समाज की परम्पराओं व संस्कृति को भी हानि पहुँचाने मे नहीं चूकता। समाज का शत्रु बन जाता है। हिटलर व मुसोलिनी का व्यक्तित्व इसी श्रेणी में आता है। इस प्रकार की भावना अगर विकसित होने दी जावे तो मानव में सामाजिक उत्तरदायित्व एवं दया की भावना का अन्त हो सकता है। इसी कारण शिक्षा का यह उद्देश्य भी अपूर्ण एवं एकांगी माना जाता है।

बौद्धिक विकास—आज की शिक्षा का उद्देश्य बालक का बौद्धिक विकास करना है। उसे अनेकों सूचनाएँ एवं पुस्तकों का ज्ञान दिया जाकर पूर्ण रूपेण बौद्धिक प्राणी बनाने का यत्न किया जाता है। उसमें ज्ञान तो संचित हो जाता है, परन्तु उसके उपयोग की मौलिकता का उसमें अभाव रह जाता है। उस ज्ञान को वह जीवन के, एवं समाज के निर्माण-पक्ष के लिए काम में लावे या विध्वंसात्मक पक्ष के लिए काम मे लावे इस विषय में उसे वर्तमान शिक्षा प्रशिक्षण नहीं दे पाती। आज न्यायालय में जब सत्य को असत्य चुनौती देता है, आज का वकील साधारणतः सत्य के पक्ष में खड़ा होकर उसे सत्य प्रमाणित करने को उतना गौरवपूर्ण नहीं समझता जितना गौरवपूर्ण वह असत्य के पक्ष में खड़ा होकर, असत्य को सत्य प्रमाणित करने

के काम को मानता है। इस दृष्टिकोण से नित्यप्रति वह सत्य का गला घोटता है फिर भी समाज में आदर पाता है। यही अन्य उद्योग एवं व्यवसाय में लगे हुए लोगों की भी दशा है। यही आज की शिक्षा का दोष है। इसी कारण तो बार-बार बापू जी यह दुहराया करते थे कि हमें बुद्धि को शिक्षित करने के अतिरिक्त हृदय एवं मन को भी शिक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस दृष्टि से केवल बौद्धिक विकास भी शिक्षा का एकांगी उद्देश्य है।

सांस्कृतिक विकास—'संस्कृति' शब्द के अलग-अलग लोगों ने अवसर-अवसर पर स्वार्थ प्रेरित होकर अलग-अलग अर्थ लगाये हैं। संस्कृति से एक व्यक्ति जो अर्थ लेता है वह दूसरा नहीं। एक स्थान पर अगर संस्कृति के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति को महत्वपूर्ण माना जाता है तो दूसरे स्थान पर संस्कृत व्यक्ति का अर्थ संस्कृत भाषा के जानकार से लगाया जाता है। आज संस्कृति से अर्थ आमोद-प्रमोद से लिया जाता है। वास्तविक दृष्टि से देखा जावे तो संस्कृत का अर्थ है परिष्कृत। इस दृष्टि से संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वयं का गुण है। यह इसका व्यक्तिगत पहलू है। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों की संस्कृति के समान तत्वों को मिलाकर सस्कृति का सामूहिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्वरूप निश्चित किया जाता है। संस्कृति का व्यक्तिगत एवं सामाजिक, कैसा भी स्वरूप लिया जावे परन्तु उसका समाज के लिये कल्याणकारी होना जरूरी है। किसी भी व्यक्ति के सास्कृतिक विचार एवं व्यवहार उसी दशा में प्रशंसा के पात्र माने जावेंगे, जबकि वे दूसरों के लिये कल्याणकारी होंगे और तभी उन्हें शिक्षा का स्थान दिया जा सकता है। समय के परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृति का स्वरूप भी बदलता रहता है। अतः शिक्षा को बदलते हुए सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति उदार रहते हुए, बालकों को अपने सास्कृतिक विचार एवं व्यवहार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देनी चाहिये। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि जीवन में सास्कृतिक उन्नति ही पर्याप्त है या कुछ दूसरे भी अंग हैं जिनके विकसित किये बिना काम नहीं चल सकता। ऐसी दशा में व्यावसायिक, चारित्रिक एवं सामाजिक आदि अनेक पहलू सामने आते हैं। इससे यह अनुभव होता है कि केवल सांस्कृतिक उन्नति जीवन को अपूर्ण रख देती है और वह पूर्णता की ओर अग्रसर हो, इस हेतु कुछ अन्य उद्देश्यों का भी इसमें सामंजस्य होना चाहिये। इस प्रकार सांस्कृतिक उन्नति का उद्देश्य भी अधूरा है।

जीवन की सम्पूर्णता—प्लेटो के अनुसार सद्व्यक्ति वही है जो जनतन्त्र का सुयोग्य नागरिक हो। शिक्षा का कार्य है सद्व्यक्तियों का निर्माण करना, जो सफल जीवन-यापन की उच्चतम कला में निपुण हों। अपने व्यवसाय में निपुण होने पर भी व्यक्ति मानवता से रहित हो सकता है। ऐसे व्यक्तियों को मानवता एवं जीवन की पूर्णता के लिए शिक्षित करना पड़ता है। शिक्षा विशेषज्ञ स्पेन्सर तो इस विषय में प्लेटो से भी आगे हैं। उनके अनुसार जीवन की सम्पूर्ण एवं समस्त क्रियाओं को चार भागों में बांटा जाता है :—

(अ) जीवन-सुरक्षा। (आ) संतान-रक्षा। (इ) समाज-रक्षा। (ई) अवकाश का उपयोग।

इन्हीं चार कार्यों में से किसी एक में मानव प्रत्येक क्षण लगा रहता है। शिक्षा का कार्य यह है कि वह उपरोक्त कार्यों को सफलतापूर्वक करने की क्षमता व्यक्ति में उत्पन्न कर, उसे जीवन की सम्पूर्णता की ओर अग्रसर करे।

इस उद्देश्य के अन्तर्गत नैतिक आदर्शों का बहिष्कार किया जाता है और साहित्य और कला को पर्याप्त महत्व नहीं दिया जाता। शारीरिक रक्षा के साथ मन एवं हृदय के शिक्षित करने के अवसर की अवहेलना की गई है, और बालक की रुचि पर भी ध्यान नहीं दिया गया है।

एक कठिनाई यहाँ यह भी है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न बातों में जीवन की पूर्णता मानते हैं। यह पूर्णता व्यक्ति की अपनी दार्शनिक विचार-धारा पर आधारित होती है। एक के जीवन की सम्पूर्णता दूसरे के जीवन की सम्पूर्णता के विपरीत भी हो सकती है। जीवन की सम्पूर्णता में भिन्न भिन्न मत होने के कारण यह उद्देश्य अस्पष्ट और अदृश्य है अतः अप्राप्य है।

चरित्र निर्माण—सभी युगों में चरित्र का महत्व स्वीकार किया गया है। वारतोल ने कहा था—"चरित्र ही वह हीरा है जो सब पत्थरों से अधिक मूल्यवान है।" परन्तु केलिंग उनसे भी एक पग आगे है, वे कहते हैं—"समाज की सबसे बड़ी आशा वैयक्तिक चरित्र है।" इसमें कोई भी संदेह नहीं कि हरबार्ट ने शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण बताकर समस्त मानव जाति का भारी हित किया है। एक का दूसरे के साथ छल-कपट से पूर्ण व्यवहार, जहाँ व्यक्ति की चरित्रहीनता का द्योतक है, वहीं एक राष्ट्र का दूसरे के साथ राग-द्वेष राष्ट्रों में चरित्र-गठन के अभाव का द्योतक है। किसी भी देश में फैले हुए भ्रष्टाचार का कारण चरित्रवान् कार्यकर्त्ताओं एवं व्यवस्थापकों का अभाव है। चरित्र का विकास होना व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए जरूरी है। यह उद्देश्य पर्याप्त व्यापक है फिर भी शारीरिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक अथवा भावात्मक उन्नति का महत्व भी कम नहीं है और जीविकोपार्जन के उद्देश्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी कारण चरित्र-निर्माण को शिक्षा के एकमात्र उद्देश्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह उद्देश्य भी एकांगी है और मानव-जीवन की सम्पूर्ण शिक्षा के विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित नहीं करता।

संतुलित विकास—शिक्षा के सर्वमान्य उद्देश्य स्थापित करने की दृष्टि से संतुलित विकास का उद्देश्य सामने आया। बालक की जन्मजात प्रवृत्तियों को संतुलित रूप से विकसित करना ही शिक्षा का उद्देश्य माना गया। अगर सब प्रवृत्तियों का संतुलित विकास हो तो निश्चित ही एक ऐसा व्यक्ति प्रकट हो जो सब प्रकार से प्रभावशाली हो। आज की शिक्षा जो केवल बालक का बौद्धिक विकास करती है उसके स्थान पर इस उद्देश्य में शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं नैतिक सभी शक्तियों के संतुलित विकास की आकांक्षा की गई है। आज के वैज्ञानिक युग में हमने देखा है

कि एक वैज्ञानिक अपने विषय में पारंगत होने पर भी उसमें सौन्दर्यानुभूति का विकास पर्याप्त नहीं होता। यही आज की शिक्षा की कमी है। संतुलित विकास के उद्देश्य को कार्यान्वित करने के प्रयत्न के अन्तर्गत निम्न प्रश्न पैदा होते हैं:—

(अ) क्या भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां समान अनुपात में पायी जाती हैं?

(आ) उन प्रवृत्तियों को संतुलित रखने के लिए उनका क्या अनुपात मान-दिन माना जाना चाहिये?

(इ) एक प्रवृत्ति के विकास का दूसरी के विकास से क्या अनुपात रहता है?

इन प्रश्नों के उत्तर में प्रथम का नकारात्मक उत्तर देने के पश्चात् अन्य का निश्चित उत्तर प्राप्त हो सकना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि व्यक्तित्व में विभिन्नता होने पर विकास का अनुपात समान रखना भी उपयुक्त नहीं। जिस व्यक्ति में जो विशेषता हो और उसका ध्यान एवं रुचि जिस ओर केन्द्रित होती हो उसी ओर उसे विकसित करने का प्रयत्न करने पर अधिक अच्छे फल प्राप्त हुए हैं। सब व्यक्तियों के विकास की समान ही सीमा, एवं समान ही अनुपात मानना व्यक्तित्व की विशेषताओं के प्रतिकूल है। इस प्रयत्न में भी व्यावहारिकता का अभाव है जो अनेकों दोषों को जन्म देता है। अतः इसे भी अनुपयुक्त माना गया है।

शारीरिक विकास—प्राचीन युग में बालक के शारीरिक विकास पर पर्याप्त बल दिया जाता था। विद्या अध्ययन के समय स्वास्थ्य के नियमों का पालन करते हुए, *नियमित दिनचर्या, एवं सात्विक जीवन के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता* था। बालक प्रारम्भ से ही बलिष्ट बनकर दीर्घ आयु एवं स्वस्थ शरीर वाला बनता था। धीरे-धीरे स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना होने लगी। मध्य युग में शारीरिक दुर्बलता एवं स्वास्थ्य के पतन के प्रमाण मिलते हैं। आज तो केवल ज्ञानार्जन एवं बौद्धिक विकास ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य रह गया है। शिक्षा द्वारा शारीरिक विकास के स्थान पर आज की शिक्षा शारीरिक ह्रास करती है। शिक्षा के नियमित कार्यक्रम में शारीरिक शिक्षा को उपयुक्त स्थान नहीं होने के अतिरिक्त छात्रों के रहे-सहे साधारण स्वास्थ्य की हत्या परीक्षा-काल एवं परीक्षा की तैयारी का अवसर कर डालता है। कुछ शिक्षा-विशेषज्ञों के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य होना चाहिये। जिससे उपरोक्त कमी पूरी की जा सके। शिक्षा के अनेकों *उद्देश्यों में यह उद्देश्य भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है,* परन्तु इसे एक मात्र उद्देश्य के रूप में स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि अन्य अनेकों उद्देश्यों के अनुसार यह भी अपूर्ण एवं एकांगी है।

सत्यता एवं नैतिकता का विकास—आज का समाज धन एवं वैभव की ओर द्रुतगति से बढ़ता चला जा रहा है। धन-प्राप्ति के हेतु सत्यता एवं नैतिकता की अवहेलना की जा रही है। आये दिन हम देखते हैं कि अदालतों में झूठी गवाहियाँ पेश होती हैं और आर्थिक जगत में काला बाजार लगा हुआ है। मानव धन के हेतु मानव

का भक्षण करना चाहता है। अनेकों राष्ट्रों की नैतिकता की भी यही दशा है। विश्व में तृतीय महायुद्ध के बादल मँडराते रहते हैं। जाति एवं राष्ट्र यह चाहते हुये कि विश्व में शान्ति कायम रहे उसके लिये उपयुक्त आचरण करने की चिन्ता नहीं करते। असत्यता एवं अनैतिकता से परिपूर्ण वातावरण में यह स्वाभाविक है कि शिक्षा से यह आशा की जावे कि वह व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र में सत्यता एवं नैतिकता का विकास करे। ऐसा होने पर ही व्यक्तियों के, समाज के, एवं राष्ट्रों के स्वार्थपरता से परिपूर्ण गुट्ट समाप्त होकर एक ऐसे वातावरण की रचना हो सकेगी जहां सत्यता एवं नैतिकता का राज्य हो। संसार के राष्ट्र आज मित्र-राष्ट्रों के साथ उनके द्वारा सत्यता एवं नैतिकता की अवहेलना होने पर भी साधारणतः समर्थन करने की परम्परा का पालन करते हैं। यही स्थिति समाज की छोटी-से-छोटी इकाई तक की है। असत्य एवं अनैतिक मार्ग पर आरूढ़ व्यक्ति में सदा ही साहस एवं विश्वास का अभाव रहता है। परन्तु आज आँख मूँद कर अपने गुट्ट के लोगों के समर्थन करने की जो मनोवृत्ति है, वही अनैतिक एवं असत्य मार्गी पक्षों में आत्मबल, साहस एवं विश्वास के अभाव की पूर्ति करती है और असत्यता एवं अनैतिकता, सत्यता एवं नैतिकता पर हावी होने का प्रयत्न कर रही है और संसार की स्थिति डाँवाडोल है। इस स्थिति में सुधार के लिये सत्यता एवं नैतिकता का उद्देश्य शिक्षा को अपनाना पड़ेगा। अन्य उद्देश्यों की तरह यह भी एक-पक्षीय होने के कारण अपूर्ण तो है, फिर भी शिक्षा के उद्देश्यों में सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य अवश्य है।

पढ़ना, लिखना एवं गणित सिखाना—मानवता के विकास के साथ पढ़ने लिखने का महत्व बढ़ता जाता है, परन्तु जनतन्त्र में यह महत्वपूर्ण न रहकर मानव की आवश्यकता बन गया है। आज मानव का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण संसार हो चला है। वह अपने कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र का ही सदस्य नहीं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक भी है। विचारों का आदान-प्रदान ठीक प्रकार होने के लिए यह आवश्यक है कि वह लिखना और पढ़ना जाने, और आर्थिक दृष्टि से उसे गणित का भी ज्ञान हो। इस लिए हम बालकों को पढ़ना-लिखना सिखाते हैं। व्यक्ति पढ़ना जानेगा तभी नवीनतम विचारधारा का अध्ययन कर सकेगा, और लिखना जानेगा तभी नवीन विचारों के मंथन के पश्चात् संसार को अपनी विचारधारा का परिचय दे सकेगा। ज्ञान का आदान-प्रदान पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही उपयुक्त प्रणाली से कर सकता है। ज्ञान-प्राप्ति एवं ज्ञान-दान के पढ़ाई-लिखाई साधन हैं। समाज ने इन्हें ही शिक्षा मानकर भारी भूल की है। महात्मा गांधी ने अनेकों बार कहा था कि अक्षर-ज्ञान शिक्षा नहीं वह तो मानव को शिक्षित करने के अनेकों साधनों में से केवल एक है। इस उद्देश्य के अन्तर्गत शिक्षा-शास्त्रियों ने साधन को साध्य मान कर भारी भूल की है।

राष्ट्रीयता एवं नागरिकता की शिक्षा—प्रत्येक व्यक्ति पर अपने राष्ट्र का नागरिक होने के कारण कुछ उत्तरदायित्व आते हैं। उन उत्तरदायित्वों के साथ राष्ट्र से उसे कुछ अधिकार भी प्राप्त होते हैं। अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का सन्तुलन ही

नागरिक और राष्ट्र दोनों के लिए हितकर है। एक का अधिकार ही दूसरे का कर्त्तव्य है। दोनों में से एक कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है तो दूसरे पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह ऐसे नागरिक पैदा करे जो राष्ट्र प्रेमी हों और राष्ट्र की आवश्यकता पर तन, मन, धन न्यौछावर करने को तैयार रहें। राष्ट्रीयता की भावना ऐसी होनी चाहिये जिसमें अन्य राष्ट्रों के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण न होकर व्यापक दृष्टिकोण हो जो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के मध्य शान्ति एवं प्रेम की स्थापना कर सके।

उद्देश्य निर्माण के सिद्धान्त—विभिन्न उद्देश्यों पर विचार कर लेने पर यह स्पष्ट होता है कि उनमें कोई न कोई कमी अवश्य है। कुछ ऐसे हैं जो सब व्यक्तियों पर समान रूप से लागू नहीं हो सकते। कुछ अपने आप में ही स्पष्ट नहीं हैं। कुछ में महानता की कमी है। कुछ अव्यावहारिक हैं। कुछेक में देश और काल की अवहेलना की गई है। कुछ संस्कृति और समाज की ओर आँखें बन्द किये हुये हैं और कुछ उद्देश्यों पर शिक्षा-शास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। हमें शिक्षा के एक ऐसे उद्देश्य की आवश्यकता है जो मानव की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ-साथ सर्वमान्य भी हो। ऐसे उद्देश्य में निम्न गुणों का समावेश होना आवश्यक है :—

(१) सम्पूर्ण जीवन की उन्नति की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य व्यापक होना चाहिये।

(२) सबके लिये समान होते हुये भी उसमें व्यक्तिगत भिन्नता की अवहेलना नहीं होनी चाहिये।

(३) उद्देश्य उच्च एवं महान् होना चाहिये।

(४) उद्देश्य व्यावहारिक होना चाहिये।

(५) उद्देश्य पूर्ण रूपेण स्पष्ट होना चाहिये।

(६) उद्देश्य में देश एवं काल को भी दृष्टि में रखा जाना चाहिये।

(७) सामाजिक ढाँचा एवं संस्कृति पर भी दृष्टि रहनी चाहिये।

(८) उसमें व्यक्ति और समाज दोनों को संतुलित स्थान मिलना चाहिये।

(९) वह मनोवैज्ञानिकों, शिक्षा-विशेषज्ञों एवं शिक्षकों को मान्य होना चाहिये।

शिक्षा के प्रमुख दो उद्देश्य—शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों का विवेचन करने और उद्देश्य निर्माण के प्रमुख सिद्धान्तों पर दृष्टि डालने के पश्चात् सभी उद्देश्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) सामाजिक उद्देश्य और (२) वैयक्तिक उद्देश्य।

सामाजिक उद्देश्य—समाज बालक को जन्म से ही शिक्षित करने का कार्य शुरू करता है और मरणपर्यन्त यह क्रम चलता रहता है। औपचारिक शिक्षा तो एक निश्चित समय तक ही नियमित रूप में चलती है परन्तु अनौपचारिक शिक्षा अनियमित रूप से अविरल जलस्रोत के समान समाज में लगातार चलती रही है। समाज में रहो-

रहते ही बालक चलना, फिरना, बातचीत करना आदि-आदि अनेक काम सीखता है। समाज इतना ज्ञान देकर कुछ आशा भी करता है। शिक्षा का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति में ऐसी योग्यता उत्पन्न करे कि वह समाज का कल्याणकारी सदस्य बन सके। वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की परवाह न करके समाज की भलाई एवं उन्नति के लिये कार्य करे। जब समाज में स्वार्थपरायण व्यक्ति अधिक होते हैं तो समाज का पतन होने लगता है और सेवाभावी, एवं निःस्वार्थ व्यक्तियों का आधिक्य होने पर उन्नति का श्रीगणेश होता है। आज ससार के करीब सभी देश शिक्षा के इसी उद्देश्य पर अधिक बल देते हैं।

समाज की अपनी विचारधाराएँ, धर्म, नियम व धारणाएँ होती हैं। समाज सदा यही चाहता है कि प्रत्येक नागरिक उनका पालन करे और उनका विकास करने में योग दे। समाज इस बात की अवहेलना करता है कि व्यक्ति का अपना निजी व्यक्तित्व भी है एवं उसकी व्यक्तिगत विचारधाराएँ भी कुछ महत्व रखती हैं। ये विचारधाराएँ अनेक बार प्रचलित धाराओं से भिन्न भी होती हैं। समाज का कर्त्तव्य यह है कि वह उन विचारधाराओं को समाज मे प्रचारित होने दे। अगर वे सही हैं तो समाज निश्चित ही उन्हे अपनावेगा। महात्मा जी का भारतीय स्वतन्त्रता का नारा, उनका हरिजन उद्धार आन्दोलन और उनकी वर्धा शिक्षा-योजना भी तत्कालीन विचारधाराओं से भिन्न थी। समाज ने प्रथम के लिए शतप्रतिशत योग दिया, द्वितीय के लिए आंशिक सहयोग दिया और तीसरी अब भी प्रयोगात्मक स्थिति से गुजर रही है। शिक्षक और समाज से आशा की जाती है कि एक इस शिक्षा के प्रति श्रद्धा रख कर कार्य शुरू करे और दूसरा इसमे आस्था रखकर अपने बच्चों को बुनियादी मदरसों मे भेजे। समाज जब अपनी विचारधाराएँ व्यक्तियों पर डालता है तब फिर व्यक्तियों को भी अवसर मिलना चाहिए कि वे समाज को कुछ दे सकें। ऐसा न होने पर निश्चित ही प्रगति का प्रवाह रुक सकता है, जिसमे व्यक्ति समाज दोनो का ही अहित है। उस उद्देश्य के अन्तर्गत समाज को व्यक्ति से ऊँचा मानकर यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समर्पण समाज के लिए कर दे, इसी कारण यह उद्देश्य भी एकागी है।

वैयक्तिक उद्देश्य—प्रत्येक बालक में उसकी निजी रुचि, प्रवृत्ति एवं विशेषता होती है। इसी कारण एक ही प्रकार की शिक्षा प्राप्त होने पर भी नाना प्रकार के व्यक्तित्व तैयार होते हैं। बालक जन्म से ही जो विशेषताएँ साथ लेकर आता है उनका विकास करना शिक्षा विशेषज्ञों के अनुसार वैयक्तिक उद्देश्यों के अन्तर्गत आता है। शिक्षक का सर्वप्रथम कार्य तो यह है कि वह इन गुणों की खोज करे और उसके पश्चात् उन गुणों का उसमें विकास करने का यत्न करे। प्रत्येक बालक को उसकी विशेषताओं के अनुसार शिक्षा देने के हेतु आदर्शवादियों का यह मत है—"कि एक शिक्षक एक ही छात्र को पढ़ावे।" यह मत व्यावहारिक न होने के उपरान्त भी वैयक्तिक उद्देश्य के महत्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। श्री नन महोदय ने भी कहा है—

सार में जो भली वस्तुएँ आती हैं वह किसी न किसी व्यक्ति के स्वतन्त्र प्रयत्न से ती है।"

इस उद्देश्य में व्यक्तित्व को अधिक महत्व दिया गया है। इसका फल यह हो ता है कि वह इतना स्वतन्त्र हो जावे कि समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को जावे और अपनी गति-विधि में समाज के हित का ध्यान न रखे। आज के समाज जो विषमता पाई जाती है उसका कारण व्यक्तिवादी भावना ही है जिससे एक वर्ग नेक बनकर समाज के दूसरे वर्ग का शोषण करता है। एक ओर अधिक धन पतन कारण बन रहा है, तो दूसरी ओर धन का अभाव पतन की ओर ले जा रहा है। तः पूर्व उद्देश्य के समान यह उद्देश्य भी एकांगी है।

सामाजिक और वैयक्तिक उद्देश्य के मध्य का मार्ग—उपरोक्त विवेचन से ह स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के उद्देश्य व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक मभ कर इतने विरोधी हो गये हैं कि एक का अस्तित्व दूसरे के लिए खतरा बन या। एक ने दूसरे की इतनी अवहेलना कर डाली कि वह एकांगी बन गया। बात ास्तव में यह है कि दोनों ही उद्देश्य एक-दूसरे के पूरक हैं। एक उद्देश्य की पूर्ति में ो कमी रह जाती है उसको पूर्ण करने की दूसरे से आशा की जानी चाहिए। समाज ो अपनी परम्पराओं व रीति-रिवाजों के प्रति इतना संकुचित नहीं हो जाना चाहिए के वह व्यक्ति के विकास पर हावी होने लगे और उसे अपने विकास की स्वतन्त्रता का अभाव महसूस होने लगे। इसी प्रकार व्यक्ति को भी अपने विकास में इतना स्वतंत्र नहीं हो जाना चाहिए कि वह समाज की परम्पराओं की अवहेलना करने लगे और समाज की संस्कृति खतरे में पड़ जावे। शिक्षा में व्यक्ति और समाज को पूरक इकाइयों के रूप में समझा जाना चाहिए। इस भावना से जो उद्देश्य निर्माण होगा वही व्यक्ति एवं समाज दोनों की प्रगति में सहायक हो सकेगा। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति में वकील बनने की योग्यता है तो समाज का कर्त्तव्य है कि वह उसे अनुकूल अवसर प्रदान करे, परन्तु उस व्यक्ति का वकील बन जाने पर यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह समाज में सत्य के प्रति जो आदर एवं मूल्य कायम है उसे कायम रखने हेतु अपने ज्ञान को उपयोग में लावे। इसके विपरीत स्वार्थपरायणतावश अगर वह असत्य को सत्य प्रमाणित करने में अपनी शक्ति लगाने लग जाता है और असत्य सत्य पर न्यायालय में विजय पाने लग जाता है तो समाज से नैतिकता धराशायी होने लगेगी। ऐसी शिक्षा निश्चित ही अधूरी है।

शिक्षा के सभी उद्देश्यों पर विवेचन करने और उनको दो प्रमुख मार्गों में विभाजित कर लेने के पश्चात् भी शिक्षा का कोई सम्पूर्ण उद्देश्य हमारे सामने नहीं आता। फिर भी विभिन्न व्यावहारिक मतों को संकलित करके उद्देश्य निर्माण के सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य "व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक विकास के द्वारा उसमें विराट मानवता के गुणों का प्रादुर्भाव कर उसे कर्त्तव्यनिष्ठ और साहसी मनुष्य बनाना है।"

सारांश

प्रस्तावना—देश, काल, संस्कृति एवं समाज की परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा के अनेकों उद्देश्य व्यक्त किये गये हैं। उनमें से प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(१) जीविकोपार्जन।
(२) सामाजिकता का विकास।
(३) व्यक्तित्व का विकास।
(४) बौद्धिक विकास।
(५) सांस्कृतिक विकास।
(६) जीवन की सम्पूर्णता।
(७) चरित्र-निर्माण।
(८) संतुलित विकास।
(९) शारीरिक विकास।
(१०) सत्यता एवं नैतिकता का विकास।
(११) पढ़ना-लिखना एवं गणित सीखना।
(१२) राष्ट्रीयता एवं नागरिकता की शिक्षा।

सभी उद्देश्य अपूर्ण एवं एकांगी हैं। मानव की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और सर्वमान्य भी हो ऐसे उद्देश्य की हमें आवश्यकता है।

सर्वमान्य उद्देश्य में निम्न गुण होने चाहिएँ:—

(१) व्यापकता।
(२) व्यक्तिगत भिन्नतायुक्त समानता।
(३) महानता।
(४) व्यावहारिकता।
(५) स्पष्टता।
(६) देश एवं काल के अनुसार।
(७) समाज एवं संस्कृति के अनुकूल।
(८) व्यक्ति और समाज दोनों का संतुलित स्थान।
(९) शिक्षा विशेषज्ञों द्वारा मान्यता प्रदान।

शिक्षा के दो प्रमुख उद्देश्य:—

(अ) वैयक्तिक।
(आ) सामाजिक।

शिक्षा का उद्देश्य "व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक विकास के द्वारा उसमें विराट मानवता के गुणों का प्रादुर्भाव कर उसे कर्त्तव्यनिष्ठ और साहसी पुरुष बनाना है।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) "प्रत्येक मानव को समाज में रखकर उसकी विशेषताओं को विकसित कर उसे समाजोपयोगी बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।" इस कथन पर आप अपना मत व्यक्त कीजिये।

(२) शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों का विवेचन कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि विभिन्न शिक्षा विशेषज्ञों के जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण और देश, काल एवं परिस्थितियाँ उनको किस प्रकार प्रभावित करती हैं।

(३) शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों को स्पष्ट कीजिए और विवेचन कीजिए कि इन दोनों अंगों में विरोध का क्या कारण है?

(४) "वैयक्तिक उद्देश्य और सामाजिक उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हैं" इस कथन पर मत व्यक्त कीजिये।

शिक्षा के स्रोत

प्रस्तावना—हमने यह जानकारी हासिल करली है कि शिक्षा के दो स्वरूप हैं। प्रथम स्वरूप के अन्तर्गत अविधिक शिक्षा आती है। इसका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। प्राचीन काल में इसी अंग का महत्व था। आज इसका महत्व कम है फिर भी मानव को यह अङ्ग पर्याप्त मात्रा में प्रभावित कर रहा है। इसकी बड़ी विशेषता यह है कि इस क्षेत्र को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से भी इस पर विचार करना जरूरी है। शिक्षा का दूसरा स्वरूप सविधिक शिक्षा है। इस शिक्षा के अन्तर्गत पाठशाला आती है। इसे हम जैसी भी चाहें बना सकते हैं। इसी कारण इसे नियंत्रित शिक्षा भी कहते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा का साधन भी दो भागों में बंट जाता है:—

(क) अविधिक, अनियन्त्रिक एवं अनियमित शिक्षा के स्रोत।

(ख) सविधिक, नियन्त्रित एवं नियमित शिक्षा के स्रोत।

शिक्षा के साधनों का हम उपरोक्त दो भागों में ही अध्ययन करेंगे।

(क) अविधिक, अनियन्त्रित एवं अनियमित शिक्षा के स्रोत:—

(१) घर—बालक का पालन-पोषण घर में होता है। माता इस दृष्टि से उसके सबसे अधिक सम्पर्क में आती है। वही उसे दूध पिलाती है, स्नान कराती है, कपड़े पहनाती है, आराम देती है और रोते हुए को चुप कराती है। उसका प्रथम मित्र माता ही है। उसका प्रथम साथी माता होती है, उसका प्रथम गुरु भी माता ही होती है। उसका प्रसन्न चेहरा उसको खुशी देता है और प्रसन्न रखने की आदत सिखाता है। संसार के महापुरुषों में अनेकों व्यक्तियों का जीवन माताओं का ही बनाया हुआ है जिसके ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं। शिवाजी को जीजा बाई ने, भरत को शकुन्तला ने, और लव-कुश को सीता माता ने ही योद्धा बनाया था। घर में माता के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी होते हैं। घर में पिता का विशेष स्थान होता है। वे ही साधारणतः कुटुम्ब के मुखिया की जिम्मेदारी निभाते हैं। घर में छोटे व बड़े भाई-बहन होते हैं। घर में कभी-कभी दादा-दादी भी होते हैं। घर में नौकर-चाकर भी होते हैं। इन सबका रहन-सहन और स्वभाव अपना-अपना होता है। बालक उनके साथ रहता है। प्रत्येक से कुछ अंश में निश्चित् ही प्रभावित होता है और अपने व्यक्तित्व को विकसित करता है। घर की बातचीत की भाषा, आर्थिक स्थिति, परम्परा, रहन-सहन व व्यवहार बालक को प्रत्येक क्षण अपने रंग में रंगते रहते हैं। घर का प्रभाव बालक के जीवन पर पहला प्रभाव होता है। विद्वानों का मत है कि प्रथम प्रभाव ही अंतिम प्रभाव है। इस दृष्टि से प्रथम प्रभाव को जितना अधिक से अधिक सुन्दर, आनन्दमय, परिष्कृत एवं बालक के लिए हितकर बनाया जा सके, उतना ही अच्छा है। मात्र

समाज-शिक्षा के जितने प्रयोग एवं प्रयत्न चल रहे हैं वे सभी काफी अंश में इसी ओर सुधार के ध्येय को लेकर चलते हैं।

(२) समाज—बालक धीरे-धीरे बड़ा हो जाता है। वह दौड़ने-भागने लगता है। उसका क्षेत्र उसके घर के बाहर विकसित होता है। वह पहले अपने निकटतम पड़ोसी से परिचय हासिल करता है और फिर आगे बढ़ता है। सारा समाज उसकी जानकारी का क्षेत्र बनाता है।

(क) पड़ोस—वह अपने साथियों के साथ पड़ौस में खेलता है। कभी वह अपनी टोली का नेता बनता है। कभी वह दूसरे बालक के नेतृत्व में काम करता है। वह अपने जीवन की छाप दूसरों पर डालता है। वह दूसरों से भी बहुत कुछ सीखता है। अच्छे कुटुम्बों से आने वाले बच्चे उसमें गुणों का संचार करते हैं। अगर असभ्य, नटखट व गन्दे बच्चों का वह साथी बन गया तो उसका जीवन भी खतरे में पड़ सकता है।

(ख) बाजार—बालक बाजार का नाम दिन में कई बार सुनता है। उसके बाबा उसके लिए मिठाई व खिलौने बाजार से लाते हैं। घर में अनाज, कपड़ा, तरकारी, फल, मसाले व बर्तन आदि सभी वस्तुएँ बाजार से ही आती हैं। बालक बाजार के विषय में नाना प्रकार की कल्पना करता है। उसकी कल्पना मे जो तस्वीर है उसकी तुलना वह बाजार को देख कर करना चाहता है। वह कुटुम्ब के बाजार जाने वाले सदस्य के साथ हो लेता है और सामान की खरीद में उसका साथी बनकर बाजार से प्रथम परिचय प्राप्त करता है। इसी परिचय को बढ़ाते-बढ़ाते वह उस स्थान से पूरी तरह परिचित हो जाता है।

(ग) डाक घर—वह बाजार से भी आगे बढ़ना चाहता है। वह अपने दादा को डाकघर जाते देखकर उनके साथ हो लेता है। वह सीखता है कि वहाँ से पोस्टकार्ड, पत्र व तार भेजे जाते हैं। वहीं पर कार्ड, लिफाफे व टिकट मिलते हैं। डाकिए को वह जानता है कि वह अक्सर पत्र उसके घर दे जाता है। यहाँ आने पर ही उसे पता लगता है कि डाकिया इस स्थान से पत्र लेकर चलता है। सारे शहर के पत्र भी यहाँ से ही बाहर भेजे जाते हैं।

(घ) चिकित्सालय—चाचा को चिकित्सालय जाते देख बालक यह जिद्द कर बैठता है कि वह भी उनके साथ जावेगा। वह वहाँ पर डाक्टर को देखकर विभिन्न प्रश्न करता है। वह उस स्थान पर जाता है जहाँ से चिट्ठी बनाई जाती है। वहाँ जाता है जहां घावों पर मरहमपट्टी की जाती है। वह दवा मिलने के स्थान पर जा पहुँचता है। इस स्थान पर जो कुछ होता है वह सब देखने का उसे अवसर मिलता है।

(ड़) सामाजिक व सांस्कृतिक पर्व, जयन्तियाँ व मेले—बालक अपने गाँव में आयोजित विभिन्न पर्व व त्यौहारों में अपने बड़ों के साथ जाता है। वह होली, दिवाली, गोवर्द्धन-पूजा, जन्माष्टमी, महावीर जयन्ती, गुरुनानक जयन्ती, गाँधी जयन्ती आदि पर्वों में भाग लेता है। वह अपने गाँव व आस-पास के गाँवों

ायोजित मेले देखने जाता है। इनके विषय में कुछ बातें वह स्वयं ही प्रश्न द्वारा बड़ों से सीख लेता है। शेष के विषय मे अवसर-अवसर पर उसे जानकारी मिलती ी है।

(च) सिनेमा व रेडियो—शिक्षा के साधनों के अन्तर्गत सिनेमा व रेडियो का ज मे भारी महत्व है। सिनेमा के गाने आज समाज मे छोटे-बड़े सब की जबान हैं। उनमें जिन विचारों का समावेश है, वे विचार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप मे क्तियों को प्रभावित करते हैं। बालक पर इनका प्रभाव उसकी अपरिपक्व स्थिति के रण अधिक गहरा और स्थाई पड़ता है। बालक ने ज्योंही किसी चित्रपट को देखा कुछ दिनों तक वह उसी की कल्पना के सागर मे गोते लगाता रहता है।

(छ) धार्मिक स्थान—धार्मिक स्थान जीवन को भारी अंश में प्रभावित करते है। ी समझदार ने कहा है—"मानव के पास धर्म जैसी मूल्यवान व तु होते हुए भी इतना अधर्मी है तब उसके अभाव में उसकी क्या दशा होती।" विभिन्न धर्म के ाक अपने-अपने धार्मिक स्थान जैसे मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि मे जाते हैं। ाँ वे धर्मगुरुओं के आदेश सुनते हैं। वे उन आदेशों को बिना तर्क की कसौटी पर सबको पालते हुए देखते हैं। यह वातावरण उसके जीवन पर विशेष प्रकार का ाव डाले बिना नही रहता। वह वातावरण कभी-कभी स्वामी दयानन्द सरस्वती ा महापुरुष भी पैदा कर देता है और साधारणतः धर्म भीरु इन्सान तो पैदा रता ही है।

(ज) सरकार—बालक धीरे-धीरे गाँव के सरकारी कर्मचारियों से परिचय ता है। वह जानने लगता है कि समाज मे नागरिकों के हितों की रक्षा की जिम्मे- री सरकार की है। प्रत्येक राज्य का शासन सरकार द्वारा चलाया जाता है। कार को कुछ अधिकार हैं। वह चाहती है कि उसके अधिकार क़ायम रहें। सब ारिक उसकी आज्ञा का पालन करें। सरकार को अपने अधिकार देकर नागरिक ने अधिकार जीत लेता है। इस दृष्टि से सरकार को नागरिकों के प्रति उत्तरदायित्व ी निभाने जरूरी होते हैं। बालक समाज में रहकर नागरिक व सरकार की जिम्मेदारी अधिकार से परिचय प्राप्त करता है।

उपरोक्त दृष्टि से समाज बालक की शिक्षा का बड़ा भारी साधन है। उसके ्सी न किसी क्षेत्र में प्रत्येक क्षण कार्य चालू रहता है और बालक को प्रभावित रता रहता है। इस क्षेत्र की विशेषता यही है कि यहाँ प्रत्येक इकाई का नग्न स्वरूप ामने आता है, जिसमें उत्तम, मध्य व निम्न सभी प्रकार के स्वरूप मौजूद रहते । बालक किसे अपनावे और किसे छोड़े? जिस पक्ष को उसे अपनाना चाहिए वल वही उसे समाज में दिखाया भी तो नहीं जा सकता। समाज तो विभिन्नता की काई है। चूंकि समाज की गतिविधियों पर नियंत्रण नहीं है इसी कारण विशेषज्ञों ा एक नियन्त्रित स्थिति पैदा करने का यत्न प्रारम्भ किया। ऐसी नियंत्रित स्थिति में बालकों को रखने के प्रयोग शुरू हुए और यह प्रयोगशाला पाठशाला कहलाई।

(ख) सविधिक, नियन्त्रित एवं नियमित शिक्षा का स्रोत पाठशाला—पाठशाला एक ऐसी प्रयोगशाला है जहाँ पर कुटुम्ब, समाज व सरकार का आदर्श स्वरूप बालकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। इस दृष्टि से इसे सविधिक, नियन्त्रित एवं नियमित शिक्षा का स्थान कहा है। पाठशाला की चतुर्मुखी जिम्मेदारी है:—

(१) बालक के प्रति।
(२) कुटुम्ब के प्रति।
(३) समाज के प्रति।
(४) सरकार के प्रति।

उसे बालक का सर्वांगीण विकास करना है जिससे आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़, सभ्य एवं शान्तिमय कुटुम्ब बने और ऐसे असंख्य कुटुम्ब एक ऐसा समाज बनावें जिसका स्वरूप सबके लिए मंगलमय, सर्वतोभद्र, और शोषण मुक्त होगा और उस समाज में ऐसा शासन स्थापित हो जो निरपेक्ष हो। पाठशाला यह जिम्मेदारी किस प्रकार निभाती है इस विषय में इस अवसर पर विवेचन किया जाना चाहिए परन्तु गत अध्याय में शिक्षा के उद्देश्य के अन्तर्गत इस विषय में विवेचन हो जाने के पश्चात् उसे वापस यहाँ दुहराना अनावश्यक होगा। इस दृष्टि से इतना ही स्पष्टीकरण पर्याप्त है कि पाठशाला अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्व बालक के सर्वांगीण विकास द्वारा पूरा करती है।

उपसंहार—बालक की अनियन्त्रित, अनियमित व अविधिक शिक्षा के स्रोत घर और समाज हैं। नियन्त्रित, नियमित व सविधिक शिक्षा का स्रोत पाठशाला है।

सारांश

शिक्षा के स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(क) अविधिक, अनियंत्रित एवं अनियमित शिक्षा के स्रोत।

(ख) सविधिक, नियंत्रित एवं नियमित शिक्षा के स्रोत।

(क) अविधिक एवं अनियंत्रित शिक्षा के स्रोत के अन्तर्गत घर और समाज शामिल हैं। समाज में पड़ोस, बाजार, डाकघर, चिकित्सालय, सामाजिक व सांस्कृतिक पर्व, जयन्तियाँ व मेले, सिनेमा, रेडियो और धार्मिक स्थान बालक को प्रभावित करते रहते हैं और उसकी शिक्षा चालू रहती है।

(ख) सविधिक और नियंत्रित शिक्षा पाठशाला में चलती है। यहाँ समाज के सभी अंग बालक के सामने ऐसे प्रस्तुत किए जाते हैं जिससे बालक का सर्वांगीण विकास हो सके। इस तरीके से पाठशाला, बालक, कुटुम्ब, समाज, सरकार के प्रति अपनी जिम्मेदारी निभाती है।

उपसंहार—घर और समाज के वातावरण में शिक्षा की दृष्टि से जो कमियाँ रह जाती हैं उनकी पूर्ति पाठशाला द्वारा ही संभव है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) शिक्षा के स्रोत एवं साधन क्या-क्या हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिए।

(२) शिक्षा के स्रोत के रूप में पाठशाला किन कमियों को पूरा करने का काम करती है? विस्तार से स्पष्ट कीजिए।

आज की दोषपूर्ण शिक्षा

आखिर हुसेन कमेटी की रिपोर्ट में वर्तमान शिक्षा पर स्पष्ट लिखा है, "आज जबकि हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में तेजी के साथ और दूर तक प्रभाव डालने वाले परिवर्तन हो रहे हैं और नागरिकों के सामने नये-नये प्रश्न आ रहे हैं, तब शिक्षा जीवन की असली धारा से अलग रह कर पुराने ढर्रे पर लड़खड़ाती जा रही है। अपने को बदलते हुए जमाने के अनुकूल नहीं बना पा रही है। उस पर न तो देश की मौजूदा हालत का कोई असर होता है न उसके सामने कोई आदर्श ही है''' मौजूदा समाज लूट-खसोट, छीना-झपटी और मार-पीट की हिंसात्मक नीति पर खड़ा है। जबकि समाज को ऐसा होना चाहिये जिसमें सब लोग हिलमिलकर एक दूसरे के साथ काम करते हुये रह सकें। ऐसे समाज के निर्माण में सहायता पहुँचाना ही शिक्षा का काम है। परन्तु वर्तमान शिक्षा के सामने इसकी कल्पना तक भी नहीं है।" अतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा निर्जीव एवं अनुपयुक्त हो गई है। उसमें सुधार की आवश्यकता है अथवा सुधार सम्भव न हो तो उसके स्थान पर पूर्ण रूपेण नवीन शिक्षा-पद्धति की स्थापना की जानी चाहिये। ब्रिटिश सरकार ने तो इस शिक्षा की स्थापना केवल 'हिन्दुस्तानी-अंग्रेज' बनाने के उद्देश्य से की थी। आज हमें हिन्दुस्तानी अंग्रेज नहीं चाहियें तब फिर वही पुरानी शिक्षा क्यों चले ? यही एक प्रश्न है। इसके पूर्व कि हम इस प्रश्न के उत्तर में नई तालीम पर विचार करें हमें उन दोषों पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये जो उस शिक्षा को अब तक चालू रखने से पैदा हुये हैं।

प्रचलित शिक्षा प्रणाली के दोषों की तालिका तो बड़ी लम्बी है परन्तु यहाँ निम्नलिखित प्रमुख दोषों पर ही विचार करना उपयुक्त होगा :—

१. व्यावहारिक ज्ञान का अभाव—प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि बालकों को स्कूल में दिया गया ज्ञान, जीवन में उनके उपयोग में नहीं आता। इतना ही नहीं वरन् ज्ञान-दान के समय भी उसका उपभोग उनसे नहीं कराया जाता। उदाहरणार्थ उन्हें बार-बार यह याद कराने पर कि 'सफाई से रहो' कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि उन्होंने उस ज्ञान को जीवन में ढाला है या नहीं। सारा ज्ञान परीक्षा पास करने के लिए प्राप्त किया जाता है और परीक्षा पास कर जीवन में प्रवेश करने पर छात्र अपने को असहाय और अनुभवहीन पाता है।

२. सामाजिकता, नागरिकता एवं नैतिक गुणों का अभाव—क्रियात्मक जीवन के अभाव के ही कारण यह दूसरा दोष सामने आया है। शिक्षाकाल में बालक सामाजिक संस्थाओं से परिचय प्राप्त करने का अवसर नहीं पाते। उनमें हिलमिलकर

काम करने व अन्य व्यक्तियों की तकलीफों का अनुभव करने की आदत नहीं बनती। अनेकों बार तो छात्रों में ऐसी भावना का आभास मिलता है कि जब तक वे पढ़ते उन्हें सेवा के कार्यों में रुचि नहीं लेनी चाहिये।

अंग्रेजी राज्य मे शिक्षा ने राष्ट्र के नागरिकों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करना उचित नहीं समझा। यह ज्ञान देना उस समय की सत्ता के लिए अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारने के समान था। उस समय नागरिकों को ऐसे कर्त्तव्यों की शिक्षा दी गई जिनमें प्रमुख स्थान राज्य-सेवा को प्राप्त था। इस प्रकार वह शिक्षा नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का वास्तविक ज्ञान न दे सकी।

चरित्र गठन की ओर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। गांधी जी ने एक बार कहा था कि ऐसा कोई नहीं कह सकता कि स्कूलों में जो शिक्षा दी जाती है, उससे चरित्रवान् बनाने का नतीजा निकला है। स्कूलों में जाकर धर्म खो बैठने के तो बहुत उदाहरण नजर आयेंगे।

३. *सर्वांगीण विकास का अभाव*—शिक्षा द्वारा हम मानव का मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक विकास करना चाहते हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति ने अब तक आंशिक रूप में मानसिक अथवा बौद्धिक विकास किया है। यह स्पष्ट है कि केवल पुस्तकों को रटने से या शब्दों का अर्थ तथा उच्चारण सीखने से बुद्धि का पूर्ण विकास सम्भव नही। शारीरिक एवं नैतिक विकास का तो इसमें स्थान ही नहीं है तभी तो शिक्षा विशेषज्ञों ने इसे एकांगी या सर्वांगीण विकास-रहित शिक्षा कहा है। महात्मा गांधी ने इस विषय में बड़े सुन्दर शब्द कहे हैं। वे कहते हैं—"मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल शरीर, न केवल हृदय या आत्मा। तीनों के एक समान विकास में ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होता है।"

४. **श्रम से घृणा**—स्कूल का संकीर्ण पाठ्यक्रम जिसमें कर्म का कोई स्थान न होने के कारण ही छात्रों एवं छात्राओं के मन में ये विचार घर कर जाते हैं कि परिश्रम एक तुच्छ कार्य है, जिसे निम्न श्रेणी के लोग करते हैं। शहर के माता-पिताओं के सामने यह समस्या रही है कि उनके बालक शिक्षण-काल पूर्ण होने पर भी व्यावहारिक ज्ञान से अपूर्ण रह जाते हैं। फिर भी उन्हें दफ्तर में कहीं न कहीं नौकरी मिल ही जाती है। परन्तु गांव के माता-पिताओं को तो यह शिक्षा निःसंतान बना देती है। शिक्षित होने पर संतान उनके गांव में परिश्रम नहीं कर पाती। अन्ततोगत्वा उन्हें शहर में किसी सरकारी दफ्तर का दरवाजा खटखटाना पड़ता है। इस प्रकार वृद्धावस्था में जब उन्हें संतान की सेवा की आवश्यकता होती है वही सेवा उन्हें उपलब्ध नही हो पाती। यही कारण है कि अधिकांशतः गाव के माता-पिता अपने बच्चों को स्कूल भेजने से डरा करते हैं।

५. **स्थानीय भाषा में माध्यम का अभाव**—महाशय मेकाले ने अंग्रेजी शिक्षा भारतीयों को शिक्षित बनाने की दृष्टि से नहीं वरन् अंग्रेजी राज्य को सुचारु रूप से चलाने एवं उसे स्थाई बनाने के उद्देश्य से प्रारम्भ की थी। उस समय अंग्रेजों के

विचारों की भारत की जनता के सामने व्याख्या कर सकने वाले वर्ग की जरूरत थी। वह कार्य अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों द्वारा ही सम्भव था। जो वर्ग तैयार किया गया वह अपने आत्मीय जनों से भाषा-भेद के कारण दूर होता गया और विदेशी संस्कृति में उसकी आस्था बढ़ती गई।

६. मंहगी शिक्षा—पाठशाला-शुल्क और पाठ्य पुस्तकों का मूल्य कम-से-कम हो तभी भारत जैसे देश के अधिक से अधिक लोग अपनी संतानों को पाठशाला में भेज सकते हैं। अंग्रेजी शिक्षा में इन सुविधाओं का अभाव होने के कारण ही यह धनिक वर्ग के बालकों तक ही सीमित रह गई।

७. मनोवैज्ञानिक तत्वों का अभाव—बालकों की अन्तर्निहित शक्तियों से सुसम्बद्ध उत्तरोत्तर विकास का ही नाम शिक्षा है। प्रत्येक बालक में कुछ विशिष्ट शक्तियों का भण्डार होता है। शिक्षक को मनोवैज्ञानिक आधार पर उनका अध्ययन करना पड़ता है और रुचियों, भावनाओं एवं प्रवृत्तियों के अनुसार बालक में ज्ञान का संचार करने का प्रयत्न करना होता है। उसके लिए नाना प्रकार के रुचिकर उपायों के द्वारा बालक का विकास करना जरूरी है जिससे वह भावी जीवन में सफल हो सके। यह सभी तब सम्भव है जब कि शिक्षक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन सुदृढ़ हो और वह बालक की प्रवृत्ति के अनुसार वैकल्पिक विषयों का चुनाव कर शिक्षा दे। वर्तमान शिक्षा मे इन तत्वों का अभाव है।

८. अनुशासन का अभाव—राजतन्त्र मे जन्म लेने वाली शिक्षा-पद्धति आज जनतन्त्र में भी चल रही है। शाला मे अनुशासन के पुराने साधन प्रायः समाप्त हो गये हैं। शारीरिक दण्ड अब प्रचलित नही है। बालकों को भय के स्थान पर प्रेम से आत्मप्रेरित अनुशासन की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। वर्तमान शिक्षा में इतनी व्यवस्था नही कि बालकों को लगातार अपनी वृत्तियों की अभिव्यक्ति में व्यस्त रखा जा सके। बालकों की शक्ति अवांछनीय दिशाओं मे प्रस्फुटित होने लगती है जो अनुशासन रहित वातावरण को जन्म देने का एक कारण बनती है। इस प्रकार वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अनुशासन रहित बनती जा रही है।

९. उद्योग से रहित—भारत का सबसे बड़ा उद्योग खेती है। यहाँ का दूसरा सबसे बड़ा उद्योग वस्त्र निर्माण है। इनके अतिरिक्त छोटे उद्योग तो अनेकों हैं फिर भी हमारी परम्परीत शिक्षा में उद्योग को स्थान नहीं है। उद्योग के अभाव के कारण बालक के शारीरिक अंगों का उपयोग नहीं हो पाता। बाल्यकाल से किशोरावस्था [illegible]ावस्था तक, जब तक बालक की शिक्षा पूर्ण होती है शारीरिक श्रम से दूर [illegible] ही कारण बाद में उसके लिए शारीरिक श्रम कठिन हो जाता है। हमारी शिक्षा उद्योग रहित होने से, एक प्रकार से क्लर्क तैयार करने की मशीन के समान है। इसमें सुनार, लुहार, धोबी, मोची या दर्जी, जो भी पहुँच जाता है, उसे यह क्लर्क मे बदल देती है।

१०. जन-कल्याण की भावना से रहित—हमारे देश की अधिकांश जनता

ग्रामों में बसती है। गांवों के समृद्धशाली एवं योग्य युवक शहरों में विद्याध्ययन हेतु जाते हैं। उनके माता-पिता कष्ट सेलकर भी उनकी शिक्षा का सर्वां वहन करते हैं पर शिक्षित होने पर वे गांव में आना पसन्द नहीं करते। शिक्षा गांवों के काम की न होने के साथ-साथ शिक्षित व्यक्तियों का गांव से सम्बन्ध भी तोड़ देती है। वे गांव छोड़कर शहर की ओर बढ़ने लगते हैं। गांव जिन व्यक्तियों को शिक्षित कराता है उनका लाभ गांवों को प्राप्त नहीं हो पाता। इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात और क्या हो सकती है कि गांवों को ही अनादर की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार शिक्षित लोगों से जो जनकल्याण की आशा की जाती है वह पूरी नहीं हो पाती।

११. सैनिक शिक्षा का अभाव—सैनिक शिक्षा का राष्ट्र के शान्तिकाल के लिए भी उतना ही महत्व है जितना कि युद्धकाल के लिए है। इसके प्रमुख तीन लाभ हैं :—

(क) परेड द्वारा व्यायाम होता है, अंग-प्रत्यंग सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित होते हैं और शरीर स्वस्थ रहता है।

(ख) जीवन की अव्यवस्था समाप्त होकर जीवन अनुशासित एवं वैधानिक बन जाता है।

(ग) व्यक्ति राष्ट्र-सेवा की भावना से ओत-प्रोत रहता है और अशान्ति एवं युद्धकाल के समय शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा कर सकता है।

सैनिक शिक्षा का अभाव भी एक कारण है जिससे स्कूलों में अनुशासनहीनता दिखाई पड़ती है। इस शिक्षा का दूसरा लाभ यह है कि बालक घर में व्यवस्थित जीवन जीने का प्रशिक्षण पाता है।

१२. मौलिकता का अभाव—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का माध्यम अंग्रेजी है। विचार एवं ज्ञान, जो अंग्रेजी की पुस्तकों द्वारा प्राप्त होते हैं, विदेशी होते हैं। उनका जन्म और विकास विदेशी वातावरण में ही हुआ है। उनके द्वारा शिक्षित होने पर छात्र उनका प्रयोग अपने देश में करता है। यहाँ के वातावरण में भी वे उपयुक्त सिद्ध हों यह आवश्यक नहीं। छात्रों में अंग्रेजी शिक्षा द्वारा प्रदान किये गये जीवन के मूल्यों को यहाँ की परिस्थितियों के अनुसार ढालने की शक्ति भी नहीं होती। इसी कारण यह कहा जाता है कि आज की शिक्षा में मौलिकता का अभाव है।

१३. श्रेणी-भेद वाली शिक्षा—वर्तमान शिक्षा में जनसाधारण के लिये तो स्कूल की व्यवस्था है ही परन्तु उच्च वर्ग के व्यक्तियों के लिए भिन्न प्रकार के स्कूलों की व्यवस्था भी है। ऐसे स्कूलों को 'पब्लिक स्कूल' (Public School) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। धनवानों के लड़के इन स्कूलों में एक विशेष प्रकार की शिक्षा के द्वारा राष्ट्र के ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुंचने में समर्थ होते हैं। निम्न एवं मध्यम , के छात्रों की शक्ति के बाहर होता है कि वे उन साधन-सम्पन्न स्कूलों में शिक्षा कर सकें। इसी कारण वे योग्य होने पर भी लक्ष्मीपतियों की सन्तानों से पीछे

रह जाते हैं। जनतन्त्र की शिक्षा में ऐसा श्रेणी-भेद सम्भव नहीं। वर्तमान शिक्षा का यह एक महत्वपूर्ण दोष है।

१४. ललित कलाओं की शिक्षा का अभाव—शिक्षा का सच्चा लक्ष्य मनुष्य के बाह्य और अन्तर्निहित दोनों पक्षों का समान विकास करना है। ललित कला में मानव की भावना प्रभावित होती और संवेदना जाग्रत होती है। अतः वह मानव को सुसंस्कृत बनाती है। चूँकि ललित कला का सारा सम्बन्ध भावना एवं कल्पना से ही होता है, अतः यह भावनाओं और कल्पना शक्ति का परिष्कार करती है और मानव को उन्नत करने में सहायक होती है। ललित कलाओं के अभाव ने प्रचलित शिक्षा प्रणाली को, जहाँ एक ओर दोषपूर्ण बना दिया है, वहाँ दूसरी ओर नीरस भी बना दिया है। जो शिक्षा, रस अथवा जीवन से रहित है, वह सरस जीवन नहीं प्रदान कर सकती।

१५. ध्येय रहित शिक्षा—शिक्षा से जीवन का ध्येय स्पष्ट होना चाहिए। परन्तु आज छात्र एक के बाद दूसरी परीक्षा पास करते चले जाते हैं फिर भी जीवन का ध्येय उन्हें स्पष्ट नहीं होता। बी० ए० पास कर लेने के पश्चात् अनेक छात्र ग्रीष्मावकाश में नौकरी की तलाश में घूमते हैं। इस कार्य में सफल न होने पर वे एम० ए० में प्रवेश ले लेते हैं। एम० ए० में उत्तीर्ण होने पर पुनः नौकरी प्राप्त करने का प्रयत्न प्रारम्भ करते हैं और इस समय भी सफलता के आसार नजर न आने पर दूसरे विषय में बी० एड० की तैयारी शुरू कर देते हैं। इस प्रकार बिना ध्येय के शिक्षा चालू रहती है।

वर्तमान दशा में हमने प्रचलित शिक्षा के कुछ दोष प्रस्तुत किए हैं। ये स्पष्ट करते हैं कि यह शिक्षा आज की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने में असमर्थ है। इसलिए राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने हमारी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के अनुकूल बुनियादी तालीम के रूप में एक नई शिक्षा-पद्धति की स्थापना का संकल्प किया था।

सारांश

ब्रिटिश सरकार ने जो 'हिन्दुस्तानी अंग्रेज' बनाने की शिक्षा स्थापित की थी उसमें आज निम्नलिखित दोष नजर आते हैं :—

१. व्यावहारिक ज्ञान का अभाव।
२. सामाजिकता, नागरिकता एवं नैतिक गुणों का अभाव।
३. सर्वांगीण विकास का अभाव।
४. श्रम से घृणा।
५. स्थानीय भाषा में माध्यम का अभाव।
६. महंगी शिक्षा।
७. मनोवैज्ञानिक तत्वों का अभाव।
८. अनुशासन का अभाव।

९. उद्योग से रहित।

१०. जन-कल्याण की भावना से रहित।

११. सैनिक शिक्षा का अभाव।

१२. मौलिकता का अभाव।

१३. श्रेणी-भेद वाली शिक्षा।

१४. ललित कलाओं की शिक्षा का अभाव।

१५. ध्येय रहित शिक्षा।

उपरोक्त दोषों के कारण ही महात्मा गांधी ने भारतीय स्थितियों के अनुकूल बुनियादी तालीम के रूप में नई शिक्षा पद्धति की स्थापना का संकल्प किया था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) "देश की शिक्षा-पद्धति की आत्मा ही बदली जानी चाहिये।" इस कथन क सप्रमाण पुष्टि कीजिये।

(२) अंग्रेजी शासनकाल की शिक्षा-व्यवस्था में ऐसे क्या-क्या दोष हैं जिनके कारण रा कोई नई शिक्षा-व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव हुआ?

—:०:—

शिक्षा में आमूल परिवर्तन

राष्ट्रीय जीवन में परिवर्तन के साथ-साथ जीवन के मूल्यों में परिवर्तन एवं पुनर्निर्माण की आवश्यकता महसूस होती है। भारत की जनतन्त्रात्मक सामाजिक व्यवस्था में आज की शिक्षा को अपूर्ण एवं अयोग्य प्रमाणित कर दिया है। इसका विवेचन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। ऐसी दशा में शिक्षा-शास्त्रियों के सामने शिक्षा के नवीन स्वरूप के निर्माण का प्रश्न आया। नवीन स्वरूप के निर्माण के समय यह समस्या आना स्वाभाविक है कि पूर्व स्वरूप में आंशिक सुधार ही पर्याप्त है या एक पूर्ण रूपेण नवीन शिक्षा को जन्म देना होगा। हमने देखा है कि वर्तमान शिक्षा में उद्देश्य, पाठ्य-सामग्री एवं शिक्षण-पद्धति सभी आज के जरूरत के अनुकूल नहीं है। अतः इसमें आंशिक परिवर्तन से काम नहीं चल सकता। इसी कारण राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने शिक्षा का नवीन स्वरूप राष्ट्र के सामने प्रस्तुत किया था।

शिक्षा के नव निर्माण के समय पूर्व शिक्षा के दोषों की समाप्ति करने वाली शिक्षा की रचना तो उन्हें करनी ही थी, वरन् उस नई शिक्षा में उन सब गुणों का समावेश भी करना था, जो उनके रामराज्य के स्वप्न को साकार कर सके। प्रत्येक दार्शनिक समाज के सामने जो आदर्श रखता है एवं उस आदर्श की प्राप्ति के लिए जो मार्ग सुझाता है उसमें उसके जीवन को प्रेरित करने वाले युगपुरुषों की एवं उनके जीवन के मूल सिद्धान्तों की छाप रहती है। महात्मा गांधी के जीवन के मूल सिद्धान्त सत्य और अहिंसा थे। इसी सत्य और अहिंसा द्वारा मानव-कल्याण का पाठ उन्होंने भारत को ही नहीं वरन् सारे संसार को पढ़ाया। सत्य और अहिंसा से ओत-प्रोत जीवन के लिए उन्होंने सर्वोदयी विचारधारा को जन्म दिया। इसी विचारधारा के सहारे वे रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे। सर्वोदय के विषय में महात्मा जी ने स्वयं कहा था—"सर्वोदय के सिद्धान्तों को मैं इस प्रकार समझता हूं—(१) सबके भले में भला है। (२) वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिये क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एक-सा है। (३) सादा मजदूर का और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।" डाक्टर ई. स्टेनले जोन्स ने "महात्मा गाँधी—एन इन्टरप्रिटेशन" नामक पुस्तक में सर्वोदय, एवं सर्वोदयी समाज के नागरिक के विषय में लिखा है "सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है सम्पूर्ण उदय या तरक्की। यह आन्दोलन कोई संगठित संस्था का रूप नहीं लेगा। वह तो एक भावना का बाहरी दर्शन होगा। जो गाँधी जी के बुनियादी सिद्धान्त—सत्य और अहिंसा—को अपने मन में स्वीकार कर लेगा वह उसका मेम्बर माना जायगा। वह एक आध्यात्मिक भाईचारा होगा। साल में एक दफा जितने भी सेवक इकट्ठे हो सकें, एक मेले में जमा

होंगे। मेले का स्वरूप कुछ धार्मिक जैसा ही होगा। ......उसका मेम्बर सारी दुनियाँ में कोई भी और कहीं भी हो सकता है......सिर्फ गांधी जी के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्त को मान लेने में ही यह अपने आप मेम्बर हो जाता है।"

सर्वोदय की दीक्षा—सर्वोदय की दीक्षा शीर्षक के अन्तर्गत विनोबा जी ने (हरिजन सेवक, ११-४-१९४९) रचनात्मक कार्य करने वाले संघों के एकीकरण का विवेचन करते हुए लिखा था कि उनके काम करने वालों को कम से कम नीचे लिखी बातों पर अमल करना चाहिये :—

१. हर एक नियमित रूप से सूत काते।

२. खुद के कते सूत की या घर में कते सूत की या प्रमाणित खादी ही पहने।

३. जहाँ तक हो सके ग्रामोद्योगी चीजों का इस्तेमाल करे।

४. अपने स्थान पर गाय के दूध का इस्तेमाल करने का विशेष प्रयत्न करे।

५. महीने में कम से कम एक रोज पाखाना-सफाई का काम करे या गाँव-सफाई का कुछ काम करे।

६. जहाँ इन्तजाम हो, वहाँ अपने बच्चों को बुनियादी तालीम दिलावे।

७. नागरी, उर्दू और दक्षिणी प्रान्तों की एक लिपि सीखने का प्रयत्न करे।

विनोबा जी ने इसे जीवन-शुद्धि का कार्यक्रम बतलाते हुए कहा है कि रचनात्मक काम करने वाले संघों के लिये यह कर्तव्य रूप रखा गया है लेकिन सबके लिये भी वह अमल करने जैसा है। वे आगे कहते हैं "*ये नियम सिर्फ दिशा दिखाने वाले हैं।* ऐसे और भी नियम अपनी जीवन-शुद्धि को लक्ष्य कर हर एक को बनाने हैं लेकिन दो पथ्य सम्भालने चाहियें :—

(क) एक यह कि *नियम को बोझिल नहीं होने देना है। नियमों से* जीवन की दिशा मिलनी चाहिये और जीवन सरल बनना चाहिये।

(ख) दूसरा पथ्य यह कि दूसरों की खामियों की तलाश करने के लिये इन नियमों को उपयोग में नहीं लाना है। अन्यथा उनमें से संकुचित बुद्धि और भेद की भावना ही पैदा होगी।"

रचनात्मक कार्य—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्न कार्यक्रम अमल में आते हैं :—(१) अलग-अलग धर्म व सम्प्रदाय के मानने वालों में मेल; (२) अस्पृश्यता निवारण; (३) जाति-भेद निराकरण; (४) नशाबन्दी; (५) खादी और दूसरे ग्रामोद्योग; (६) ग्राम-सफाई; (७) नई तालीम; (८) स्त्री और पुरुष के लिये समाज में समान-हक व प्रतिष्ठा; (९) आरोग्य और स्वच्छता; (१०) देश की भाषाओं का विकास; (११) प्रान्तीय संकीर्णता का निवारण; (१२) आर्थिक समानता; (१३) खेती की उन्नति; (१४) मजदूर-संगठन; (१५) आदिम जातियों की सेवा; (१६) विद्यार्थी-संगठन; (१७) कुष्ठरोगियों की सेवा; (१८) संकट निवारण और दुखियों की सेवा; (१९) गो-सेवा; (२०) *प्राकृतिक चिकित्सा* तथा (२१) इसी तरह के अन्य काम।

भावी शिक्षा की जिम्मेदारी—उपरोक्त विवेचन ने सर्वोदयी समाज की रूप-रेखा का कुछ अंश स्पष्ट किया। विनोबा जी सर्वोदय शब्द का अर्थ बड़े अच्छे ढंग से करते हैं। वे कहते हैं "शब्दों में बड़ी ताकत भरी है""""शब्दों से उत्थान होता है और शब्दों से पतन है। ऐसे एक बड़े शब्द का हमने उपयोग किया है। वह शब्द क्या कहता है? हमें चन्द लोगों का उदय नहीं करना है, ज्यादा लोगों का उदय हमे नहीं करना है, ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के उदय से भी हमें संतोष नहीं है। हमें तो सब के उदय से सन्तोष होगा। छोटे-बड़े, कमजोर-ताकतवर, बुद्धिमान और जड़ सबका उदय होगा, तभी हमें चैन लेना है। यही विशाल भावना हमें यह शब्द देता है।" इस प्रकार के समाज की रचना के हेतु नई तालीम को राष्ट्रपिता ने जन्म दिया। इसका उद्देश्य मनुष्य को अक्षर-ज्ञान कराना मात्र नहीं था वरन् मानव में सर्वोदयी समाज के श्रेष्ठ गुणों को भरना है। ऐसे समाज मे धनपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण नहीं होगा, विषमता नहीं होगी, बालक धन के अभाव में अशिक्षित नहीं रहेगा। प्रत्येक नागरिक अन्तर-बाह्य परिवर्तन द्वारा उच्च मानव बनाया जायेगा।

परिवर्तित शिक्षा 'नयी तालीम' की विशेषताएँ—पुराने तालीम के दोषों से रहित नयी तालीम में निम्न विशेषताओं का समावेश किया गया:—

(१) सत्य-अहिंसा और प्रेम की स्थापना—आज के समाज में असत्य, हिंसा और घृणा का राज्य है। आर्थिक समाज का हर प्राणी अपने स्वार्थ के लिए पतित होता जा रहा है। एक के पतन का कारण धनाभाव है तो दूसरे का धनाधिक्य। धनवान् लोग गरीबों का शोषण करते हैं। मानवता से धन उनके लिये ऊँचा है। हिंसक मनोवृत्ति धारण कर वे श्रमिकों के धन पर आनन्द उड़ाते हैं और उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। आज की शिक्षा में शिक्षित बुद्धिजीवी प्राणियों की भी यही दशा है। वे भी श्रम-जीवियों से घृणा करते हैं। इसी कारण वर्गपूर्ण समाज में वर्गों का और भी आधिक्य हो गया है। नई तालीम द्वारा रचित समानता और समृद्धि से परिपूर्ण सर्वोदयी समाज में सत्य, अहिंसा और प्रेम का साम्राज्य होगा। नाई और वकील को बराबर पैसा मिलेगा। एक मजदूर को दूसरे मजदूर से अगर पैसा अधिक मिलेगा तो इस कारण नहीं कि वह दूसरे से अधिक काम करेगा वरन् इसलिये कि उसे खाने को अधिक चाहिए। विनोबा जी के शब्दों में "यह हो सकता है कि सेनापति की पाचनेन्द्रियाँ कमजोर हैं, इस लिए उसे तीन आने रोज मिलता है और सिपाही मजबूत है इसलिये उसे तीन रुपया रोज मिलना चाहिये। जो जितना हजम कर सकता है, उतना उसे मिलना चाहिये।" पैसे का वितरण आवश्यकता के अनुसार होगा तभी पैसे से मानवता का दर्जा ऊँचा होगा, तभी समाज में घृणा के स्थान पर प्रेम की स्थापना होगी।

(२) सर्वउपलब्ध अनिवार्य शिक्षा—प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने सब नागरिकों को शिक्षित करे। हमारे देश पर भी स्वतन्त्रता के पश्चात् यही जिम्मेदारी आ गई है। हमारे देश में अधिकांश जन-संख्या गरीब लोगों की है।

अंग्रेजी राज्य में खर्चीली शिक्षा थी जो उच्च वर्ग को लाभप्रद हुई, यही शिक्षा सब वर्गों के लिये शिक्षा का साधन न बन सकी। इसी कारण आज हमारे देश में केवल नौ प्रतिशत व्यक्ति ही अब तक शिक्षित हो सके। नई तालीम सर्वोदय की ओर समाज को ले जाना चाहती है। उसे छोटे-बड़े, बुद्धिमान-जड़, कमजोर और ताकतवर सभी को शिक्षित करना है। यह तभी हो सकता है जब शिक्षा सब को मिले। ऐसी दशा में शिक्षा मुफ्त मिलनी चाहिये। नई तालीम में सात वर्ष की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है। यह शिक्षा कम से कम खर्चीली हो ऐसा भी यत्न किया गया है।

(३) स्वालम्बन का महत्वपूर्ण स्थान—नई तालीम में शिक्षा के स्वावलम्बी पहलू को बड़ा महत्व दिया गया है। महात्मा जी ने कहा है—"""बच्चे की शिक्षा का प्रारम्भ, मैं किसी दस्तकारी की तालीम से ही करूँगा और उसी क्षण से उसे कुछ निर्माण करना सिखा दूंगा। इस प्रकार हर एक पाठशाला स्वावलम्बी हो सकती है।" इस शिक्षा के द्वारा राष्ट्र के नागरिकों में स्वावलम्बन तीन अर्थों में प्रस्फुटित हो सकेगा। उदर निर्वाह के लिए दूसरों पर आधारित न होना पड़े, ज्ञान प्राप्ति में स्वतन्त्र शक्ति का निर्माण हो और मनुष्य में अपने आप पर काबू रखने की शक्ति हो। स्वावलम्बन के ये ही तीन अर्थ हैं। संक्षेप में हमें यह कहना चाहिये कि प्रत्येक मानव को शरीर, मन और बुद्धि से स्वावलम्बी बना देने की जिम्मेदारी स्वावलम्बी नयी तालीम ने ली है।

(४) सर्वांगीण विकास की व्यवस्था—शिक्षा जहाँ मानव का सर्वांगीण विकास करने को अग्रसर होती है वहाँ तीन पहलू उसके सामने आते हैं। उसे व्यक्ति का शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करना पड़ता है। प्रचलित शिक्षा प्रणाली केवल बौद्धिक विकास ही करती है और उसमें भी उसे पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। केवल बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं। गाँधी जी ने कहा है—"मनुष्य न तो केवल बुद्धि है, न केवल शरीर, न केवल हृदय या आत्मा। तीनों के एक समान विकास में ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होगा। इसमें सच्चा अर्थशास्त्र है। इसके अनुसार यदि तीनों विकास एक साथ हों, तो हमारी उलझी हुई समस्यायें आसानी से सुलझ जायें।" नई तालीम में सर्वांगीण विकास की व्यवस्था है। इसके द्वारा हम बालक को बुद्धि, शरीर, आत्मा एवं हृदय की शिक्षा देकर उसमें सर्वोदयवादी समाज के श्रेष्ठ नागरिक के अनिवार्य गुण, जैसे निःस्वार्थ भावना, समाज-सेवा, कर्तव्यपरायणता, सत्य, अहिंसा, आदि पैदा कर सकते ।

(५) दैनिक उपयोग के ज्ञान का समावेश—पुरानी शिक्षा के छात्रों का ज्ञान उनके दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहायक नहीं होता। पढ़े-लिखे व्यक्ति समाज के व्यावहारिक ज्ञान वाले साधारण व्यक्तियों द्वारा भी उपहास के पात्र बनते हैं। नयी तालीम ने पाठ्य-सामग्री में दैनिक जीवन की उपयोगी सामग्री का समावेश कर इसमें शिक्षित व्यक्तियों को उपहास का पात्र बनने से बचाने का यत्न

प्रयत्न किया है। बालक स्कूलों में जीवन से सम्बन्धित सभी कार्य जैसे खेती-बाड़ी, कताई-बुनाई, कपड़े व मकान की सफाई, बाजार से समान की खरीददारी आदि करते हैं और शिक्षा पाते हैं। उपयोगी शिक्षा-पद्धति होने के कारण ही गांधी जी ने नयी तालीम को जीवन की जीवन द्वारा शिक्षा कहा था।

(६) मनोवैज्ञानिक आधारों का समावेश—बालक मे सृजनात्मक शक्ति का भारी खजाना भरा पड़ा होता है। वह स्वभाव से ही निर्माण की ओर अग्रसर होता है। इसी उम्र में वर्तमान शिक्षा ने उसे लगातार पाँच या छः घंटे तक प्रतिदिन स्कूल में बैठने को बाँध दिया है। रचनात्मक प्रवृत्ति वाले चंचल बालक की ज्ञान की तरफ रुचि इतनी देर तक रहना संभव नहीं। अतः वर्तमान शिक्षा से उसे उदासीन होना स्वाभाविक है। परन्तु समवाय पद्धति से चलने वाली नयी तालीम बाल-मनोविज्ञान पर आधारित है। बालक किस प्रकार से काम करना चाहते हैं, उनके करने का भी वैज्ञानिक ढंग क्या है, उसमें शिक्षा की दृष्टि से क्या-क्या किया जा सकता है, यह सब विचार कर बालकों की शिक्षा की योजना तैयार की जाती है। कार्य तथा शिक्षा दोनों को रुचिकर बनाया जाता है। यही इसकी विशेषता है।

इसी प्रकार नयी तालीम को एक ओर जहाँ आज की शिक्षा के दोषों से रहित रक्खा गया है वहाँ दूसरी ओर उसमे आवश्यक गुणों का भी समावेश किया गया है। इस नयी तालीम द्वारा यह अपेक्षा की जा रही है कि यह बापू के सर्वोदय सिद्धान्त द्वारा, हमारे समाज में रामराज्य की स्थापना के स्वप्न को साकार करने में सफल होगी।

सारांश

नयी तालीम जनकल्याण की मंगलकामना एवं स्वावलम्बी भावना द्वारा बालकों में सर्वोदयी समाज की स्थापना करने का प्रयास करती है। सब का उदय ही यही सर्वोदय का अर्थ है।

इसमें पुरानी तालीम के दोषों का निवारण कर निम्न गुणों का समावेश किया गया है:—

१. सत्य, अहिंसा और प्रेम की स्थापना।

२. सर्व उपलब्ध अनिवार्य शिक्षा।

३. स्वावलम्बन को महत्वपूर्ण स्थान।

४. सर्वांगीण विकास की व्यवस्था।

५. दैनिक उपयोग के ज्ञान का समावेश।

६. मनोवैज्ञानिक आधारों का समावेश।

यह आशा की जाती है कि नयी तालीम भारत में बापू के रामराज्य की स्थापना के स्वप्न को साकार करेगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) हमारे देश की उन परिस्थितियों का विवेचन कीजिए जिन्होंने शिक्षा में आमूल परिवर्तन को राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकता बना दिया।

(२) वर्तमान दोषों से रहित, नवीन शिक्षा पद्धति में ऐसे किन गुणों का समावेश किया गया है जिससे वह राष्ट्र की आज की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगी?

(३) अंग्रेजों के समय की शिक्षा जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों में हमारा साथ देने में असमर्थ है" इस कथन की सप्रमाण पुष्टि कीजिये।

—:o:—

नयी तालीम का जन्म एवं विकास

प्रस्तावना—महात्मा गांधी द्वारा लिखित पुस्तक "बुनियादी शिक्षा" की भूमिका में नयी तालीम के जन्म की परिस्थिति का श्री मगनभाई देसाई ने इस प्रकार विवेचन किया है, "मेकॉले की दी हुई आत्मा कालग्रस्त हो गई, तब भी उसका हाड़-पिंजर सीचा जा रहा है और उसी में कुछ स्थापित स्वार्थ सुख का अनुभव करते हैं। अतः मीराबाई के भजन की उस कड़ी की तरह हमारे शिक्षा-तन्त्र की हालत हो गई है, जिसमें कहा है—'उड़ि गयो हंस, पींजर पड़ी तो रह्य' [हंस (जीवात्मा) उड़ गया, पिंजरा (शव) पड़ा रह गया।] शिक्षा के इस निष्प्राण ढांचे को बुनियादी तालीम प्राणवान बनाने वाली है। यह काम गांधी जी जैसे ही कर सकते हैं। इसलिए जब १९३७ में उसका समय नज़दीक आने लगा, तो सहज ही उनकी प्रतिभा से इस योजना का मन्त्र प्रकट हुआ"। इसी बुनियादी तालीम को नयी तालीम या वर्धा शिक्षा-योजना एवं बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा कहते हैं।

नयी तालीम की भूमिका—सन् १९०६ से ही नयी तालीम की भूमिका के रूप में राष्ट्रीय शिक्षा-शास्त्रियों में विचारों का मन्थन चल रहा था। कांग्रेस देशव्यापी शिक्षा-व्यवस्था को बहुत महत्व देती थी, इसी कारण कांग्रेस ने शिक्षा की योजना भी तैयार की। उसने बार-बार यह मत व्यक्त किया कि वर्तमान शिक्षा का तरीका, उद्देश्य व पाठ्य-सामग्री सभी देश की उन्नति में सहायक नहीं हो सकते इसीलिए राष्ट्रीय शिक्षा का संगठन नये ढंग से देशव्यापी पैमाने पर होना चाहिये। असहयोग आन्दोलन के दिनों में भी कांग्रेस ने अपनी देख-रेख में राष्ट्रीय शिक्षा संस्थायें स्थापित कीं। महात्मा जी ने जो कुछ शैक्षणिक प्रयोग किये थे उनके अनुभव भी हरिजन में प्रकाशित होते रहते थे। जिनसे राष्ट्रीय शिक्षा-शृंखला की कुछ कड़ियाँ कभी-कभी नज़र आ जाती थी। यह सब कुछ होने के उपरान्त भी योजना का सम्पूर्ण स्वरूप राष्ट्र के सामने उपस्थित नहीं किया जा सका था।

नयी तालीम का जन्म—२३ अक्तूबर, १९३७ को वर्धा के मारवाड़ी हाई स्कूल के वार्षिकोत्सव के समय आयोजित राष्ट्रीय मनोवृत्ति वाले शिक्षा-शास्त्रियों की एक परिषद् में सभापति पद से महात्मा जी ने जो विचार रक्खे उनका सारांश इस प्रकार है:—

देश की वर्तमान पद्धति किसी भी तरह देश की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती। उच्च शिक्षा की तमाम शाखाओं में अंग्रेजी भाषा को माध्यम बना देने से उच्च शिक्षा पाये हुए मुट्ठी भर लोगों की प्रत्यक्ष जीवन के लिए मानसिक शक्तियाँ पंगु हो गई हैं। उद्योग के शिक्षण के अभाव ने शिक्षितों को उत्पादक कार्य के सर्वथा

अयोग्य बना दिया है। वर्तमान शिक्षा द्वारा जो कुछ भी पढ़ाया जाता है वह भी पढ़ने वाले बहुत जल्दी भूल जाते हैं। इस शिक्षा द्वारा जो भी लाभ होता है उससे देश का प्रमुख कर देने वाला वर्ग वंचित ही रहता है। अतः प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम कम से कम सात साल हो जिसके द्वारा मैट्रिक तक ज्ञान दिया जा सके परन्तु इसमें अंग्रेजी के स्थान पर कोई अच्छा उद्योग जोड़ दिया जाय। सर्वतोमुखी विकास के उद्देश्य से सारी शिक्षा जहाँ तक हो सके उद्योग से दी जावे, जिससे पढ़ाई का खर्च भी अदा हो सके। जरूरी यह है कि सरकार उन बनाई हुई चीजों को राज्य द्वारा निश्चित कीमत पर खरीद लिया करे।

इस प्रकार मातृभाषा के माध्यम द्वारा, मैट्रिक के स्तर की, अंग्रेजी रहित एवं उद्योग पर आधारित, सप्तवर्षीय स्वावलम्बी बुनियादी शिक्षा देश के सामने आई। सम्मेलन में निम्न प्रस्ताव पास हुए :—

१. सात वर्ष की निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो।

२. शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो।

३. वातावरण के अनुकूल उत्पादक उद्योग को केन्द्र बनाकर बालक को प्रत्येक विषय का ज्ञान कराया जाय।

४. स्वावलम्बन की सीमा यहीं तक हो कि उससे शिक्षक का वेतन निकल आवे।

नयी तालीम का विकास—(क) जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट—(दिसम्बर १९३७)—बुनियादी तालीम के विकास एवं विस्तार के लिए एक समिति बनाई गई जिसके अध्यक्ष श्री जाकिर हुसैन चुने गये। सर्वश्री आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, आर्यनायकम्, श्रीमती आशा देवी, के० जी० सैय्यदेन आदि प्रमुख शिक्षा विशेषज्ञ इस समिति सदस्य थे। सर्वांगीण परीक्षण के पश्चात् समिति ने नयी तालीम पर सम्मति प्रदर्शित की जिसके प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं :—

(१) वैयक्तिक दृष्टिकोण—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह शिक्षा-पद्धति बालकों की प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होगी और इस प्रकार उनका शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास कर उन्हें सर्वतोमुखी विकास की ओर अग्रसर करेगी।

(२) सामाजिक दृष्टिकोण—यह शिक्षा सामाजिक दृष्टि से श्रमजीवियों और बुद्धि-जीवियों के भेद को मिटाती हुई एक ऐसे समाज की रचना में सफल हो सकेगी जिसमें जाति-पाँति व ऊँच-नीच का भाव एवं शोषण नहीं होगा। इसमें शिक्षा की दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्ण व्यवस्था है।

(ख) हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव—जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट को हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में प्रस्तुत किया गया। कांग्रेस ने स्वीकार किया कि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की जगह बुनियादी उसूलों के मुताबिक बुनियादी शिक्षा दी जाय। राष्ट्रीय मनोवृत्ति वाले शिक्षा-शास्त्रियों के सम्मेलन में स्वीकृत एवं जाकिर हुसैन समिति द्वारा समर्थित बुनियादी उसूल इस प्रकार थे—(१) सात वर्ष

को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो; (२) शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो; (३) विषय-ज्ञान बालक को वातावरण के अनुकूल उत्पादक उद्योग को केन्द्र बनाकर दिया जावे; एव (४) शिक्षा का स्वरूप स्वावलम्बी हो। इनमे से प्रथम तीन को ही कांग्रेस ने स्वीकार करके अन्तिम अर्थात् 'स्वावलम्बी शिक्षा' वाले उसूल को छोड़ दिया।

वर्धा शिक्षा योजना मे विस्तार, अनुसंधान एवं प्रयोग के लिए एक अखिल भारत-शिक्षा-मंडल (हिन्दुस्तानी तालीमी संघ) की स्थापना का निश्चय किया गया। डा० जाकिरहुसैन और श्री आर्यनायकम् से प्रार्थना की गयी एवं उनको पूर्ण अधिकार दिये गये कि वे महात्मा गांधी की देख-रेख में बुनियादी तालीम का ठोस कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक संघ बनावें और सरकारी और गैर-सरकारी शिक्षा विशेषज्ञों से इस कार्यक्रम को स्वीकार करने की सिफारिश करें। इस संघ को विधान बनाने, चन्दा इकट्ठा करने एवं उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक आवश्यक कदम उठाने का भी अधिकार प्रदान किया गया। इस संघ का अप्रैल सन् १९३९ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के नाम से वर्धा में जन्म हुआ। यह आज भी बुनियादी शिक्षा-क्षेत्र मे देश का पथ-प्रदर्शन कर रहा है।

विभिन्न संस्थाओं एवं प्रान्तों द्वारा नयी तालीम को मान्यता--धीरे-धीरे बुनियादी शिक्षा का क्षेत्र बढ़ता गया। अप्रैल सन् १९३८ में विद्या मन्दिर बेसिक ट्रेनिंग स्कूल की स्थापना हुई। इसी वर्ष जामिया मिलिया—दिल्ली, महाराष्ट्र विद्यापीठ—पूना, आंध्र-जातीय कलाशाला—मसलीपट्टम एव गुजरात विद्यापीठ आदि राष्ट्रीय संस्थाओं ने भी प्रशिक्षण केन्द्रों की व्यवस्था की।

उत्तर प्रदेश, बिहार, बम्बई, काश्मीर तथा मध्यप्रदेश में भी जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट के अनुसार प्राथमिक शिक्षा का निर्माण करने के लिये समितियाँ कायम की गईं। इन समितियों ने जरूरत के मुताबिक कुछ परिवर्तन करके इस योजना के पाठ्यक्रम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार इन प्रान्तों में बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ हुआ।

(ग) खेर समिति की रिपोर्ट (१९३८)—केन्द्रीय परामर्शदात्री शिक्षा समिति ने श्री बी० जी० खेर, शिक्षा मंत्री बम्बई प्रान्त, की अध्यक्षता मे एक समिति का निर्माण किया। श्री खेर के ही कारण इस समिति की रिपोर्ट को खेर समिति की रिपोर्ट के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस समिति का कार्य यह परीक्षा करना था कि वुड एण्ड एब्बॉट रिपोर्ट के प्रकाश में वर्धा शिक्षा-योजना द्वारा शैक्षणिक पुनर्निर्माण कहां तक सम्भव है। खेर समिति की रिपोर्ट के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं :—

१. यह शिक्षा-पद्धति पहले गाँवों में प्रारम्भ की जावे।

२. शिक्षण कार्य के लिये कई उद्योगों से सहायता ली जा सकती है।

३. बुनियादी शिक्षा सात वर्ष के बजाय आठ वर्ष की होनी चाहिये। इस

शिक्षा की अवधि ६ वर्ष से १४ वर्ष तक हो, परन्तु पाँच वर्ष के बालक भी प्रविष्ट किये जा सकते हैं। शिक्षा काल के दो भाग हों—

(अ) जूनियर बेसिक—कक्षा पहली से पाँचवी तक और (आ) सीनियर बेसिक—कक्षा छठी से आठवीं तक।

४. बुनियादी शाला से अन्य स्कूलों में बच्चों का स्थानान्तरण अध्ययन काल की दृष्टि से पाँच वर्ष के पश्चात् एवं उम्र की दृष्टि से ग्यारहवें वर्ष के पश्चात् हो।

५. शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा हो और भाषा नागरी व उर्दू लिपि में हिन्दुस्तानी होनी चाहिये।

६. कुछ सांस्कृतिक विषय जिनका उद्योग से समवाय न हो सके उन्हें स्वतन्त्र रूप से पढ़ाया जाय।

७. प्रशिक्षण का पुनर्गठन कर उसका स्तर उन्नत किया जाय तथा अच्छी शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों को इस धंधे की ओर आकर्षित किया जाय।

८. पूर्व बुनियादी शिक्षा को शुरू करने की जरूरत है, परन्तु साधनों की कमी की हालत में उसे शुरू करनी ठीक नहीं है।

९. कन्याओं की शिक्षा के लिये उनके जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार विषयों का प्रबन्ध होना चाहिए।

१०. बुनियादी शिक्षा के अन्त में आन्तरिक परीक्षा द्वारा ही प्रमाणपत्र दिये जाने की व्यवस्था होनी चाहिये।

११. बुनियादी शालाओं द्वारा निर्मित वस्तुओं के विक्रय के लिये एक केन्द्रीय संगठन होना चाहिये।

केन्द्रीय परामर्शदात्री शिक्षा-समिति ने उपरोक्त सुझावों को मान्यता दी और भारत सरकार व प्रान्तीय सरकारों ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया। यहाँ यह स्पष्ट करना अनिवार्य है, कि मूल वर्धा योजना धीरे-धीरे परिवर्तित होती जा रही है। अवधि की दृष्टि से उसमें १ वर्ष बढ़ गया है। पूर्व-योजना जो एक सम्पूर्ण सप्तवर्षीय योजना थी वह अब दो भाग क्रमशः ५ व ३ वर्ष में विभाजित कर दी गई। योजना के स्वावलम्बन वाले हिस्से को हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव में ही छोड़ दिया गया था। इस कमेटी ने भी इस विषय में केवल इतना ही कहा कि उद्योग के लिये जितना अतिरिक्त व्यय किया जावेगा उतना निकल आवेगा। समवाय अब क्रिया द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त के रूप में ही रह गया और सांस्कृतिक विषयों के स्वतन्त्र शिक्षण की स्वीकृति मिल गई।

(घ) प्रथम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन—पूना (१९३९)— बम्बई सरकार ने अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें गत दो वर्षों के कार्य का सिंहावलोकन किया गया एवं जो समस्याएं आईं उन पर चर्चा की गई। सम्मेलन ने जो निर्णय किये उनमें से कुछ महत्वपूर्ण निर्णय इस .. हैं :—

(१) अंग्रेजी की शिक्षा के जल्दी शुरू करने से भारतीय भाषाओं को भारी हानि पहुँची है। अतः प्रारम्भिक सप्तवर्षीय शिक्षा में अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जानी चाहिये।

(२) बुनियादी शिक्षकों के प्रशिक्षण की पद्धति में फिर भी पर्याप्त विकास बुनियादी स्कूलों के क्रियात्मक अनुभवों द्वारा किया जाना चाहिये और गांव के एवं शहर के शिक्षकों के प्रशिक्षण की एक ही संस्था में व्यवस्था होनी चाहिये जिससे वे समान राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्राप्त कर सकें।

(३) दो वर्षों के अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि समन्वित पद्धति से शिक्षण सम्भव है, फिर भी अप्राकृतिक समवाय से बचना चाहिए। बुनियादी उद्योग के अतिरिक्त सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण भी समवाय के लिये पर्याप्त अवसर प्रदान करते हैं अतः उनका भी लाभ लिया जाना चाहिए। योजना में निहित सभी शैक्षणिक पहलुओं से लाभ प्राप्त हो सके इस हेतु शिक्षकों के उद्योग-प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए, विभिन्न धन्धों के करने वाले व्यक्तियों को अध्यापक बना देना पर्याप्त न होगा।

(४) तुलनात्मक दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है कि वर्तमान माध्यमिक पाठशालाओं पर जो खर्च हो रहा है बुनियादी शिक्षा उसका अधिकांश भाग पूर्ण करने का उद्देश्य रखती है।

बुनियादी शिक्षा का कार्य द्रुतगति से प्रारम्भ हुआ। बम्बई, मध्यप्रदेश तथा मद्रास की सरकारों ने प्रशिक्षण केन्द्र खोले। परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के सम्बन्ध में नीति सम्बन्धी मत-भेद के कारण सन् १६४० में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिये और इस कार्य में शिथिलता आ गई। इसी समय प्रमुख उल्लेखनीय घटना बिहार में घटी। जब वहाँ पर प्रथम मार्च सन् १६४१ में बुनियादी शिक्षा बोर्ड, प्रशिक्षण केन्द्र एवं पन्द्रह बुनियादी स्कूलों को समाप्त कर दिया गया तब श्री गोपबन्धु चौधरी, मन्त्री राजकीय बुनियादी शिक्षा बोर्ड ने राज्यसेवा से त्यागपत्र देकर जनता के प्रतिनिधि के रूप में बुनियादी शिक्षा के कार्य को बारह निःस्वार्थ शिक्षकों के सहयोग से चालू रखने का जिम्मा लिया।

(ख) द्वितीय अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन जामिया नगर—इस सम्मेलन में शिक्षा विभाग बम्बई प्रान्त, उत्तर प्रदेश, बिहार, काश्मीर के प्रतिनिधि एवं कुछ अन्य बुनियादी शालाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सम्मेलन के प्रमुख निर्णय इस प्रकार हैं :—

(१) बुनियादी शालाओं में छात्रों ने शारीरिक और बौद्धिक विकास एवं व्यवहार कौशल की दृष्टि से सन्तोषजनक प्रगति की है। बुनियादी शाला के छात्र अधिक कुशाग्र बुद्धि, अधिक प्रसन्न तथा अधिक आत्म-निर्भर होते हैं। उनमें सहयोग की भावना उत्पन्न हुई है और वे सामाजिक एवं अन्य कुरीतियों से मुक्त होते जा रहे हैं।

(२) समवायी शिक्षा-पद्धति सफल हुई है और भविष्य में इस शिक्षा-प
से और भी अधिक अच्छे फल प्राप्त होने की आशा है।

इस सम्मेलन के पश्चात् दिनांक ९ अगस्त, सन् १९४२ को राष्ट्रपिता मह
गांधी के नेतृत्व में सारे देश में "भारत छोड़ो" आन्दोलन शुरू हुआ। कुछ इनी-
राष्ट्रीय संस्थाएँ ही इस आन्दोलन काल में जीवित रह सकीं। फिर भी यह
है कि इस काल में १९४५ तक इस क्षेत्र की प्रगति रुकी रही। तीन वर्ष में गांधी
जेल से स्वतन्त्र हुए। उन्होंने बाहर आते ही बुनियादी शिक्षा की परिभाषा
पुनर्निर्माण कर उसे विकास की ओर अग्रसर किया। उन्होंने नयी तालीम को "जी
की जीवन द्वारा शिक्षा" कह कर सम्बोधित किया। उन्होंने कहा "मुझे यह स्पष्ट
गया है कि बुनियादी तालीम का क्षेत्र विकसित हो गया है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति
जीवन की प्रत्येक स्थिति (Stage) की शिक्षा शामिल होनी चाहिए।"

(घ) तृतीय अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, सेवाग्राम (१९४५
बुनियादी शिक्षा के इतिहास में इस सम्मेलन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।
सम्मेलन में बुनियादी शिक्षा का विस्तृत स्वरूप सामने आया। महात्मा गांधी ने अ
भाषण में कहा—"अब तक भी हमारी शिक्षा-पद्धति नवीन है और हमें ऐसा म
कि मानो हम अब तक एक खाड़ी में थे जो खुले सागर से सुरक्षित थी और इस त
हम संरक्षित थे। अब हम एक खुले समुद्र में अकेले जा रहे हैं, जहां हमें पथ-प्रदर
केवल ध्रुव तारे से प्राप्त होगा। यह 'ध्रुव तारा' 'ग्रामोद्योग' है। अब हमारा क्षे
केवल सात वर्ष से चौदह वर्ष का बालक नहीं; वरन् अब तो नयी तालीम का क्षे
गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त विकसित है।" पूर्ण परीक्षण के पश्चात् योजना क
सम्मेलन ने जीवन के विकास की चार दशाओं के अनुरूप निम्न चार भागों में बा
दिया :—

(१) प्रौढ़ शिक्षा—जीवन की सभी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा जिसं
मातृ शिक्षा भी सम्मिलित हो।

(२) पूर्व बुनियादी शिक्षा—सात वर्ष से कम आयु के बच्चों की शिक्षा।

(३) बुनियादी शिक्षा—सात से चौदह वर्ष के बालकों की शिक्षा।

(४) उत्तर बुनियादी शिक्षा—चौदह से अठारह वर्ष के उन तरुणों की शिक्ष
जिन्होंने बुनियादी शिक्षा को पूर्ण कर लिया हो।

सम्मेलन ने चार समितियां निर्माण कर, उपरोक्त चारों स्थितियों के अनुरूप
पाठ्यक्रम निर्माण करने का कार्य उन्हें सुपुर्द कर दिया।

महात्मा जी का यह स्वप्न था कि कुछ वर्षों में हमारे गांवों में वास्तविक
समृद्धि के दर्शन होंगे। "यहां स्वच्छता, स्वास्थ्य, शान्ति एवं प्रसन्नता का राज्य होगा,
अगर ऐसा न हुआ तो मैं यह मानूंगा कि हमारे नयी तालीम सम्बन्धी कार्य में कोई
त्रुटि है।" इसी अवसर पर हिन्दुस्तानी तालीमी संघ से पाठ्यक्रम नये सिरे से
निर्धारित करने की प्रार्थना की गई।

तालीमी संघ ने फरवरी सन् १९४६ में बुनियादी स्कूलों के नवीन पाठ्यक्रम तैयार करने के लिये एक समिति का निर्माण किया, जिसमें निम्न सदस्य थे :—

(१) श्री सैयद अंसारी।

(२) श्री सलामत उल्लाह।

(३) बिहार का एक प्रतिनिधि।

(४) श्रीमती शान्ता नारुलकर।

(५) श्रीमती आशा देवी (संयोजिका)।

पाठ्यक्रम की संक्षिप्त रूप-रेखा निम्न प्रकार थी :—

(१) उद्योग, (२) मातृभाषा, (३) गणित, (४) सामाजिक विषय, (५) सामान्य-विज्ञान, (६) कला—चित्रकारी, संगीत और मनोरंजन कार्य आदि (७) व्यायाम तथा स्वास्थ्य-रक्षा।

सीनियर विभाग के लिये उद्योग निम्न प्रकार के होने चाहिएँ :—

(१) कताई-बुनाई, (२) बागवानी, (३) बढ़ईगीरी, (४) मिट्टी-कुट्टी का काम, (५) धातु का काम, (६) गत्ते का काम, (७) चमड़े का काम, (८) अन्य घरेलू काम।

पाठशाला का समय-विभाग-चक्र ऐसा होना उपयुक्त है :—

"अ" उद्योग व सम्बन्धित ज्ञान—	—	२॥ घंटा
"आ" अन्य विषय—		
(१) गणित	... ... २० मिनट	३ घंटा
(२) मातृभाषा	... ... ४० मिनट	
(३) समाज विज्ञान व सामान्य विज्ञान	६० मिनट	
(४) कलात्मक कार्य	... ... ४० मिनट	
(५) व्यायाम	... ... २० मिनट	

सन् १९४६ से ही प्रान्तों में पुनः कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हुई। श्री बी० जी० खेर ने प्रान्तों के शिक्षा मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन के प्रमुख निर्णय इस प्रकार हैं :—

(१) बुनियादी शिक्षा के प्रयोग की दशा अब समाप्त हो चुकी है, अतः अब प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय स्तर पर इस योजना को प्रारम्भ कर देना चाहिये।

(२) शिक्षा के प्रारम्भिक सात वर्षों में अंग्रेजी का कोई स्थान न हो।

(३) शारीरिक हित का आयोजन सभी शालाओं में होना चाहिये।

(ख) चतुर्थ अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन-विक्रम (बिहार) (१९४८)—सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। इसके पश्चात् से ही प्रतिवर्ष नयी तालीम सम्मेलन होते हैं। विभिन्न विषयों पर पूर्ण विवेचन के पश्चात् निर्णय किये जाते हैं। अप्रैल सन् १९४८ में सम्मेलन ने नयी तालीम के प्रति अपने पुराने संकल्प को फिर से दोहराया और स्पष्ट किया कि वह पूज्य बापू की विचारधारा की समाज रचना करने का एक शक्तिशाली अस्त्र है। वे उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हर

कठिनाई का मुकाबला करने को तैयार हैं। श्रीमती आशा देवी ने अपनी रिपो
महात्मा जी के शब्दों को दुहराया कि स्वावलम्बी शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है।
तालीम को सच्चे अर्थ में एक नयी सामाजिक अवस्था की स्थापना करनी है कि
सब व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ति में ही स्वावलम्बी नहीं होंगे वरन् वे बौ
एवं आत्मिक दृष्टि से भी स्वावलम्बी होंगे।

सार्जेंट रिपोर्ट के आधार पर ४० वर्ष में सम्पूर्ण भारत में बुनियादी शि
लागू की जा सकती थी। इतने लम्बे समय तक कोई राष्ट्र अपने नागरिकों
अशिक्षित नहीं रख सकता। इसी कारण इसका समाधान ढूंढ निकालने हेतु
१६४८ में ही श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की गई।

(ज) खेर समिति की रिपोर्ट (१६४८)—इस समिति की रिपोर्ट के प्र
बिन्दु इस प्रकार हैं :—

१. सारे देश में १६ वर्ष मे ही अनिवार्य बुनियादी शिक्षा लागू की
सकती है।

२. बुनियादी शिक्षा के व्यय का ३० प्रतिशत केन्द्रीय सरकार को तथा
राजकीय सरकारों को उठाना चाहिये।

भारतीय संविधान के अनुसार १४ वर्ष तक के लड़के-लड़कियों के लि
आगामी १० वर्षों में अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था के लिये राज्य उत्तरदायी है
विभिन्न राज्य अपनी-अपनी सभी प्राथमिक शालाओं को बुनियादी शालाओं में प
र्वतित करने के कार्य में अग्रसर हो रहे हैं एवं प्राथमिक शिक्षा विस्तार योजना
अन्तर्गत अब केवल बुनियादी पाठशालायें ही खोली जा रही हैं।

(झ) पंचम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन—परिनायकंपलयं-
(१६४६)—मई सन् १६४६ मे कोयम्बटूर के निकट परिनायकंपलयं में यह सम्मेल
हुआ। इसमें श्री विनोबा जी ने उद्घाटन भाषण मे निम्न विचार रक्खे :—

(१) मुझे विश्वास है कि सर्वोदय समाज के निर्माण का सर्वश्रेष्ठ मार्ग नर
तालीम है।

(२) बुनियादी तालीम जब सरकारी तन्त्र का अंग बन जायेगी तब इसक
क्या रूप होगा यही एक प्रश्न है? एक कहावत है "मैंने गणपति के निर्माण का य
किया और बन्दर बन गया' इस प्रकार इसका स्वरूप कहीं इतना विकृत न हो जा
कि इसे पहचानना ही कठिन हो जाये। जब नयी शराब पुरानी बोतलों में भरी जाती
है तो ऐसा फल अवश्यम्भावी है। इसी कारण शिक्षा विशेषज्ञों को इस खतरे का
मुकाबला करने को तैयार रहना चाहिये। नयी तालीम को विकृत होने से बचाने के
लिये आदर्श पाठशालायें स्थापित की जायें।

(३) सात वर्ष के स्थान पर चार वर्ष के नई तालीम के पाठ्यक्रम को स्वीकार
करने की प्रान्तों की नीति भी उपयुक्त नहीं है।

सभापति के पद से भाषण देकर श्री जाकिर हुसैन ने निम्न बिंदुओं को स्पष्ट
किया :—

(१) इस उद्देश्य को सामने रखकर कि हम अपने देश में एक अच्छी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने जा रहे हैं, यह आवश्यक है कि भावी समाज के कुछ सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति, कार्यालयों के अधिक फलदायी पदों की ओर आकर्षित न होकर, शिक्षा के क्षेत्र में आजीवन योग देने को तैयार हों।

(२) अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं के समान शिक्षक को अधीर होने का किंचित भी अधिकार नहीं है। धैर्य की दृष्टि से माता के अतिरिक्त, अन्य सबसे अधिक धैर्यवान् व्यक्ति एक अच्छा शिक्षक ही होता है।

(३) उनके इस भाषण का अन्तिम वाक्य इस प्रकार है—"अगर हम प्रेम, और प्रेम ही नहीं श्रद्धा, बच्चों के लिये पैदा करलें तो हम अच्छे शिक्षक बन सकते हैं। हम नहीं जानते कि किस बालक में एक पैगम्बर, या एक सिद्ध पुरुष, या एक नेता छिपा पड़ा है।

(ञ) षष्ठम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन—आंगुल (१६५०)—अप्रैल सन् १६५० में आंगुल (उड़ीसा) में यह सम्मेलन श्री माधव मेनन, शिक्षा मंत्री मद्रास सरकार की अध्यक्षता में हुआ। अध्यक्ष के भाषण के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं:—

(१) न्यायपूर्ण समाज की रचना बुनियादी शिक्षा के आधार पर ही हो सकती है। शिक्षा की वर्तमान स्थिति बड़ी भयानक है और केवल बुनियादी शिक्षा ही इस भयावह स्थिति से देश को बचा सकती है और भारत की शैक्षणिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकती है।

(२) बुनियादी शिक्षा के आलोचक इसे अब भी प्रयोगात्मक परिस्थिति में ही रखना चाहते हैं क्योंकि इसी दशा में उसमें समायोजन (Adjustments), परिवर्तन एवं सुधार सम्भव हैं, परन्तु हमें यह स्पष्ट समझना है कि प्राचीन यूनानी एवं रोमन काल से आज तक कोई भी शिक्षा व्यवस्था अन्तिम रूप में स्वीकार नहीं की गई है।

(ट) सप्तम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, सेवाग्राम (१६५१)—अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन का सातवां अधिवेशन २८ फरवरी से ५ मार्च १६५१ तक सेवाग्राम में हुआ। यह सम्मेलन श्री बद्रीनाथ वर्मा, शिक्षा मन्त्री, बिहार की अध्यक्षता में हुआ था। इस सम्मेलन में बुनियादी शिक्षा की वर्ष भर की प्रगति की रिपोर्ट प्रस्तुत की गई जिसमें केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारें एवं गैर-सरकारी संस्थाओं के बुनियादी शिक्षा के विकास और प्रसार की सराहना की गई। सम्मेलन में विभिन्न गोष्ठियों ने भी अपनी-अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस सम्मेलन में ग्रामीण विश्व-विद्यालय पर अधिक विचार-विमर्श किया गया। शिक्षा में ग्रामवासियों से अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने पर बल दिया गया। यह भी निर्णय लिया गया कि अध्यापकों को यह सुझाव जाय कि समवाय को अधिक सफल बनाने के लिये सत्र के प्रारम्भ में ही पूरे सत्र भर की योजना बन जानी चाहिये।

(ठ) अष्टम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, सेवाग्राम (१९५२)—सन् १९५२ के अक्तूबर मास में अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा का आठवां सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण था कि सातवें सम्मेलन में ग्राम विश्व विद्यालय पर दिये गये बल के फलस्वरूप पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा सेवाग्राम में ग्राम विश्व विद्यालय की स्थापना की गई। यह ग्राम विश्व विद्यालय के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम प्रयोग था। इस सम्मेलन में बुनियादी शिक्षा की प्रगति पर प्रकाश डाला गया तथा विभिन्न विचार गोष्ठियों ने अपनी रिपोर्टें उपस्थित कीं।

(ड) नवम् अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, टीटावर (आसाम) (१९५३)—अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन का नवाँ वार्षिक अधिवेशन *सन् १९५३ में टीटावर, आसाम में हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष श्री काकासाहेब* कालेलकर थे। सम्मेलन मे बुनियादी शिक्षा की प्रगति की वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। इस सम्मेलन मे बुनियादी शालाओं मे उत्सव के महत्व एवं उनके मनाये जाने की प्रणाली, पाठ्यक्रम, स्वावलम्बन तथा शिक्षक प्रशिक्षण विषयों पर अधिक विचार-विमर्श हुये।

बुनियादी शालाओं में उत्सव के महत्व पर विचार करते हुए यह निर्णय लिया गया कि विभिन्न सामाजिक, राष्ट्रीय उत्सवों को बुनियादी शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग माना जाना चाहिए। इन उत्सवों के मानने की निश्चित योजना होनी चाहिए जिससे न केवल बालकों मे अपितु शाला के आस-पास के सम्पूर्ण वातावरण मे सामाजिक सहयोग, श्रम-सौंदर्य बोधन, सादगी, कलात्मकता, मानव धर्म, आनन्द प्राप्ति, सांस्कृतिक महत्ता आदि को पूर्णरूपेण स्थान मिलकर इनका विकास हो।

पाठ्यक्रम सम्बन्धी यह निर्णय लिए गए कि छात्रों एवं शिक्षकों की दृष्टि से उपयोगी साहित्य की रचना की जाये। समवाय के लिए अधिक क्रियाओं को शाला में स्थान दिया जाय तथा अन्य आवश्यक उपयोगी उद्योग जैसे कुम्हारी, बढ़ईगिरी *आदि को भी शालाओं मे प्रारम्भ किए जायें।*

शिक्षक प्रशिक्षण की दृष्टि से यह निर्णय लिए गये कि प्रशिक्षण अवधि कम से कम एक वर्ष हो। अध्यापकों में सहयोग एवं सहकारिता, कर्मनिष्ठा, स्वावलम्बन के प्रति प्रेम सम्बन्धी भावना तथा सामुदायिक विकास केन्द्र के रूप में शाला को चलाने की योग्यता बढ़ानी चाहिये।

(ढ) दशम् अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, सणोसरा (१९५४)—अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा का दसवां सम्मेलन १० नवम्बर से १४ नवम्बर सन् १९५४ तक सणोसरा (सौराष्ट्र) में हुआ। यह सम्मेलन श्री काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में संपादित हुआ था। इस सम्मेलन में बुनियादी शिक्षा की वार्षिक को रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। साथ ही भूदान एवं बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़शिक्षा, बुनियादी शिक्षा तथा बुनियादी शिक्षा पर अनुसंधान विषयों पर अधिक प्रकाश गया।

बुनियादी शिक्षा के सभी स्तरों पर अर्थात् पूर्व-बुनियादी शिक्षा से लगा कर उत्तर-बुनियादी शिक्षा तक तथा शिक्षक प्रशिक्षण के साथ भूदान कार्य को सम्बन्धित किया जाना चाहिये। इस प्रकार से भूदान की भावना का पूर्ण प्रसार होगा।

प्रौढ़-शिक्षा एवं समाज-शिक्षा पर यह निर्णय लिया गया कि कथा-कहानी, भजन-मडली, उत्सव-मेलों के आयोजन, ग्राम-सफाई, नाटक-प्रदर्शन आदि कार्यक्रमों द्वारा समाज शिक्षा का प्रसार किया जाना चाहिये तथा सरकार से यह मांग की जानी चाहिये कि समाज-शिक्षा के कार्यकर्त्ताओं को आर्थिक सहयोग देवे।

उत्तर-बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी यह निर्णय लिया गया कि स्वावलम्बन ही उत्तर-बुनियादी शिक्षा का साधन माना जाना चाहिये तथा ऐसे प्रयत्न किए जाने चाहियें जिनके द्वारा समाज का पूर्ण विकास हो।

बुनियादी शिक्षा में अनुसंधान कार्य के लिए समस्यायें उपस्थित की, जिनमें विशेषकर नई तालीम और जीवन का व्यावहारिक पक्ष, नयी तालीम के प्रसार मे बाधायें, नयी तालीम मे परीक्षा विषयों पर शोध-कार्य करने के लिए सम्मेलन का ध्यान आकर्षित किया गया।

(ए) एकादश अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, कांचीपुरम् (१६५६)—अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा का ग्यारहवां सम्मेलन कांचीपुरम् में मे हुआ था। यह सम्मेलन श्री काकासाहेब कालेलकर की अध्यक्षता मे हुआ। सम्मेलन में बुनियादी शिक्षा की वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। सम्मेलन मे निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये गये :—

(१) पूज्य विनोबा जी की घोषणा, कि—भूदान यज्ञ द्वारा ग्राम राज्य की स्थापना के लिए नयी तालीम को समग्र ग्राम-रचना का एक अनिवार्य अंग मानकर इसका प्रयोग वे स्वयं तामिलनाड में करेंगे,—के अनुसार नयी तालीम के सभी कार्यकर्त्ताओं का यह कर्त्तव्य है कि वे इसे सफल बनाने मे पूरी शक्ति लगा दें।

(२) बुनियादी शालाओं मे शिक्षित छात्र-छात्राओं के लिए उच्च शिक्षा के मार्ग प्रशस्त करने के लिये यह आवश्यक है कि जिस प्रकार गैर-बुनियादी प्राथमिक शालाओं को प्राथमिक शालाओं मे परिवर्तित किया जा रहा है उसी प्रकार सब विश्वविद्यालयों का भी योग्य परिवर्तन हो।

(३) नई तालीम द्वारा ग्राम-पुनर्रचना मे सभी कार्यकर्त्ताओं को जुट जाना चाहिये।

(४) केन्द्रीय सरकार को यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि माध्यमिक शिक्षा का रूप भी अब बुनियादी शिक्षा का विकसित रूप हो और विश्वविद्यालय की शिक्षा भी नई तालीम के सिद्धान्तों पर आधारित हो। सरकार को इसे क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक ठोस प्रबन्ध करने चाहियें।

(५) लोक-शक्ति जाग्रत करने के लिए नई तालीम के कार्यकर्त्ताओं को पद-यात्रायें कर जनता मे प्रवेश करना चाहिये ताकि बुनियादी शिक्षा की पृष्ठ-भूमि जनता मे जम सके।

(त) अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, हंसमावी, (१९५८)—अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा का सम्मेलन सन् १९५८ में हंसमावी में हुआ। इस सम्मेलन में विशेषतया गैर प्राथमिक शालाओं को बुनियादी शालाओं में परिवर्तित करने तथा उद्योग के विषय पर निर्णय लिये गये।

गैर बुनियादी शालाओं को बुनियादी शालाओं में परिवर्तित करने के कार्य में शीघ्रता आनी चाहिये। इन शालाओं को बुनियादी शालाओं में परिवर्तित करते समय एक साथ २ या ३ कक्षाओं का परिवर्तन किया जाय। परंपरित शालाओं को परिवर्तन के पूर्व ही बुनियादी शाला की दृष्टि से पुनर्गठित करना प्रारम्भ कर देना चाहिये ताकि परिवर्तन में विलम्ब व आपत्तियाँ न हों।

उद्योग के लिए ये निर्णय लिए गये कि उद्योग-कार्य में प्रमुख बल उसकी उपयोगिता और उत्पादन पर दिया जाना आवश्यक है। प्रान्तीय सरकारों और खादी भण्डारों को छात्रों के द्वारा उत्पादित सामग्री के विक्रय की व्यवस्था करनी चाहिये।

(थ) चतुर्दश अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, पंचमढ़ी (१९६१)—*अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन का चौदहवां अधिवेशन,* पंचमढ़ी, मध्य-प्रदेश में ११ सितम्बर सन् १९६१ को हुआ। इसके अध्यक्ष श्री जी० रामचन्द्रन् थे। *इस सम्मेलन का उद्घाटन भारत के शिक्षा मन्त्री डा० कालूलाल श्रीमाली ने किया।* योजना आयोग के सदस्य श्री मन्नारायण ने भी अपने विचार व्यक्त किये। इस *सम्मेलन में निम्न बिन्दुओं पर अधिक बल दिया गया :—*

(१) मध्य प्रदेश तथा अन्य प्रान्तों में जितने भी गैर-बुनियादी प्रशिक्षण स्कूल *और कालेज हैं उनको तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में बुनियादी प्रशिक्षण स्कूलों व* कालेजों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय।

(२) *नये बुनियादी प्रशिक्षण स्कूल व कालेज खोले जायें।*

(३) मौजूदा गैर-बुनियादी स्कूलों को बुनियादी स्कूलों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाना चाहिये। इन स्कूलों में *विद्यार्थियों को वैज्ञानिक आधार पर दस्त-*कारी सिखाई जानी चाहिये।

(४) *बुनियादी तालीम केवल देहातों तक ही सीमित न रखी जाय।* शहरी क्षेत्रों में भी इसका विस्तार किया जाना चाहिये।

(५) *सरकारी अफसरों व गैर सरकारी महानुभावों की एक 'अखिल भारतीय* बुनियादी तालीम कौंसिल' स्थापित की जाय। यह संस्था स्वायत्त होनी चाहिये और बुनियादी तालीम देने वाली तमाम संस्थायें इसी से आबद्ध होनी चाहियें। कौंसिल के सदस्यों का चुनाव भारत के शिक्षा मंत्री तथा आचार्य विनोबा भावे करें।

उपसंहार—प्रति वर्ष यह तालीम सम्मेलन निश्चित योजनानुसार विभिन्न स्थानों पर होते रहे हैं। इन सम्मेलनों का उद्देश्य यही रहा है कि बुनियादी तालीम की *सर्व स्तर की प्रगति से राष्ट्र परिचित हो जाय एवं शिक्षा-शास्त्री सहित समस्याओं का*

समाधान ढूंढकर भावी प्रगति एवं विकास के लिए तैयार हो सकें। बापू जी तो अपने शिक्षा दर्शन पर निम्न शब्दों में अन्तिम छाप लगाने के पश्चात् शहीद हो गए—अब शेष कार्य का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय शिक्षा-शास्त्रियों पर है। बापू के अन्तिम शब्द इस प्रकार थे—"बुनियादी तालीम को साधारणतः उद्योग द्वारा शिक्षा कहते हैं। यह किसी हद तक सत्य है। परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। नई तालीम की जड़ें अधिक गहरी हैं। यह व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सत्य और अहिंसा पर आधारित है। शिक्षा वही है जो सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करती है।......यह सत्य है कि शिक्षा सुलभ एवं सर्व उपलब्ध होनी चाहिये।......शिक्षा पुस्तक के शुष्क पृष्ठों द्वारा नहीं वरन् यह तो केवल जीवन रूपी पुस्तक द्वारा ही सम्भव है। इसमें अर्थ के व्यय की आवश्यकता नहीं।......इसमे सम्प्रदायवाद एव रूढ़िवाद को कोई स्थान नहीं। यह शाश्वत सत्य का पाठ पढ़ाती है जो सर्व धर्म स्वीकृत है।......अहिंसा एवं सत्य में विश्वास रखने वाले व्यक्ति ही नई तालीम के शिक्षक बन कर प्रभावोत्पादक अध्यापन कर सकते हैं। तभी वे कठोरातिकठोर हृदयो के लिए भी चुम्बक बन सकते हैं। नई तालीम के शिक्षक में गीता के द्वितीय अध्याय मे उल्लिखित विशेषताओं का समावेश होना नितान्त आवश्यक है।"

सारांश

प्रस्तावना—वर्तमान शिक्षा की स्थिति मीराबाई के उस पद के अनुसार है जिसमें कहा है—"उड़िगयो हंस, पींजर पड़ो तो रह्यूं।"

नई तालीम की भूमिका—सन् १९२६ से ही पूज्य महात्मा जी ने नवीन शिक्षा की रूपरेखा पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया था।

नई तालीम का जन्म—सन् १९३७ में महात्मा जी ने बुनियादी तालीम की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसमें राष्ट्र के लिये उद्योग केन्द्रित, मातृभाषा के माध्यम द्वारा, सात वर्ष की निःशुल्क, अनिवार्य, स्वावलम्बी शिक्षा प्रस्तावित की गई।

नई तालीम का विकास—(क) जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट ने सन् १९३७ में यह स्वीकार किया कि वैयक्तिक एवं सामाजिक दृष्टि उपयुक्त होने के साथ यह वर्ग रहित समाज की रचना में सफल होगी।

(ख) हरिपुरा कांग्रेस ने जाकिर हुसैन समिति द्वारा समर्थित मूल योजना को स्वीकार कर 'स्वावलम्बन' वाले बिन्दु को छोड़ दिया—एवं हिन्दुस्तानी तालीम संघ की स्थापना का निश्चय किया।

(ग) सन् १९३८ में खेर समिति की स्थापना हुई जिसने इस शिक्षा को पहले गांवों में शुरू करने का सुझाव दिया। बुनियादी तालीम की अवधि को एक साल बढ़ाकर दो भागों में विभक्त कर दिया एवं ऐसे विषय जिनमें समवाय सम्भव न हो उन्हें स्वतन्त्र पढ़ाने की अनुमति दे दी। केन्द्रीय परामर्श-दात्री समिति ने इस समिति के सुझावों को मान्यता दे दी एवं केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने भी इन सुझावों को स्वीकार कर लिया।

(घ) सन् १६३६ में प्रथम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन पूना में यह निर्णय हुआ कि अंग्रेजी को प्रथम ७ वर्ष की शिक्षा से वर्जित किया जाना चाहिए, शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए, एवं समवाय के हेतु प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का भी उपयोग किया जा सकता है। इन पाठशालाओं के खर्च का कुछ अंश भी उद्योग की आय से पूर्ण हो सकता है।

(ङ) उपरोक्त प्रकार का द्वितीय सम्मेलन सन् १६४० में जामिया नगर दिल्ली में हुआ। इसमें यह मत व्यक्त किया गया कि इस शिक्षा से छात्रों को पर्याप्त लाभ हो रहा है और समवायी पद्धति सफल हो रही है।

(च) तृतीय सम्मेलन सन् १६४५ में सेवाग्राम में हुआ। यह बुनियादी शिक्षा के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। अब इस शिक्षा का क्षेत्र गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त विकसित मान लिया गया। इस विकास को चार भागों में बाँट दिया जो क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रौढ़ शिक्षा, पूर्व बुनियादी शिक्षा, बुनियादी शिक्षा और उत्तर बुनियादी शिक्षा। सन् १६४६ में बुनियादी स्कूलों के नवीन पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए एक समिति का भी निर्माण किया गया।

(छ) उपरोक्त प्रकार का चतुर्थ सम्मेलन विकरम (बिहार) में सन् १६४८ में हुआ। इसमें नयी तालीम के प्रति पुराने संकल्प को दुहराया गया एवं स्वावलम्बन के आर्थिक, बौद्धिक एवं आत्मिक पहलू पर बल दिया गया।

(ज) खेर समिति की स्थापना सन् १६४८ में सार्जेंट योजना के अनुसार ४० वर्ष में अनिवार्य बुनियादी शिक्षा के भारत में लागू करने की अवधि पर विचार करने के हेतु की गई। इस समिति ने व्यक्त किया कि उपरोक्त कार्य १६ वर्ष में हो सकता है और बुनियादी तालीम के व्यय का ३०% केन्द्रीय सरकार एवं शेष राज्य सरकारें उठावें।

(झ) पंचम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन सन् १६४६ में परिनायकम्पलयं में हुआ। इस अवसर पर उद्घाटन भाषण में श्री विनोबा जी ने कहा कि बुनियादी तालीम के द्वारा ही देश में सर्वोदय समाज की स्थापना सम्भव है। बुनियादी तालीम जब सरकारी तन्त्र का अंग बन जावे उस समय उसे विकृत होने से बचाने का कार्य शिक्षा-विशेषज्ञों का है।

(ञ) उपरोक्त प्रकार का सम्मेलन सन् १६५० में अंगुल (उड़ीसा) में हुआ। अध्यक्ष श्री माधव मेनन ने शिक्षा की वर्तमान परिस्थिति पर प्रकाश डालकर यह विश्वास व्यक्त किया कि न्यायपूर्ण समाज की रचना केवल बुनियादी तालीम के आधार पर ही हो सकती है।

(ट) सप्तम् अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन सन् १६५१ में सेवाग्राम में हुआ। इसमें ग्रामीण विश्वविद्यालय, ग्रामवासियों से संपर्क तथा अध्यापकों को समारम्भ में वर्ष भर की योजना बनाकर समवाय को सफल बनाने पर अधिक बल दिया गया।

(ठ) अष्टम् अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन सन् १९५२ में सेवाग्राम में हुआ। इस अवसर पर पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा सेवाग्राम में ग्राम विश्वविद्यालय की स्थापना की गई।

(ड) नवम् अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन टीटावर (आसाम) में सन् १९५३ में हुआ। विभिन्न सामाजिक उत्सव, राष्ट्रीय पर्व, सामाजिक त्यौहार, स्थानीय मेले आदि को बुनियादी शिक्षा का अंग माना जाने के लिए तय हुआ। उपयोगी साहित्य की रचना के लिये प्रयास किये जाने का निर्णय हुआ।

(ढ) दशम् अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन सणोसरा (सौराष्ट्र) में सन् १९५४ में हुआ। इसमें भूदान एवं बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, उत्तर बुनियादी शिक्षा तथा बुनियादी शिक्षा पर अनुसन्धान करने पर विशेष बल दिया गया।

(ण) एकादश अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन कांचीपुरम में सन् १९५६ में हुआ। इसमें विनोबा जी की घोषणा, भूदान द्वारा ग्राम राज की स्थापना, पर सभी कार्यकर्त्ताओं के जुट जाने का निश्चय हुआ।

(त) अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन सन् १९५८ में हँसभावी में हुआ। इसमें प्राथमिक शालाओं को बुनियादी शालाओं में परिवर्तित करने के निर्णय लिये गये।

(थ) चतुर्दश अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन पंचमढ़ी में हुआ, जिसमें बुनियादी शिक्षा के शहरों में प्रसार पर अधिक बल दिया गया।

उपसंहार—इसी प्रकार प्रतिवर्ष अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन का आयोजन होता रहा है। वर्ष भर की प्रगति पर विवेचन होने के साथ उस वर्ष में उत्पन्न समस्याओं का समाधान ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया जाता है। बुनियादी तालीम के भावी विकास का उत्तरदायित्व अब केवल शिक्षा-विशेषज्ञों पर ही है। पूज्य बापू तो शहीद होने के कुछ दिन पूर्व इस पर अपनी अन्तिम छाप लगा चुके—"..........नई तालीम की जड़ें व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सत्य और अहिंसा पर आधारित हैं।..........अहिंसा एवं सत्य में विश्वास रखने वाले व्यक्ति ही नई तालीम के शिक्षक बनकर प्रभावोत्पादक अध्ययन कर सकते हैं।.........."

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) मूल वर्धा योजना के मुख्य अंगों को स्पष्ट करते हुए यह विवेचन कीजिये कि वह राष्ट्र की आवश्यकताओं की किस प्रकार पूर्ति करती है?

(२) मूल वर्धा योजना को राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का स्वरूप धारण करने तक जिन-जिन निरीक्षणों एवं परीक्षणों में गुजरना पड़ा उनका ऐतिहासिक वृत्तान्त लिखिए।

(३) भारत में बुनियादी शिक्षा की प्रगति पर एक निबन्ध लिखिए।

(४) बुनियादी तालीम को राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के आसनासीन करने में महात्मा गाँधी जी के अतिरिक्त जिन-जिन शिक्षा विशेषज्ञों ने योग दिया उनकी सेवाओं का सविस्तार वर्णन कीजिए।

—:०:—

बुनियादी तालीम के उद्देश्य

हमारे राष्ट्र की वर्तमान शिक्षा केवल बौद्धिक होने के कारण शारीरिक मानसिक एवं हृदय के विकास का उपयुक्त अवसर प्रदान नहीं करती। इस कमी की पूर्ति हेतु बुनियादी तालीम का जन्म हुआ। महात्मा जी अन्य शिक्षा विशेषज्ञों की तरह शिक्षा के केवल एक ही उद्देश्य से सन्तुष्ट नही थे। उन्होंने भी एक से अधिक उद्देश्य प्रस्तुत किये। जिससे मानव-जीवन के सभी अंगों को प्रभावित किया जा सके। महात्मा गांधी से किसी ने पूछा कि भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् शिक्षा का क्या उद्देश्य होगा ? उन्होंने उत्तर दिया—चरित्र-निर्माण।

चरित्र-निर्माण—महात्मा जी के शब्दों में स्कूल और कॉलेज चरित्र-निर्माण की उद्योगशालाएं हैं। वहां पर बालकों को अपने अन्तर की खोज करनी है और व्यक्तिगत चरित्र की रक्षा करनी है क्योंकि वैयक्तिक पवित्रता के अभाव में शिक्षा का कोई मूल्य नही। ज्ञान-प्राप्ति का अन्तिम उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। सच्ची शिक्षा अक्षर-ज्ञान में नही वह तो चरित्र-निर्माण में ही निहित है: पुस्तकों के पृष्ठ से नहीं, वरन् शिक्षकों के जीवन से और सच कहा जावे तो व्यक्ति के अन्तर से चरित्र का प्रादुर्भाव होता है। बुनियादी तालीम का सर्वप्रथम उद्देश्य चरित्र-निर्माण माना गया है।

सा विद्या या विमुक्तये (स्वतन्त्रता)—चरित्र-निर्माण के पश्चात् दूसरा स्थान महात्मा जी ने शिक्षा के उद्देश्यों में स्वतन्त्रता को दिया। राजनैतिक स्वतन्त्रता के सीमित क्षेत्र से विकसित एक ऐसी स्वतन्त्रता से यहां अर्थ है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो। स्वतन्त्रता का शाब्दिक अर्थ है सब प्रकार से दासत्व से मुक्ति। कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है जब तक कि वह आर्थिक स्वतन्त्रता, जिसके अन्तर्गत वस्त्र, भोजन, एवं शरणस्थान आते हैं, प्राप्त न करले। वह तब तक स्वतन्त्र नहीं जब तक कि उसे राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त न हो और वह तब तक भी स्वतन्त्र नहीं जब तक कि उसे बौद्धिक एवं मानसिक स्वतंत्रता प्राप्त न हो। गुजरात विद्यापीठ जिसकी पूज्य महात्मा जी ने सन् १९२० में स्थापना की थी उसका आदर्श था 'सा विद्या या विमुक्तये' जिसका अर्थ है विद्या वही है जो मुक्ति एवं स्वतन्त्रता प्रदान करे। हिन्दू दर्शन के अनुसार मानव माया के बंधन मे बँधा हुआ है। वास्तव में प्रत्येक मानव के दो स्वरूप हैं एक बाह्य जो संसार से सम्बन्धित है और दूसरा आन्तरिक जो आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित होकर आवागमन के बन्धनो में बँधा हुआ है। बाह्य स्वतन्त्रता की पूर्णता के पश्चात् आन्तरिक स्वतन्त्रता का प्रारम्भ होता है। क्योंकि भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के बिना आत्मज्योति दैदिप्यमान नहीं होती। [illegible] के मतानुसार मानव के सामने सब से बड़ा काम इस आत्मा को बन्धन से मुक्त

एवं स्वतन्त्र करता है और शिक्षा वही है जो मानव के इस उद्देश्य में सहायक हो सके।

आत्मज्ञान—महात्मा गांधी शिक्षा के अन्तिम उद्देश्य के रूप में आत्मज्ञान को प्रस्तुत करते हैं। यह हमारे राष्ट्र, संस्कृति एवं दार्शनिकों की विचारधारा के अनुकूल है। आत्मज्ञान के उद्देश्य को शिक्षा विशारद श्री जौन-ग्रादम ने भी प्रस्तुत किया है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में महात्मा जी ने इस उद्देश्य पर बल देना बन्द कर दिया था। वे एक व्यावहारिक पुरुष थे और यह समझते थे कि मेरा सम्बन्ध राष्ट्र के करोड़ों नागरिकों की शिक्षा से है जो अज्ञान के अन्धकार में पड़े हुए हैं। उनको आत्मज्ञान होना तो बहुत दूर की बात है, पहले तो यह आवश्यक है कि उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। आत्मज्ञान का आदर्श बहुत सुन्दर है परन्तु इसके क्रियान्वित होने के लिए उपयुक्त वातावरण चाहिए। अतः ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए जहाँ शान्ति हो, किसी भी वस्तु का अभाव न हो और समृद्धि का राज्य हो। इस सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रयत्न के साथ ही साथ अगर "आत्मज्ञान" का आदर्श भी लगातार दृष्टि के सामने रक्खा जावे तो निश्चित ही यह संसार आज की तुलना में अधिक अच्छा बन सकेगा और आज जो वैमनस्य और वैर-भाव स्थित हैं वे समाप्त हो जावेंगे। इस प्रकार भूमंडल पर स्वर्ग की स्थापना हो सकेगी।

उद्देश्यों के प्रमुख दो भाग—महात्मा गांधी वैदिक काल से आगे के दार्शनिकों के समान निकटस्थ वर्तमान की बजाय सत्य की अन्तिम सीमा की दृष्टि से सोचने के आदी थे। वे वर्तमान को तो केवल सर्वोच्च उद्देश्यों की ओर ले जाने का माध्यम मात्र मानते थे। इस तरह गांधी जी के शिक्षा के उद्देश्यों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं प्रथम तो निकटस्थ उद्देश्य और द्वितीय अन्तिम उद्देश्य। उनके निकटस्थ उद्देश्य के अनेकों अंग हो सकते हैं जैसे :—

(अ) नागरिकता के गुणों का विकास।
(आ) नैतिक विकास।
(इ) त्रिविध विकास (शरीर, बुद्धि और मन)।
(ई) सांस्कृतिक उद्देश्य।
(उ) धार्मिक उद्देश्य।
(ऊ) सर्वोदयी समाज की स्थापना आदि।

ये सभी अंग चरित्र-निर्माण एवं स्वतन्त्रता के दो विस्तृत उद्देश्यों में समा जाते हैं। ये दो निकटस्थ उद्देश्य अन्तिम उद्देश्य के लिए माध्यम बनकर व्यक्ति के परमात्मा एवं आत्मा के ज्ञान में सहायक होते हैं। इस प्रकार परिमित को अपरिमित में, एवं आत्मा को परमात्मा में समा जाने का अन्तिम उद्देश्य पूर्ण होता है।

महात्मा जी की दृष्टि में वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों का मूल्य—बुनियादी शिक्षा के उद्देश्य का विवेचन करते समय महात्मा जी के सामने वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्य एक दूसरे के विरोध में कभी नहीं आये, इसका कारण केवल

यही था कि महात्मा गांधी का दर्शन प्रति को एक ओर रखकर मध्यम मार्ग को ग्रहण करता है और वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों के बीच सन्तुलन लाने का प्रयत्न करता है। गांधी दर्शन की महानता इसी में है कि वह वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों को संयोजित करके शिक्षा-विशेषज्ञों की एक बड़ी उलझन को दूर कर देता है। महात्मा जी ने कहा है। "मैं वैयक्तिक स्वतन्त्रता को मानता हूं लेकिन आपको यह भूलना नहीं है कि व्यक्ति आवश्यक-रूपेण एक सामाजिक प्राणी है। वह आज की स्थिति में इसी कारण पहुंचा है क्योंकि उसने अपने व्यक्तित्व को सामाजिक विकास की आवश्यकताओं से संतुलित किया है।···हमने वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक प्रतिबन्ध का माध्यम निकालना सीख लिया है। सारे समाज की भलाई की दृष्टि से सामाजिक प्रतिबन्ध के सामने व्यक्ति का (जो उसका सदस्य है) आत्मसमर्पण समाज और व्यक्ति दोनों को शोभित करता है।" इस प्रकार महात्मा जी तो विभिन्नता में एकता के दर्शन करना चाहते थे। वे ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसके सभी व्यक्ति सम्पूर्ण समाज की भलाई में योग देते हुए भी अपने व्यक्तित्व को कायम रख सकते हैं। इतना ही नहीं वे तो केवल इतने में ही सन्तुष्ट थे कि अगर व्यक्तियों को सही प्रकार शिक्षित किया गया, तो किसी को समाज की चिन्ता करने की जरूरत ही नहीं जिसके वे सदस्य हैं। किसी दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा है कि समाज-सेवा शिक्षा का आवश्यक अंग होना चाहिये। उनकी उपरोक्त दोनों युक्तियां यद्यपि शब्द-जाल में भिन्न दिखाई देती हैं पर उनमें एक अखंड एकता समाई हुई है। इसी कारण गांधी दर्शन में वैयक्तिक विकास और सामाजिक विकास परस्पर विरोधी नहीं हैं परन्तु एक दूसरे पर आधारित हैं, और वह भी इस सीमा तक कि एक को दूसरे से अलग करके, कल्पना तक नहीं की जा सकती। उन्होंने नियमों एवं प्रयोग द्वारा भी यह बतलाया कि आत्मज्ञान और समाज-सेवा में शिक्षा के उद्देश्य के रूप में कोई विरोध नहीं। उनके स्वयं के शब्द हैं "मानव का अन्तिम लक्ष्य परमात्मा से साक्षात्-कार है और उसकी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी गतिविधियां उस भगवद्-दर्शन के उद्देश्य से नियन्त्रित होनी चाहिएं। इस अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु तत्काल सब मानवों की सेवा आवश्यक हो जाती है केवल इसी कारण क्योंकि परमात्मा को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग उसकी स्वर की रचना में दर्शन प्राप्त करना और उसके समरस बन जाना है।" इस प्रकार आत्मज्ञान और समाज-सेवा दो भिन्न-भिन्न उद्देश्य नहीं बरन् हम तो आत्मत्याग में भगवत्प्राप्ति करते हैं और भगवत्प्राप्ति में आत्मत्याग करते हैं।

गांधी दर्शन का सार यह है कि व्यक्तित्व का ऐसे सामाजिक वातावरण में विकास हो जहां वह सार्वजनिक हित एवं सार्वजनिक गतिविधियों में हिस्सा बटाने का स्वतन्त्र अवसर प्राप्त कर सके। इसी कारण महात्मा जी पाठशाला को समाज में बदल देना चाहते हैं जहां व्यक्तित्व कुण्ठित होने के स्थान पर सामाजिक सम्पर्क एवं [illegible] के अवसर से विकसित हो सके।

वर्तमान बुनियादी शालाओं द्वारा उद्देश्य प्राप्ति—आज हमारे राष्ट्र में जो बुनियादी शिक्षा का कार्य हो रहा है उसका मूल्यांकन करने का आंशिक प्रयास "ऐसेस-मेन्ट कमीटी ऑन बेसिक एजूकेशन" ने किया था। उसने सन् १९५६ में यह व्यक्त किया—इस बात के निर्विरोध प्रमाण हैं कि बुनियादीशाला के बच्चे तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सजग, अधिक प्रश्न पूछने वाले, ज्ञान-प्राप्ति के अधिक इच्छुक, अधिक सूझ-बूझ वाले, अधिक उत्तरदायी और अपने वातावरण के अधिक जानकार होते हैं। उनमें व्यक्त करने की अधिक शक्ति है और उनमें सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व के अधिक गुण पाये जाते हैं। बौद्धिक दृष्टि से भी उनमें प्राप्त ज्ञान के विवेचन करने, समझने व विग्रह करने की अधिक सजगता है। ये सब लाभ निश्चित ही शैक्षणिक लाभ हैं।

अतः स्पष्ट है कि बुनियादी तालीम पूर्व शिक्षा-पद्धति की तुलना में अधिक अच्छी शिक्षा-पद्धति है और अपेक्षित उद्देश्यों की निश्चित ही इसके द्वारा प्राप्ति होगी।

सारांश

बुनियादी-तालीम के उद्देश्य :—

१. चरित्र-निर्माण।
२. स्वतन्त्रता।
३. आत्मज्ञान।

बुनियादी तालीम के उद्देश्यों के प्रमुख भाग :—

(अ) निकटस्थ उद्देश्य।
(आ) अन्तिम उद्देश्य।

निकटस्थ उद्देश्यों में निम्न सभी उद्देश्य आ जाते हैं :—

१. नागरिकता के गुण उत्पन्न करना।
२. नैतिक विकास।
३. त्रिविध विकास।
४. सांस्कृतिक उद्देश्य।
५. आर्थिक उद्देश्य।
६. सर्वोदयी समाज की स्थापना।

महात्मा गांधी की दृष्टि में वैयक्तिक उद्देश्य और सामाजिक उद्देश्य परस्पर विरोधी नहीं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का विकास और सामाजिक उन्नति में इतने अन्तर आधारित हैं कि एक को दूसरे से अलग करके, कल्पना ही नहीं की जा सकती।

गांधी दर्शन के सार के रूप में हम यह कहेंगे कि, व्यक्तित्व का ऐसे सामाजिक वातावरण में विकास होता है जहाँ वह सार्वजनिक हित एवं सार्वजनिक गतिविधियों में कार्य करने का स्वतन्त्र अवसर प्राप्त कर सके।

बुनियादी शाला में परम्परित शालाओं की तुलना में बालकों का श्र
समतोल विकास हुआ है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) बुनियादी शिक्षा के क्या-क्या उद्देश्य हैं? सविस्तार उत्तर दीजिये।

(२) बुनियादी तालीम में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य एवं सामाजिक उद्देश्य का मा
जी ने किस प्रकार समन्वय किया है? स्पष्ट कीजिए।

(३) "यदि व्यक्ति प्रगति करेगा तो समाज भी प्रगति करेगा और यदि समाज की प्र
होगी तो व्यक्ति की भी प्रगति होगी।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।

—:o:—

राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति
और
अनिवार्य शिक्षा, मातृभाषा, अंग्रेजी व उद्योग की स्थिति

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने शिक्षा के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए ता० ३१-७-३७ के हरिजन में लिखा था कि "शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की तमाम शारीरिक, मानसिक और प्रात्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी-विकास। अक्षर ज्ञान न तो शिक्षा का आरम्भ है, और न अन्तिम लक्ष्य। वह तो अनेकों उपायों में से एक है जिनसे स्त्री पुरुषों को शिक्षित किया जा सकता है।" उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से उन्होंने एक नई शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया था। इस प्रणाली को बुनियादी शिक्षा या वर्धा योजना कहा गया है। इससे यह अपेक्षा की गई है कि इसके द्वारा राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अनिवार्य रूप में निश्चित परिमाण की जीवनोपयोगी और समाजोपयोगी शिक्षा प्राप्त कर सकेगा। ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध विदेशी शासनकाल में सम्भव नहीं था। सन् १९३७ के अक्टूबर मास में वर्धा में राष्ट्रीय शिक्षा विषयक चार प्रस्ताव स्वीकार किये गये। उन्हें ही हम बुनियादी शिक्षा के मुख्य अंग कहकर सम्बोधित करते हैं।

बुनियादी शिक्षा के मुख्य अंग—

(१) सप्त-वर्षीय नि.शुल्क अनिवार्य शिक्षा (जिसे बाद में अष्ट-वर्षीय कर दिया गया)।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो।

(३) उद्योग के आधार द्वारा शिक्षा दी जावे।

(४) शिक्षा स्वावलम्बी हो।

(१) सप्त-वर्षीय निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा—जैसे प्रत्येक जीवधारी को प्रकृति ने कुछ साधन एवं सुविधाएँ समान रूप से प्रदान की हैं वैसे ही वह समाज जिसमें मानव जन्म लेता है, उसका भी कर्तव्य होता है कि वह उसे कुछ साधन एवं सुविधाएँ प्रदान करे। इन्हीं सुविधाओं के अन्तर्गत शिक्षा भी आती है। ज्यों-ज्यों समाज अधिकाधिक प्रगतिशील होता जाता है, त्यों-त्यों वहां के नागरिकों को प्राप्त होने वाली नि.शुल्क अनिवार्य शिक्षा का परिमाण भी बढ़ता जाता है। उपरोक्त योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ में सप्त-वर्षीय प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था थी। बाद में इसी अवधि को आठ वर्ष कर दिया गया और ६ से ११ साल तक के बच्चों की शिक्षा को जूनियर बेसिक, एवं १२ से १४ साल तक की शिक्षा को सीनियर बेसिक कह कर

इस कार्यक्रम को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। श्रेष्ठ जनतन्त्र की स्थापना का आधार शिक्षित नागरिक है जो अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति जागरूक हो। वह तभी सम्भव है जबकि वह शिक्षित हो। वह शिक्षित तभी हो सकता है जब शिक्षा सार्वभौम, निःशुल्क एवं अनिवार्य हो अतः निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा का जनतन्त्र में बड़ा महत्व है।

(२) शिक्षा का माध्यम (क) मातृभाषा—पहले शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम द्वारा दी जाती थी। इसके कारण बालकों की शक्ति का भारी ह्रास होता था। स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्र पर अपनी भाषाओं को विकसित करने की जिम्मेदारी आई। अब उस पर यह देखने की भी जिम्मेदारी है कि छात्रों पर विदेशी भाषा के माध्यम के कारण अनावश्यक बोझ न पड़े। स्कूल समाज का प्रतिबिम्ब तभी बन पाता है जबकि वहाँ की शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषा हो। इसी कारण प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में समय-समय पर यह दुहराया जाता है कि बालक को अपने नगर, ग्राम एवं जिले की भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिये। इसके पश्चात् माध्यम का घेरा प्रान्तीय भाषा तक पहुँच कर उच्च शिक्षा के लिये राष्ट्रीय भाषा तक विस्तृत हो जाता है। हमारी अधिकांश जनसंख्या गांवों में निवास करती है। उसे शिक्षित करने हेतु दैनिक जीवन मे उपयोग मे आने वाली भाषा ही शिक्षा का माध्यम बन सकती है। गांवो की अपनी सभ्यता और संस्कृति को अक्षुण्य रखने के लिये भी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा का होना आवश्यक है। जैसे जिलों की भाषाओं के भिन्न-भिन्न होने की दशा मे अन्तर-जिला विचार विनिमय की दृष्टि से एक प्रान्तीय भाषा बन जाती है, वैसे ही अन्तर-प्रातीय विचार विनिमय की दृष्टि से देश की एक राष्ट्रभाषा का जन्म होता है। "शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो", इस दृष्टि से विद्यालय के स्तर के साथ-साथ मातृभाषा के अर्थ में भी अन्तर होता चला जाता है। यही मातृभाषा एक स्तर पर स्थानीय भाषा है, दूसरे स्तर पर जिले की भाषा है, तीसरे स्तर पर प्रान्तीय भाषा है और चौथे स्तर पर राष्ट्रीय भाषा है। जैसे—

(अ) गाँव के स्कूल मे गाँव की (स्थानीय) भाषा मातृभाषा के रूप में शिक्षा का माध्यम बनती है।

(आ) जिला स्तर के स्कूल में जिले की भाषा मातृभाषा के रूप में शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए।

(इ) सम्पूर्ण प्रान्त की दृष्टि से संचालित स्कूलों में प्रान्तीय भाषा मातृभाषा के रूप मे शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए।

(ई) सम्पूर्ण राष्ट्र की मांग को पूरी करने वाली संस्थाओं में राष्ट्रीय भाषा, मातृभाषा के रूप मे शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए।

(ख) अंग्रेजी—निश्चय ही एक दिन ऐसा आवेगा जब बुनियादी शालाओं में अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जावेगी। आज भी शिक्षा के माध्यम के रूप में इसे कोई स्थान नहीं फिर भी भाषा के रूप में आज अंग्रेजी का महत्व है। उच्च माध्यमिक विद्यालयों

में इसका शिक्षण जरूरी है। इसी आधार पर "एसेसमेंट कमेटी ग्रान बेसिक एड्यूकेशन" ने सन् १९५६ में यह सुझाया—"जब तक उच्च माध्यमिक विद्यालयों में अंग्रेजी की शिक्षा चालू है, सीनियर बेसिक स्कूलों में वैकल्पिक विषय के रूप में अंग्रेजी पढ़ाने की सुविधा होनी चाहिये।" और अब अंग्रेजी को राष्ट्र की सहभाषा का दर्जा मिल जाने के पश्चात् इसे कई राज्यों में कक्षा ५ से ही पढ़ाने की शुरूआत कर दी गई है।

(३) उद्योग के आधार द्वारा शिक्षा—प्रकृति और समाज दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। प्रकृति ने अनेकों वस्तुएँ अनन्त परिमाण में समाज के लिए उपलब्ध की हैं। समाज उन वस्तुओं को निर्माणकारी दृष्टिकोण से उपयोग में लाकर एक ओर सामाजिक जीवन को सुख और शांतिमय बनाता है तो दूसरी ओर प्रकृति की उस अनन्त अविकसित, गुह्य एवं अदृश्य धनराशि को विकासमय, जाग्रत एवं दृष्टिगत बनाकर प्रकृति के धनी होने को सार्थक करता है। इस कार्य-प्रणाली का माध्यम केवल एक है और वह है "उद्योग"। उद्योग के इस महत्वपूर्ण कार्य में तल्लीन श्रमिक एवं दस्तकारी वर्ग को हमारे समाज ने हीन समझकर घृणा की दृष्टि से देखा और अज्ञानता का परिचय दिया। महात्मा जी ने कहा था—"दस्तकारी की तालीम में लिखाई-पढ़ाई की शिक्षा को दूर करने का कारण हम ग्रामीण हुनरों को नीची निगाह से देखने के आदी हो गये हैं। दस्ती हुनर कुछ नीचे दर्जे का काम समझा जाने लगा और वर्णाश्रम की भीषण विकृति के कारण हम लोग धुनिये, जुलाहे, खाती और मोचियों को नीची जाति के समझने लगे। हुनर को बौद्धिक शिक्षा से बहिष्कृत नीचे दर्जे की कोई चीज समझने के दूषित रिवाज के कारण हमारे यहाँ काम्पटन और हारग्रीव जैसे आविष्कारक पैदा न हो सके। विद्या या इल्म को जैसा दर्जा मिला हुआ है, अगर पेशे या हुनर को भी स्वतन्त्र रूप से वैसा ही दर्जा मिला होता, तो अपने ही कारीगरों में से हमें बहुत से आविष्कारक मिल जाते।"

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी बालक की रचनात्मक शक्ति का विकास अत्यन्त आवश्यक है। रचना प्रवृत्ति के जागृत होने पर उससे सम्बन्धित ज्ञान को सीखने की उसमें जिज्ञासा पैदा होती है और उस समय दिये जाने वाला ज्ञान, ऊपर से ठूंसी जानेवाली सूचना नहीं, पर बालक की क्षुधा को शांत करने वाली आवश्यक सामग्री है। उद्योग की जो शिक्षा केवल यंत्रवत् दी जाती है वह बौद्धिक तत्वरहित होती है। यहाँ बालक प्रत्येक उद्योग का कारण एवं कार्य को समझते हुए करेंगे अतः वे बौद्धिक विकास की ओर भी अग्रसर होते जावेंगे।

(४) शिक्षा स्वावलम्बी हो—सन् १९३७ में महात्मा जी ने रचनात्मक कार्य सम्बन्धी सारी प्रतिष्ठा खो बैठने की जोखिम उठाकर भी ये शब्द कहे—"अगर शिक्षा प्रचार के लिये हम केवल धन पर ही रहेंगे, तो एक निश्चित समय के अन्दर राष्ट्र के प्रति अपने फर्ज को अदा करने की आशा हम कभी कर ही नहीं सकते। इसीलिये

(३) बच्चों की निजी एवं स्वाभाविक क्रियाओं द्वारा ज्ञान प्राप्ति—सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने क्रियाशीलता पर बल दिया है, पर अब तक बौद्धिक विकास का प्रथम स्थान रहता चला आया। पुरानी पद्धति ज्ञान को बालक पर थोपती थी। अब बालक कुछ करके व बनाकर सीखता है और जो कुछ वह सीखता है वह उसके लिए विशेष महत्व रखता है। अब शिक्षा का अर्थ है "बनाकर सीखना।"

(४) क्रियाशीलता, उत्पादन एवं प्रयोजन—स्थानीय सुविधाओं एवं जीवन से सम्बन्ध होने से उद्योग कार्य का आर्थिक एव उपयोगात्मक महत्व भी बढ जाता है। टकसाली शिक्षा के छात्रों के विपरीत बुनियादी स्कूल के छात्र सीखते भी हैं और कमाते भी हैं।

(५) शिक्षा का आधार कोई उद्योग रहता है—बुनियादी शिक्षा मे उद्योग का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम से सम्बन्ध जोड़ते हैं और जो कुछ पढ़ाया जाता है वह किसी न किसी उद्योग एवं शिल्प के द्वारा पढ़ाया जाता है।

(६) अध्यापक और छात्र दोनों स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं—छात्र अपने कार्य की योजना स्वयं बनाते हैं। सम्बन्धित समस्याओं के हल भी स्वय ही निकालते हैं। वे जिम्मेदारियाँ सम्भालने के पर्याप्त अवसर पाते हैं। उन्हें स्वतन्त्रता महसूस होती है। अध्यापक पर स्कूल के कार्यक्रम में अपनी बुद्धि का प्रयोग करने का दायित्व रहता है। वह स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

(७) बच्चे हाथ से काम करके गर्व का अनुभव करते हैं—आज तक हमारे समाज में शिल्पियों को नीचा समझा जाता है, उसका कारण यह है कि शिक्षा मे केवल बौद्धिक ज्ञान का ही स्थान रहा है। यह भेदभाव हमें समाप्त करना है। यह तभी हो सकता है जब बालक स्वयं शिल्प-कार्य करें और शिक्षा मे शिल्प का बौद्धिक ज्ञान से अधिक महत्व हो। जैसे हमारी संस्कृति मे किसी भी शुभ अवसर पर "गणपति" की स्थापना करते हैं और उनको सब देवताओं में उच्च मानते हैं उसी प्रकार शिक्षा के कार्यारम्भ मे उद्योग को महात्मा जी ने गणपति के रूप मे स्थापित किया एवं सब विषयों से उच्च माना।

(८) सत्य और अहिंसा के आदर्श की स्थापना—अन्य स्थान पर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बुनियादी शिक्षा, महात्मा गांधी के 'सत्य एव अहिंसा' के आदर्श द्वारा, सर्वोदयी समाज की स्थापना करना चाहती है। यह समाज की उन्नति की वह सीमा होगी जहाँ समाज के सभी व्यक्तियों की उन्नति एव उदय होगा। विनोबा जी ने कहा है कि हम एक सादी बात साथ लें तो सर्वोदय सध जावेगा—"हर एक दूसरे की फिक्र रखे, साथ ही अपनी फिक्र ऐसी न रखे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो।"

इस प्रकार हमें विश्वास है कि यह राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति हमारे समाज को सर्वोदयी समाज की ओर अग्रसर करेंगे, सारे ससार मे सर्वोदयी अवस्था की स्थापना कर सकेगी। तभी तो सम्पूर्ण मानवता को शान्ति एव सुख मिलेगा।

सारांश

भूमिका—वर्धा योजना भारत के पूरे राष्ट्रीय प्रश्न को हल करने का रास्ता है।

मूल वर्धा योजना—मातृभाषा के माध्यम द्वारा उद्योग पर आधारित स वर्षीय, निःशुल्क, अनिवार्य, स्वावलम्बी शिक्षा को ही हम वर्धा-शिक्षा योजना कहे इसके मुख्य अंग निम्नलिखित हैं :—

१. सप्तवर्षीय निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा।

२. शिक्षा का माध्यम (क) मातृभाषा, (ख) अंग्रेजी।

३. शिक्षा का आधार उद्योग हो।

४. शिक्षा स्वावलम्बी हो।

राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति—स्वावलम्बन के महत्व से रहित मूल वर्धा योज ही राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति है।

राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की विशेषताएं :—

१. शिक्षा का केन्द्र बालक है।

२. ज्ञान और क्रिया एक अखण्ड समष्टि है।

३. बालक को स्वाभाविक क्रियाओं द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है।

४. क्रिया उत्पादक और सप्रयोजन है।

५. शिक्षा का आधार कोई उद्योग रहता है।

६. अध्यापक और छात्र दोनों अपने को स्वतन्त्र अनुभव करते हैं।

७. हाथ का काम करने में बच्चा गर्व का अनुभव करता है।

८. सत्य और अहिंसा के आदर्श की समाज में स्थापना होनी है।

सर्वोदयी समाज का संसार में निर्माण कर यह सम्पूर्ण मानवता को शां एवं सुख प्रदान करेगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के मूल सिद्धान्तों को सविस्तार समझाइये।

(२) मूल वर्धा योजना और राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का तुलनात्मक विवेचन कीजिये।

—:०:—

राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का सांस्कृतिक आधार

प्रस्तावना—भारत एक प्राचीन देश है। यहाँ के संस्कृति रूपी सागर में अनन्त काल से अनेकों प्रकार की धाराओं ने अपने विचारों का समावेश किया है। यहाँ पर आर्य आये, और आर्यों के पूर्व भी कई जातियों का यहाँ आना स्वीकार किया जाता है। आर्यों के पश्चात् यहाँ पर यूनानी आये। यहाँ शक और हूण भी हमलावरों की तरह आये। यहाँ पर गोरी और गजनवी आये। उत्तर-पश्चिम के मार्ग से यहाँ आखीर में बाबर आया। बाद मे यूरोप निवासी जैसे पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज आये। अंग्रेजों ने यहाँ शासन स्थापित किया। परन्तु वे भी यहाँ नहीं रहे। यों आने वाले सभी यहाँ के जन-जीवन मे घुल मिल गये। इस प्रकार के महा-सम्मेलन ने यहाँ की बुनियादी संस्कृति को, जो आर्य संस्कृति मानी जाती है, प्रभावित किया और इसका एक ऐसा रूप बना जिसे आज सभी अपना कहते हैं। भारत की यह संस्कृति विभिन्नता में एकता का रूप ग्रहण किये हुये है। इस एकता का आधार भारतीय मनोवृत्ति की उदारता और सहनशीलता है। इसी सहनशीलता के कारण भारत ने कभी-कभी अपनी संस्कृति की विरोधी प्रवृत्तियों को भी जीने का अवसर दिया। इस दृष्टि से अगर हम यह कहें कि एक अच्छे गुण की यह एक चरम सीमा है, तो भी अत्युक्ति नहीं है। हम अपने देश की संस्कृति के प्रमुख चिन्हों पर दृष्टि डालें तो हम यह कह सकते हैं कि भारत मे सत्य और अहिंसा को सदा से महत्व दिया जाता है। यहाँ सादा जीवन और उच्च विचारों वाले लोगों का नेतृत्व रहा है। यहाँ वैयक्तिक स्वास्थ्य को महत्व दिया जाता है। यहाँ पर लोग ईश्वर में सदा से विश्वास करते रहे हैं। लोग दूसरों की ओर विशेष प्रकार से कमजोरों, असहायों और जरूरतमन्दों की मदद करना अपना धर्म मानते हैं। आत्मा को परमात्मा मानकर सब जीवों को यहाँ बराबर का दर्जा दिया गया है। अधिकारों की बजाय यहाँ के लोग कर्म को अधिक महत्व देते हैं और सहनशीलता का गुण जिसके लिए अभी-अभी वर्णन किया गया है इस देश के लोगों का सबसे महत्वपूर्ण गुण है। हमारी संस्कृति के इस अतुल भंडार में से राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कुछ विचारों को चुन कर, उनका अपने जीवन मे प्रयोग किया और राष्ट्र की शिक्षा को एक नया रूप दिया। देश ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। सारे संसार को एक नया दृष्टिकोण मिला। महात्मा गांधी द्वारा निर्मित शिक्षा-पद्धति के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :—

(१) सत्य और अहिंसा—महात्मा जी के दर्शन का केन्द्र बिन्दु 'सत्य' है। इसे ही वे ईश्वर कहते थे। इस सत्य की प्राप्ति का साधन वे 'अहिंसा' को मानते थे। अतः सत्य का ही व्यावहारिक स्वरूप अहिंसा है। 'अहिंसा' की सीमा अब तक के

विचारकों ने व्यक्ति तक ही सीमित रखी थी। परन्तु महात्मा जी ने इसे सामाजिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक विकसित कर नवीन दर्शन को जन्म दिया। इस दर्शन के अन्तर्गत वे हमारे देश में सर्वोदय लाना चाहते थे। इस आकांक्षा को बुनियादी तालीम के द्वारा पूरी करना चाहते थे। अतः उन्होंने बुनियादी तालीम का आधार 'सत्य' और 'अहिंसा' को स्वीकार किया।

(२) प्राचीन भारतीय पद्धति—भारत में प्राचीन काल से शिक्षा-प्राप्ति के लिये बालक गुरु के घर में जाकर रहता था और विद्याध्ययन करता था। गुरुकुल नाम से ही स्पष्ट है कि गुरु के कुल में उसे उस कुल का एक सदस्य बन कर रहना पड़ता था। गुरु के कुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करने की इस पद्धति को गुरुकुल शिक्षा-पद्धति कहते हैं। कृष्ण और सुदामा की गुरु संदीपन के घर जाकर साथ-साथ अध्ययन करने की कहानी से हम पूर्णतः परिचित हैं। उसी कहानी में यह भी सुना है कि दोनों शिष्य जंगल में लकड़ी काटने, और नगर में भिक्षा माँगने जाया करते थे। वे उस घर में भोजन बनाना, झाड़ू लगाना, कुयें से पानी लाना व गुरु की गाय चराना आदि सभी काम करते थे। शिष्य अपने शिक्षण-काल में अपनी सेवा द्वारा गुरु की शिक्षा के व्यय की पूर्ति करते थे। शिक्षा के अन्त में गुरु दक्षिणा की प्रथा थी। इसे गुरु अधिकांशतः गऊ, स्वर्ण-मुद्रा, भूमि आदि के रूप में प्राप्त करते थे। इसी पद्धति के अनुकूल बुनियादी शाला के छात्र से यह अपेक्षा की गई है कि वह भोजन बनाना, झाड़ू लगाना, इमारत की सफाई, मकान की मरम्मत, और आवश्यकता पड़ने पर इमारत का निर्माण आदि सभी काम शिक्षक के नेतृत्व में करना सीखे। वहाँ कोई भी काम ऐसा नहीं होगा जिसे वह स्वयं न करके अन्य किसी के द्वारा किये जाने की आशा रखे। इस प्रकार यह शिक्षा-पद्धति भारत के प्राचीन तरीके के अनुकूल है।

(३) व्यावहारिक जीवन—प्राचीन काल में शिक्षा का स्वरूप समाज की वस्तु-स्थिति और आवश्यकता के अनुकूल होता था। प्रत्येक काम वास्तविक परिस्थितियों में किया जाता था। काम करते-करते बालक कार्य करने का सही तरीका सीखता था। गुरु के परिवार की सेवा करते-करते वह अपने बड़ों की सेवा करने का प्रशिक्षण पाता था। घर आने पर व्यावहारिकता की उसमें कोई कमी नहीं रहती थी। बुनियादी शाला में भी समाज की समस्याओं के हल निकालने के लिए बालकों को प्रशिक्षित किया जाता है। जैसे समाज में मानव काम करते-करते ही सीखता है वैसे ही यहाँ भी पहले काम शुरू किया जाता है और उस कार्य के अन्तर्गत जो कठिनाइयाँ आती हैं उनके हल करने के लिए उनका पथ-प्रदर्शन किया जाकर उन्हें ज्ञान दिया जाता है। शिक्षा का तरीका समाज के तरीके से मिलता हुआ है और व्यावहारिक जीवन के अनुकूल है।

(४) शारीरिक श्रम—प्राचीन काल से ही हमारे देश में जीवों को सताना बुरा माना गया है फिर मानव को सताना तो इससे भी हीन काम है। इस हिंसा-प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर हमारे देश ने 'अहिंसा' की विचारधारा को जन्म दिया।

हिंसा' का प्रत्यक्ष स्वरूप है किसी को सीधा हानि पहुँचाना। इसी का अप्रत्यक्ष
स्वरूप उस समय उपस्थित होता है जब मानव की हिंसा हो रही हो फिर भी उसे यह
आभास न हो कि कोई उसकी हिंसा कर रहा है। पूँजीपतियों ने श्रमिकों को नीचा
समझ कर उनका शोषण प्रारम्भ किया और एक निश्चित अवधि तक, जब तक कि
उनको जगाया नहीं गया उन्हें इसका ज्ञान न हो सका। प्राचीन काल मे श्रम जीवियों
का समाज मे बड़ा आदर था और उन्हें बुद्धि जीवियों के समकक्ष स्थान प्राप्त था।
बुनियादी शिक्षा भी श्रमिकों को समाज मे उपयुक्त स्थान दिलाना चाहती है तथा
शारीरिक श्रम को आधार मानती है।

(५) स्वाश्रय का महत्व—भारत मे प्राचीन काल में हर गाव एक स्वाश्रयी
इकाई था। खेती वहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय थी। अतिरिक्त समय में वे कताई-
बुनाई करते थे और अपना कपड़ा स्वयं बनाते थे। मकान बनाने का काम भी
वे करते थे। तीन बुनियादी जरूरतों-भोजन, वस्त्र और शरणस्थान-की व्यवस्था
कर सकने में भारत के गावों के लोग स्वाश्रयी थे। इन तीनों आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए तीन बुनियादी, उद्योगों पर बुनियादी शिक्षा को आधारित किया गया है
जिससे राष्ट्र के भावी नागरिक भी स्वाश्रयी हो सकें। यह स्वाश्रयी होने की भावना
हमारे राष्ट्र की प्राचीन जीवन-प्रणाली के अनुकूल है।

(६) भारत के सामाजिक जीवन में प्रजातन्त्र की अन्तर्गतता—भारत प्राचीन
काल मे छोटी-छोटी जनतन्त्रीय इकाइयों में विभाजित था जो गण कहलाती थीं।
गण का चुना हुआ नेता गणपति कहलाता था। इन छोटी-छोटी स्वतन्त्र इकाइयों के
द्वारा सारे राष्ट्र का एक बृहद् स्वरूप बनता था जो गणराज्य कहलाता था।
आज भी भारत गणराज्य है। जिसका अर्थ है कि यह अनेकों गणों (प्रान्तों) का एक
संघ है। बीच मे कुछ समय ऐसा आया जब यह परिस्थिति नहीं रह पाई। परन्तु
आज भारत एक जनतन्त्री देश है। जनतन्त्र मे नागरिकों को उनके अधिकार और
कर्तव्य का ज्ञान कराने की जिम्मेदारी सरकार की होती है। स्वस्थ जनतन्त्र की
स्थापना तभी हो सकती है जब नागरिक शिक्षित हों। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में आठ
वर्ष की निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध है जो प्रत्येक नागरिक को बिना जाति,
लिंग व धर्म के भेद-भाव के दी जायेगी। यह सुविधा हमारी जनतान्त्रिक संस्कृति
के अनुकूल है।

(७) मातृभाषा का माध्यम—जब हम अपने गाँव या नगर के किसी मित्र से
दूर देश में मिलते हैं तो हम उस देश की या अन्य किसी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का
परित्याग कर एकाएक ही अपने गाँव की भाषा में बातचीत करने लगते हैं। यह
भाषा ही दो व्यक्तियों मे आत्मीयता पैदा करने का साधन है। हमारे राष्ट्र के
बच्चों को अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय संस्कृति का पाठ या तो पढ़ाया ही नहीं
गया और पढ़ाया गया तो वह केवल अंग्रेजी के माध्यम द्वारा। ऐसी दशा में अंग्रेजी
की शिक्षा के रंग में रँगे हुये व्यक्ति पर अंग्रेजी के माध्यम द्वारा भारतीय संस्कृति

का रंग चढ़ाने का प्रयत्न विपरीत फल ले आया। अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षित व्यक्तियों में अपनी संस्कृति के प्रति अपनेपन की भावना नहीं पैदा हो सकी। इसी कमी को पूरा करने की दृष्टि से बुनियादी शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा स्वीकार किया गया है। इस प्रकार मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा, संस्कृति के विकास के लिये अनिवार्य है।

(८) *ललित-कला से राष्ट्र की संस्कृति का प्रतिनिधित्व*—ललित-कलाओं में सारे राष्ट्र की झलक दिखाई देती है। चित्रों में राष्ट्र के जीवन के प्रतिनिधि अंग ही चित्रित किए जाते हैं, नृत्य मे सास्कृतिक जीवन का ही प्रदर्शन होता है, कविता में संस्कृति के अनमोल मूल्य ही सम्मिलित किये जाते हैं, और मूर्तियों में राष्ट्र के प्रतिनिधि नेता ही प्रतिबिम्बित होने हैं। ललित कलाओं का समावेश राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति के लिए अनिवार्य होता है। यद्यपि मूल योजना में इनका स्पष्ट रूप दिखाई नहीं देता, परन्तु जाकिर हुसैन कमेटी ने जो पाठ्यक्रम तैयार किया है उसमें इनका भी समावेश किया गया है। इस प्रकार सांस्कृतिक जीवन के प्रतिनिधि के रूप में *ललित कलाओं के समावेश से यह शिक्षा-पद्धति हमारे देश की सस्कृति के अनुकूल बन गई है।*

(९) *वेश-भूषा, खान-पान, और रहन-सहन में संस्कृति का प्रतिनिधित्व*—प्रत्येक देश की वेश-भूषा वहाँ के प्राकृतिक, सामाजिक और सास्कृतिक वातावरण के प्रभाव के कारण ही एक विशेष प्रकार की होती है। खान-पान पर भी इन्हीं बिंदुओं का प्रभाव पड़ता है। ये ही रहन-सहन को भी प्रभावित करते हैं। हमारे देश का प्रमुख उद्योग खेती होने से, यहाँ के किसान की वेश-भूषा ऐसी है जो उनके व्यवसाय में साधक का रूप धारण करती है। अंग्रेजी शिक्षा में शिक्षित व्यक्तियों की पोशाक अंग्रेजों की जीवन-प्रणाली में साधक थी। हमारी पैन्ट अनेकों अवसरों पर हमें *लगातार खड़ा रखकर थका देती है परन्तु हमारी प्राचीन संस्कृति* की द्योतक धोती ऐसा अवसर नहीं आने देती। यही बात पोशाक के अन्य अंगों के लिए भी लागू होती है। अंग्रेजी पोशाकधारी युवक हमारे गांवों में सिवाय बहुरूपिया के और कुछ भी नजर नहीं आते। उनका गांव के जीवन में समा जाना असम्भव हो जाता है। यही दशा खान-पान की भी है। किसान के जीवन का सादा शाकाहारी भोजन ही इस देश की संस्कृति के अनुकूल भोजन है। देश की आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल सादा रहन-सहन ही इस देश का अपना रहन-सहन है। *बुनियादी तालीम वेश-भूषा, खान-पान और रहन-सहन में भी हमें भारतीय संस्कृति के अनुकूल प्रेरणा देती है।* पाठशाला का सारा जीवन भारतीय-संस्कृति के आधार पर संगठित किया जाता है और हमारी संस्कृति के प्रतिनिधि युवक तैयार करने का प्रयत्न किया जाता है।

(१०) *संस्कृति के अनुकूल विचार और विश्वासों का संचार*—हमारे देश में विचारों की एक ऐसी मौलिकता है जो अन्य राष्ट्रों से भिन्न तो है ही परन्तु ऐसी अनमोल भी है कि जिसे पैदा करने में अन्य राष्ट्रों को हजारों वर्ष चाहियें और फिर

भी यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि वह उनके जीवन का किस सीमा तक अंग बन सकेगी। "सुख और शांति" के लिए भारतीय विचारधारा यह है कि ये बाहरी उपकरणों एवं भौतिक संसार द्वारा सम्भव नहीं है। वह तो आंतरिक वस्तु है और मन से सम्बन्धित है। इसी के साथ यह भी माना जाता है कि अगर हमारी आवश्यकतायें अधिक हों तो उनमें से किसी की भी कमी मन में अशांति पैदा करती है और हमारी शांति एवं सुख में बाधा पहुँचाती है। इसके विपरीत मनुष्य अपनी जरूरतें इतनी कम कर ले कि जिससे जरूरत की वस्तुओं की कमी का अनुभव होने के अवसर कम से कम हो जावें तो अशांति पैदा होने के अवसरों में भी कमी पड़ जायेगी और शांति और सुख में वृद्धि हो सकेगी। बुनियादी तालीम ने इसी कारण मानव की केवल तीन बुनियादी आवश्यकताओं पर बल दिया है और यह माना है कि इनकी पूर्ति से गांव एक स्वावलंबी इकाई बन सकता है। इस प्रकार बुनियादी तालीम विचार एवं विश्वास भी भारतीय संस्कृति के अनुकूल पैदा करती है।

भारतीय संस्कृति के दर्शन-हेतु हमें महात्मा गांधी के जीवन को सामने रखना होगा। वे विचारों से, शब्दों से और कर्म से भारतीय संस्कृति का मूर्तरूप थे। बुनियादी तालीम भी भारत में ऐसे ही नागरिकों का निर्माण करना चाहती है जो भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि हों।

सारांश

सत्य का ही व्यावहारिक पहलू अहिंसा है और इस अहिंसा को वैयक्तिक क्षेत्र से सामाजिक, एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गांधी जी ने ही प्रयोग किया।

बुनियादी तालीम भारतीय संस्कृति के अनुकूल निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट है :—

१. सत्य और अहिंसा।

२. प्राचीन भारतीय पद्धति।

३. व्यावहारिक जीवन।

४. शारीरिक श्रम।

५. स्वास्थ्य के प्राचीन महत्व के अनुसार।

६. सामाजिक जीवन में समाये हुये प्रजातन्त्र के अनुकूल।

७. माध्यम की दृष्टि से प्राचीन तरीके के अनुसार है।

८. ललित कलाओं की दृष्टि से हमारी संस्कृति अनुकूल है।

९. जिस वेश-भूषा, खान-पान, और रहन-सहन को यह प्रस्फुटित करना चाहती है वह भारतीय संस्कृति के अनुकूल है।

१०. भारतीय संस्कृति के अनुकूल विचार और विश्वास पैदा करती है।

सब प्रकार से यह भारतीय संस्कृति के अनुकूल है और देश में सब का समान उदय करने की क्षमता रखती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उस राष्ट्र की शिक्षा पद्धति को किस प्रकार प्रभावित करती है ! स्पष्ट कीजिए।

(२) यह प्रमाणित कीजिये कि हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति भारतीय संस्कृति के अनुकूल है।

—:o:—

राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का मनोवैज्ञानिक आधार

महात्मा गांधी ने मानव-प्रकृति के तत्वों का जितनी सूक्ष्मता से अध्ययन किया था उतना संसार के इने-गिने व्यक्तियों ने ही किया होगा। इसी कारण उन्होंने मानव-जीवन के किसी भी अंग पर प्रकाश डाले बिना नहीं छोड़ा। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति पर भी उन्होंने इतनी ही सूक्ष्मता से विचार किया और उसे मनोवैज्ञानिक आधार देने का यत्न किया।

उद्योग का बौद्धिक विकास से सम्बन्ध—बुनियादी तालीम का सबसे महत्व-पूर्ण अंग है उद्योग और फिर उसके द्वारा आर्थिक लाभ की भी आशा की गई है। श्री जे० सान्डरसन ने शारीरिक कार्य और मस्तिष्क क्रिया के बीच के सम्बन्ध का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। उनका विवेचन निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट होता है :—

१. मस्तिष्क के कुछ केन्द्र एकीकरण की व्यवस्था करते हैं। ज्यों-ज्यों नये कार्य किये जाते हैं, नये केन्द्र सजग होते हैं, कुछ स्नायु-तन्तुओं का कार्य अधिक या कम प्रयत्न में आता-जाता है जिससे स्नायु के मध्य नये मार्ग खुलते हैं और मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न केन्द्रों में सम्बन्ध अधिक दृढ़ और स्पष्ट होता जाता है।

२. मस्तिष्क का उत्तरोत्तर विकास गतिवाही और ज्ञानवाही केन्द्रों के आपसी सम्बन्ध पर निर्भर रहता है और शारीरिक कार्य इन केन्द्रों को उन्नत करने में ऐसा सफल योग देता है कि जिसके फलस्वरूप तीक्ष्ण संतुलित मस्तिष्क का प्रादुर्भाव होता है।

३. चार से चौदह वर्ष के बच्चों का उन्नतिशील कार्य समय को नष्ट नहीं करता लेकिन इसके विपरीत बालक के मस्तिष्क के विकास का यही एकमात्र मार्ग है। प्रकृति जिस ओर बालक को ले जाना चाहती है उसी मार्ग को यह खोल देता है।

उद्योग द्वारा प्रवृत्तियों का सही उपयोग—हरबार्ट स्पेन्सर के अनुसार खेल बालक की अतिरिक्त ऊर्जा का प्रदर्शन है। यह किसी सीमा तक सत्य हो सकता है परन्तु मनोवैज्ञानिकों में इस विषय मे मतैक्य है कि अतिरिक्त ऊर्जा को मनःशक्ति के अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिए जिसका आधार मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इस प्रकार कताई को एक प्रकार से खेल के रूप में मानना पड़ेगा जिसमें तकली एक ऐसा खिलौना है जिससे बालक की अतिरिक्त ऊर्जा का उचित प्रयोग हो सकता है। वह कातते-कातते दूसरे से अधिक एवं अच्छा कातने की भावना के रूप में दूसरों से आगे बढ़कर अपनी द्वन्द्व-प्रवृत्ति एवं आत्म-प्रदर्शन की भावना को सन्तुष्ट करता है। जिज्ञासा-प्रवृत्ति को यह तकली, कपास, धागा, रुई व कपड़े के विषय मे ज्ञान प्राप्त करके सन्तुष्ट करता है। वह अपने द्वारा निर्मित सारी सामग्री का स्वयं स्वामी बनता है और इस

प्रकार संचय प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करता है। इतना ही नहीं वह लगातार निर्माण करता है और इस प्रकार इस रचना के काम के द्वारा अपनी निर्माण प्रवृत्ति को भी सन्तुष्ट करता है। यही उद्योग बालक की भोजनान्वेषण-प्रवृत्ति एवं दैन्य की प्रवृत्ति को भी सन्तुष्ट करता है। इस प्रकार बुनियादी तालीम बालक की अतिरिक्त ऊर्जा एवं मनःशक्ति के उपयोग का श्रेष्ठतम मार्ग है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि यह शक्तियुक्त उद्योग न बन जावे। वर्धा शिक्षा योजना की मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि पर विवेचना करते हुए श्री टी० एन० सिक्वीरा ने कहा है—"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह उपयुक्त पद्धति है, कोई इनकार नहीं करेगा। इसमें काम करते हुए सीखने की व्यवस्था है, और फिर जो काम करता है वह निरर्थक नहीं (जैसा कि धनी देशों की खेल पद्धति में होता है) परन्तु लाभकारी काम है जिससे कुछ कीमत मिलती है जो बालक को सीखते-सीखते ही कमाने का आनन्द देता है।"

खेल की भावी जीवन के प्रति सजगता—श्री कार्लग्रूस और मेलेब्रान्के के अनुसार खेल भावी जीवन की गतिविधियों की ओर उन्मुख है। वे यह मानते हैं कि खेल में भी जीव-विद्या सम्बन्धी लाभ छिपा पड़ा है। उन मूल प्रवृत्तियों के उपयोग का उपयुक्त समय आवे, उसके पूर्व वे उन प्रवृत्तियों के दर्शन खेलों में करते हैं और इस प्रकार बालक भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तैयार होता है। महात्मा गाँधी भी बुनियादी उद्योगों के द्वारा भावी जीवन का स्वरूप पाठशाला में उपस्थित कर देते हैं। *क्योंकि उद्योग केवल खेल ही खेल में सिखाये जाते हैं, इस प्रकार ये शिक्षा का* प्राकृतिक तरीका बन जाते हैं। बुनियादी शिक्षा पद्धति मनोवैज्ञानिक है और साथ ही भावी जीवन के लिए भी तैयार करती है।

बुनियादी शिक्षा और सामान्य प्रवृत्तियाँ—अन्य सामान्य प्रवृत्तियाँ जैसे सहानुभूति, संकेत आदि भी बुनियादी शिक्षा पद्धति द्वारा सम्पूर्ण विकास प्राप्त करते हैं। बालक बुनियादी शिक्षा के सहारे परस्पर सहानुभूति और सहयोग की भावना उत्पन्न करना सीखता है। रचनात्मक कार्य में बालक एक दूसरे के प्रति *सहयोग* और सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। कृषि-कार्य में एक ही क्यारी को बालकों का एक वर्ग तैयार करता है, बीज बोता है, पानी देता है, इस प्रकार समूह में रहकर वे एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन का अच्छा अवसर प्राप्त करते हैं। संकेत प्रवृत्ति के सभी अंग-प्रत्यंग जैसे आत्म-संकेत आदि और यहाँ तक कि विरुद्ध संकेत के लिए भी बुनियादी शिक्षा समीचन विकास का क्षेत्र उपस्थित करती है। अनुकरण प्रवृत्ति का रूपान्तर *बुनियादी शिक्षा ग्रहण करने के लिए सरलता से किया जा सकता है।* रचनात्मक कार्य में तो अध्यापक स्वयं भी बालकों के साथ कार्य करता है जिससे बालक कार्य करने की उचित प्रणाली को अध्यापक का अनुकरण कर सीखते हैं। इस प्रकार विशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ और सामान्य मूल प्रवृत्तियाँ सभी के विकास के लिए बुनियादी शिक्षा जागरूक है। इन्हीं का विस्तृत विश्लेषण इसी पुस्तिका के मनोविज्ञान के *खण्ड में यथा-स्थान किया गया है।*

बुनियादी शिक्षा सम्पूर्ण से विभाजन की ओर—बुनियादी शिक्षा का केन्द्र बालक है, यह बालक का सर्वांगीए विकास करती है। बालक को विभाजित न करते हुए उसके जीवन का समष्टि रूप का उन्नयन बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य है और इसी लिए बुनियादी शिक्षा सम्पूर्ण से विभाजन की ओर ले जाती है। इस तरह यह गेस्टाल्टवाद के अनुकूल सफल सिद्ध होती है। गेस्टाल्टवाद समस्या को सम्पूर्ण रूप से देखकर तत्पश्चात् उसके अवयवों का विभाजन करता है और यही बात हम बुनियादी शिक्षा मे पाते हैं क्योंकि इसमे ज्ञान की सम्पूर्णता पर स्थान-स्थान पर अधिक जोर दिया जाता है। ज्ञान का विभाजन नही किया जाता।

बुनियादी शिक्षा और सामूहिक मनोविज्ञान—बुनियादी शिक्षा बालकों के व्यक्तिगत भेद की ओर पूर्णतः सचेत रहती हुई भी समष्टि की रूपरेखा बनाती है। यों कहना चाहिए कि बुनियादी शिक्षा व्यष्टि मे भी समष्टि को पूर्णतया निभाती है, क्योंकि बालक अपनी शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक क्षमता के अनुकूल कार्य करता है, सीखता है। फिर भी सभी बालक मिल-जुल कर काम करते हैं जिसके कारण एक दूसरे के सकेतों को मानना, एक दूसरे का अनुकरण करना, एक दूसरे के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करना आदि सभी सामाजिकताओं का पूर्ण विकास बालक में होता है। बालसमाज की दृष्टि से बालक एक दूसरे को समझते हैं, सम्मान से देखते हैं और सम्मिलित रूप से समस्याओं को सुलझाते है। इस प्रकार मिलजुल कर कष्टों का सामना करने की क्षमता उनमें आती है। यही नही बुनियादी शाला का कार्य बालक स्वयं संघ के रूप में आयोजित होकर चलाते हैं जिसके कारण बालकों में प्रबन्धकर्त्ता की विशेषताएं, नेता की विशेषताएं, आज्ञापालन की विशेषताएं उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा सामूहिक मनोविज्ञान से लाभ उठाने का पूरा-पूरा अवसर देती हुई बालक के वैयक्तिक विकास के लिए भी उपयुक्त अवसर प्रदान करती है।

इस प्रकार बुनियादी शिक्षा, मनोविज्ञान के करीब-करीब सभी सम्प्रदायों के शिक्षा सम्बन्धी विश्लेषणों से मेल खाती है। इसी कारण यह श्रेष्ठ प्रणाली मानी जाती है।

सारांश

(१) भूमिका—महात्मा जी की प्रत्येक कृति मनोवैज्ञानिक आधार पर आधारित है। बुनियादी शिक्षा उन कृतियों में से एक है।

(२) उद्योग का बौद्धिक विकास से अटूट सम्बन्ध है। उद्योग ही बुद्धि का विकास करता है।

(३) उद्योग द्वारा प्रवृत्तियों का सही उपयोग।

(४) खेल भावी जीवन के प्रति सजग रहता है।

(५) बुनियादी शिक्षा और सामान्य प्रवृत्तियां।

(६) बुनियादी शिक्षा सम्पूर्ण से विभाजन की ओर अग्रसर है।

(७) बुनियादी शिक्षा सामूहिक मनोविज्ञान के अनुकूल है। यह सभी प्रमुख मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं के अनुकूल है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) "बुनियादी शिक्षा मनोविज्ञान से लाभ उठाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करती है" इस कथन की सप्रमाण पुष्टि कीजिये।

(२) बुनियादी शिक्षा के केन्द्र "उद्योग" का उदाहरण सामने रखते हुए यह प्रमाणित कीजिये कि यह योजना मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रित है।

—:०:—

राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक आधार

"अ" सामाजिक आधार

प्रत्येक समाज की अपनी एक व्यवस्था होती है। यह व्यवस्था ही उसे अन्यों से भिन्न बनाये रखकर एक विशेष प्रकार का रूप भी देती है। प्रत्येक समाज अपने इस विशेष रूप को कायम रखना चाहता है। इस रूप के कायम रखने के अनेकों साधनों में से एक साधन शिक्षा भी है। समाज जब अपने बच्चों के लिये शिक्षा की व्यवस्था करता है वह उस व्यवस्था का सामाजिक आधार पर गठन करता है। इससे समाज की अपनी व्यवस्था पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। समाज में कुछेक बुराइयाँ भी हो सकती हैं। उन्हें दूर भी करना पड़ता है। समाज में अनेक अच्छाइयाँ होती हैं। उन्हें दृढ़ करना पड़ता है। उन्हें अधिक व्यापक बनाने की दृष्टि से भी सतर्क रहना पड़ता है। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति शिक्षा को सामाजिक आधार देकर की जाती है। अतः शिक्षा का समाज के प्रति एक बहुत बड़ा जिम्मा आ जाता है।

बुनियादी शिक्षा की सफलता—शिक्षा की जिम्मेदारी को समझ लेने पर यह जानना आवश्यक हो जाता है कि शिक्षा इसे किस प्रकार पूरा कर सकती है ? यह तभी सम्भव है जब कि शिक्षालय में बालक को सामाजिक प्राणी की तरह शिक्षा दी जावे। केवल पुस्तकों द्वारा सूचनात्मक ज्ञान के रूप में ही सामाजिक नियमों की जानकारी नहीं दी जावे वरन् उनका क्रियात्मक रूप भी शाला में उपस्थित किया जावे। समाज में जैसे शासन चलता है, वैसा ही विद्यालय का शासन हो, समाज में जैसे काम करते हुए ज्ञान प्राप्त करते हैं वैसे ही विद्यालय में ज्ञानप्राप्ति की व्यवस्था हो, समाज में जितना समय उदरपूर्ति के कार्य में देते हैं उसी अनुपात में वहाँ भी उद्योग का समय हो। अगर ऐसा हो पाता है तो समाज के सामने जो समस्याएँ उपस्थित हैं वे एक सीमा तक शाला-समाज में उपस्थित होंगी। तब बालक उनका समाधान ढूंढने का प्रयत्न करेंगे और अपने समाज की समस्याओं का समाधान ढूंढते-ढूंढते स्कूल के बाहर की एवं भावी जीवन की समस्याओं का समाधान ढूंढ निकालने का प्रशिक्षण पावेंगे। बुनियादी तालीम में शाला समाज की व्यवस्था एवं गठन इसी प्रकार होता है। यह सब कुछ यह स्पष्ट करता है कि इस शिक्षा-प्रणाली का आधार सामाजिक है।

"आ" नैतिक आधार

नैतिकता की दृष्टि से हमारे समाज की दशा—शिक्षा के उद्देश्यों के

अन्तर्गत नैतिकता के उद्देश्य पर पर्याप्त बल दिया गया है। उच्च श्रेणी का समाज नैतिकता पर आधारित होता है। अगर समाज के नैतिक जीवन में पतन होता है तो समाज की स्थिति डांवाडोल हो जाती है। मानव का मानव पर से विश्वास खंड-खंड होने लगता है। समाज की एकता विध्वंस होने लगती है। हमारे देश की भी आज इस दृष्टि से स्थिति अच्छी नहीं है। परन्तु प्राचीन काल में यहां नैतिकता का प्राधान्य था और आज भी भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे नेतागए उस पुराने आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।

नैतिकता को भावना उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व शिक्षा पर—नैतिकता हमारी प्राचीन संस्कृति का मुख्य अंग है। अंग्रेजी शिक्षा हमारी संस्कृति के प्रतिकूल थी। विदेशी शिक्षा-काल में हृदय की एवं मन की शिक्षा के अभाव में नैतिकता का मूल्य व्यावहारिक जीवन में कम हो गया था। इस परिस्थिति को आज हम समाप्त करना चाहते हैं। हमारी शिक्षा ही इस उद्देश्य में सहायक हो सकती है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का आधार 'सत्य और अहिंसा' है। इस शिक्षा के द्वारा हम अपने समाज में सत्य, अहिंसा व न्याय को इनका पुराना स्थान दिलाना चाहते हैं।

बुनियादी शिक्षा की सफलता—एक उच्च कोटि के जनतन्त्रीय समाज का आधार उच्च आदर्शों पर हो यह जरूरी है। बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा भी हम अपने देश में सब का उत्थान करना चाहते हैं। इस शिक्षा का आधार "सत्य और अहिंसा" है। इस शिक्षा के द्वारा हम यह चाहते हैं कि सभी नागरिक अहिंसा की भावना के ओत-प्रोत हों। प्रत्येक अपनी कमाई खुद खावे। प्रत्येक अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करे। हर एक दूसरे की फिक्र रखे, साथ ही अपनी फिक्र ऐसी न रखे जिससे दूसरे को तकलीफ हो। हम स्कूल-समाज की इन्हीं आधारों पर रचना करते है। स्कूल के जीवन को नैतिक जीवन का रूप देकर और सत्य-अहिंसा की स्थापना करके हम एक ऐसी स्थिति की रचना करना चाहते हैं जिसमें नैतिकता के बन्धन अधिक दृढ़ हों। राष्ट्रीय शिक्षा की यह भावना हमारी परम्परागत नैतिकता की भावना के अनुकूल है।

"इ" आर्थिक आधार

आर्थिक स्वावलम्बन—नयी तालीम का यह आर्थिक आधार शिक्षा के स्वावलम्बी स्वरूप की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब इस तालीम का जन्म हुआ था उस समय विदेशी शासनकाल में राष्ट्र की शिक्षा का खर्च शराब की आय से चलता था। शराब-बन्दी आन्दोलन के कारण वह आमदनी भी कम होने जा रही थी और फिर प्राथमिक अनिवार्य शिक्षा का खर्च तो बढ़ना ही था। देश रुपये के अभाव में शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण कार्य के लिये अधिक इन्तजार नहीं कर सकता था। महात्मा जी ने योजना तैयार की और यह अपेक्षा की कि नयी तालीम के तरीके से धीरे-धीरे अध्यापकों की तनख्वाह का खर्च निकल आवेगा। प्रारम्भ में ही पूज्य बापू जी ने यह कहा था कि काम यदि लगन, कुशलता और वैज्ञानिक ढंग से न किया गया तो एक

और अर्थ-पूर्ति में कमी आती जावेगी व दूसरी ओर शासन भी इतना भार सहन न कर सकेगा और ऐसी परिस्थिति आवेगी कि दस्तकारी को माध्यम के रूप में छोड़ना पड़ेगा। उसका स्थान केवल दिखावे मात्र का रह जावेगा और उद्योग के आधार पर शिक्षा की पद्धति के लाभ से राष्ट्र वंचित रह जावेगा।

स्वावलम्बी शिक्षा का हमारे राष्ट्र के लिए महत्व—शिक्षा की स्वावलम्बी योजना भारत की आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल है। हमारे देश को ऐसी ही योजना की आवश्यकता है। एक ओर प्रारम्भिक शिक्षा पर अनन्त धन राशि व्यय करना हमारे देश की सामर्थ्य के बाहर है और दूसरी ओर अगर येन केन प्रकारेण ऐसा करने का प्रयत्न किया भी जाय तो निर्धन नागरिकों पर करों का बोझ बढ़ जायेगा। अन्यथा पैसा आयेगा कहाँ से? इसी कारण शिक्षा की पद्धति को ही ऐसा बनाया गया कि जिससे शिक्षक का वेतन उद्योग द्वारा प्राप्त हो सके। आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बन के दो ही महत्वपूर्ण पहलू हैं, पहला राज्य को प्रभावित करता है, जिसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है और दूसरा पहलू बालक और माता-पिता को भी प्रभावित करता है। बालक युवा बन कर अपनी शिक्षा प्राप्त करते हुए उद्योग द्वारा उदरपूर्ति कर सकने के योग्य बनता है। बालक की शिक्षा ऐसे सरल व सस्ते तरीके से हो इससे अधिक अच्छी बात राष्ट्र और माता-पिता दोनों के लिए और क्या हो सकती है।

ग्रामोद्योग का पुनर्जीवन—उद्योग पर आधारित यह शिक्षा मजदूरों को कार्य-कुशल बनावेगी और पुराने घरेलू उद्योग एक बार फिर सजीव हो उठेंगे। इस प्रकार कि राष्ट्र-निर्माण के कार्यों के हेतु योग्य एवं कुशल कारीगरों का अभाव महसूस नहीं होगा। इसी प्रगति के कारण देश की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा और हमारे देश में भी शारीरिक कार्य का आदर होने लगेगा जिसके फलस्वरूप अच्छे-अच्छे वैज्ञानिक तथा आविष्कारक उत्पन्न होंगे। अतः यह स्पष्ट है कि बुनियादी तालीम का आर्थिक पक्ष हमारे समाज की आर्थिक स्थिति के पूर्णरूपेण अनुकूल है।

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा के सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक आधार हमारे देश की आज की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल हैं। यह बुद्धिजीवियों और श्रमजीवियों को समान रूप से आदर का स्थान प्रदान करेगी। अतः यह भारत में स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व तथा न्याय की जड़ मजबूत करके सही अर्थ में लोकतन्त्र की स्थापना कर सकेगी।

सारांश

'अ' सामाजिक आधार

(क) समाज नागरिकों से यह अपेक्षा करता है कि वे समाज की संस्कृति को अपने जीवन में उतारें ही नहीं वरन् समय-समय पर कुरीतियों को दूर करने के लिए समाज का नेतृत्व भी करें। इस प्रकार प्रत्येक नागरिक समाज में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करे।

(ख) शिक्षा ही व्यक्ति को अपना स्थान समाज में प्राप्त करने में सह
हो सकती है।

(ग) बुनियादी तालीम समाज के अनुरूप परिस्थितियों में बालक को शि
करके उपरोक्त उद्देश्य में योग देती है।

'श्रा' नैतिक आधार

(क) हमारे देश में अधिकांश नागरिकों में नैतिकता का अभाव है।

(ख) उपरोक्त अभाव की पूर्ति राष्ट्रीय शिक्षा को ही करनी होगी।

(ग) राष्ट्रीय शिक्षा एक ऐसे समाज की स्थापना करेगी जिसके नैतिक
बन्धन अधिक दृढ़ होंगे।

'इ' आर्थिक आधार

(क) आर्थिक स्वावलम्बन का महत्व कम करने से एक दिन ऐसा आ सक
है जबकि दस्तकारी को माध्यम के रूप में छोड़ना पड़े।

(ख) स्वावलम्बी शिक्षा की योजना के द्वारा ही हमारा राष्ट्र शिक्षित कि
जा सकता है।

(ग) यही शिक्षा-पद्धति हमारे ग्रामोद्योग को पुनर्जीवन प्रदान करेगी।

यह शिक्षा-पद्धति हमारे राष्ट्र की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आ
वश्यकताओं की पूर्ति करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) बुनियादी शिक्षा हमारे समाज की परिस्थितियों से किस प्रकार मेल खाती है
स्पष्ट कीजिये।

(२) बुनियादी शिक्षा हमारे समाज की लोकतन्त्रीय शासन पद्धति के किस प्र
अनुकूल है? स्पष्ट कीजिये।

(३) बुनियादी शिक्षा में नैतिकता की शिक्षा का क्या स्थान है? स्पष्ट कीजिये।

(४) बुनियादी शिक्षा हमारे राष्ट्र की आर्थिक परिस्थितियों के किस प्रकार अनुकूल है
स्पष्ट कीजिए।

—:०:—

बुनियादी शिक्षा में स्वावलम्बन

सन् १९३७ में स्वावलम्बी शिक्षा पर अपना विचार प्रकट करते हुए पूज्य महात्मा जी ने कहा था "समस्त राष्ट्र की दृष्टि से हम शिक्षा में इतने पिछड़े हुए हैं कि कि अगर शिक्षा-प्रचार के लिए हम केवल धन पर ही निर्भर रहेंगे, तो एक निश्चित समय के अन्दर राष्ट्र के प्रति अपने फर्ज को अदा करने की आशा हम कभी कर ही नहीं सकते। इसीलिए मैंने यह सुझाने का साहस किया है कि शिक्षा को हमें स्वावलम्बी बना देना चाहिए, फिर चाहे लोग भले ही मुझे यह कहें, कि मेरे अन्दर किसी रचनात्मक कार्य की योग्यता नहीं है।''''''सिर्फ अक्षर-ज्ञान को शिक्षा कहना गलत है। इसलिए बच्चे की शिक्षा का आरम्भ मैं किसी दस्तकारी की तालीम से करूँगा और उसी क्षण उसे कुछ निर्माण करना सिखा दूँगा। इस प्रकार हर एक पाठशाला स्वावलम्बी हो सकती है। शर्त सिर्फ यही है कि इन पाठशालाओं की बनी चीजें राज्य खरीद लिया करे।" वे इतना कह कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए उन्होंने तो यहाँ तक कहा "ऐसी (बुनियादी) शिक्षा यदि सम्पूर्ण रूप से मानी जावे तो अवश्य ही स्वावलम्बी होगी। स्वावलम्बन ही सच्ची शिक्षा की खरी कसौटी है।" ऐसा कहकर वे अपने कथन की उपयुक्तता को इन शब्दों में प्रमाणित करते हैं—"मैं अध्यापक का खर्च बालकों के शारीरिक श्रम से तैयार वस्तुओं से पूर्ण करने के लिए बड़ा उत्सुक हूँ क्योंकि मैं इस बात से सन्तुष्ट हू कि अपने करोड़ों बच्चों की शिक्षा चलाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

शिक्षा में स्वावलम्बन का आदर्श इतिहास में पहली बार—जब यह विचार-धारा समाज के सामने आई तो इसका विरोध होना स्वाभाविक था। शिक्षा का प्रयोग शुरू हुआ परन्तु यह तो प्रारम्भिक प्रयोग था और इसमें अनेक अभाव रहने स्वाभाविक थे। महात्मा जी अपने शब्दों पर दृढ़ रहे। सन् १९४५ में यरवदा जेल से बाहर पदार्पण करने पर उन्होंने फिर कहा—"मैं जानता हूँ कि सच्ची तालीम स्वाश्रयी है। इसमें शर्म नहीं है, लेकिन शापन है। अगर हम इसे बना सकें और कह सकें कि उसी में मन यानी मस्तक का सच्चा विकास होता है, तो आज जो हमारी हँसी उड़ाते हैं वही नयी तालीम की तारीफ करेंगे और नयी तालीम सर्वव्यापक बनेगी और आज के सात लाख देहात, जो हमारी सब प्रकार की निर्धनता बताते हैं, समृद्ध होंगे। यह समृद्धि बाहर से नहीं आवेगी मगर भीतर से—हमारे प्रत्येक देहाती के शुद्ध उद्योग से आयेगी। यह स्वप्न हो या सच्चा खेल। नयी तालीम का यह उद्देश्य है। इससे छोटा कुछ नहीं। इस उद्देश्य को सही करने में सत्यरूप ईश्वर हमें मदद दे।"

केवल आंशिक सफलता—बिहार प्रान्त के स्कूलों से जो लेखा-जोखा प्राप्त

होता रहा है उसके अनुसार यह आशा बँध चली है कि बुनियादी शालाएँ स्वावलम्बन की ओर अग्रसर हो रही हैं और धीरे-धीरे वे आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो जावेंगी। यह आर्थिक विकास एक नई चेतना प्रदान करके हमारे पथ को अधिक प्रकाशमय कर रहा है और वे क्षेत्र जो पहले स्वावलम्बी पहलू की हँसी उड़ाते थे अब इस विकास से विस्मित हैं। फिर भी आर्थिक स्वावलम्बन ही इस शिक्षा के स्वावलम्बी स्वरूप का अर्थ कदापि नहीं। यह तो उस स्वावलम्बी पहलू का एक अंग मात्र है।

स्वावलम्बन पर विनोबा जी के विचार—विनोबा जी ने कहा है "आजकल बहुत से लोग कहते हैं कि तालीम में स्वावलम्बन का बहुत महत्व है। पर मेरे मन में इसका बहुत गहरा अर्थ है। तालीम मे कुछ उद्योग और शारीरिक परिश्रम सीखना चाहिए, ताकि जनता स्वावलम्बी बने, इतना ही मेरा अर्थ नहीं है। शरीर से परिश्रम तो करना ही चाहिए······उत्पादन भी बढ़ेगा और आरोग्य भी सुधरेगा। इस तरह उद्योग से बहुत लाभ होंगे। इसलिए कम से कम उस अर्थ में तो तालीम में स्वावलम्बन का माद्दा होना ही चाहिए······परन्तु मेरा अर्थ इतना ही नहीं है।" वे इसी के साथ यह भी कहते हैं कि शिक्षा के द्वारा लड़के स्वतन्त्र विचारक बनें और विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा प्राप्त हो जिससे वे खुद आगे आकर विद्या प्राप्त करें। माध्यमिक-शिक्षा आयोग ने भी ऐसे ही विचार रक्खे हैं। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह स्पष्ट किया है कि बालकों को सूचनाएँ देना शिक्षा नहीं है, वरन् सूचनाएँ प्राप्त करने का तरीका सिखा देना ही शिक्षा है। आज के माता-पिता बालकों को स्कूल में शिक्षित होने को भेजते हैं और यह आशा करते हैं कि यह शिक्षा उनको नौकरी प्राप्ति में सहायक होगी। विद्या को इस दृष्टि से देखना गलत है। विद्या तो मुक्ति के लिए है।

मुक्ति बनाम स्वावलम्बन—विद्या को मुक्ति के लिए मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्या द्वारा हम परावलम्बन से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। परावलम्बन से मुक्त हो जाने पर ही व्यक्ति स्वावलम्बी कहा जा सकता है। जिसको सच्ची विद्या हासिल होती है वही सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र होता है। शिक्षा में उद्योग सिखाकर हम बालक को आर्थिक स्वावलम्बन (मुक्ति) प्रदान करते हैं और स्वयं ज्ञान-प्राप्ति की शक्ति से सम्पन्न बनकर हम बालक को ज्ञान-प्राप्ति में स्वावलम्बन (मुक्ति) प्रदान करते हैं। शिक्षा के द्वारा बालक को इन्द्रियों की गुलामी से स्वतन्त्रता दिलाकर उसमें संयम, व्रत, सेवा आदि का समावेश करा देना इसी स्वावलम्बन का तीसरा स्वरूप श्री विनोबा जी ने स्पष्ट किया है।

स्वावलम्बन के तीन अर्थ—अब यह स्पष्ट है कि स्वावलम्बन के तीन अर्थ हैं।

(क) आर्थिक स्वावलम्बन।

(ख) बौद्धिक स्वावलम्बन।

(ग) आत्म-नियन्त्रण स्वावलम्बन।

(क) **आर्थिक स्वावलम्बन**—इस विषय में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है और यह स्पष्ट है कि जब बालक उद्योग द्वारा शिक्षक को आर्थिक सहायता दे सकते

में समर्थ हो जाता है, तो आर्थिक स्वावलम्बन के पक्ष का एक अंश पूर्ण हो जाता है अर्थात् उसकी शिक्षा स्वावलम्बी बन जाती है। इसी पक्ष का अलग स्वरूप उस समय उपस्थित होता है जब बालक उत्तर बुनियादी शाला में शिक्षा लेता है। यहाँ बालक शिक्षण शुल्क कमाने के साथ अपने भोजन और वस्त्र को भी उद्योग की कमाई से पूरा कर सके ऐसा इस स्तर की शिक्षा का उद्देश्य है। यह इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि उद्योग मे विशेष योग्यता प्राप्त करते समय पाठशाला में जहाँ सब साधन उपलब्ध हों, वहाँ ही बालक अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण न कर सके तो फिर वह भावी जीवन मे स्वावलम्बी कुटुम्ब का निर्माण कर सकेगा ऐसी आशा उससे कदापि नही की जा सकती है। स्वावलम्बी कुटुम्ब ही गाँव को एक स्वावलम्बी इकाई का रूप दे सकने में सफल होंगे और अन्ततोगत्वा राष्ट्र स्वावलम्बी बनेगा।

एसेसमेंन्ट कमेटी का मत—एसेसमेन्ट कमेटी आन बेसिक एज्यूकेशन ने सन् १९५६ में उत्पादन की दृष्टि से व्यक्त किया था—"कुछ सर्वश्रेष्ठ बुनियादी शालायें एवं प्रशिक्षण विद्यालय गैर-सरकारी है और गाधी जी की रचनात्मक संस्थाओ के अन्तर्गत चलते हैं। यहाँ उत्पादन की व्यवस्था दृढ़ विश्वास एवं गम्भीरता से की जाती है। इस दृष्टि से फौरन निम्न कदम उठाये जाने चाहियें :—

(१) उत्पादन-कार्य बिना किसी अनिश्चितता के बुनियादी शिक्षा का आधार बना दिया जाये।

(२) उचित समय में-कच्चा सामान, उद्योग के औजार व अन्य सुविधाओं की व्यवस्था हो।

(३) यह विश्वास दिलाया जाये कि उत्पादन-कार्य शिक्षा का प्रभावशाली माध्यम है। इस दृष्टि से उसकी जांच व मूल्यांकन निश्चित स्तर व सीमा की दृष्टि से किया जाना चाहिये।

(४) यह प्रोत्साहन दिया जाये कि उत्पादन का एक अंश उत्पादकों, छात्रों, प्रशिक्षार्थियों व शिक्षकों द्वारा उपयोग में लाया जायेगा।

(५) अतिरिक्त उत्पादन के शीघ्रता से बिकने की राजकीय व्यवस्था विभिन्न विभागों एवं केन्द्रों द्वारा की जाये।

अगर उपरोक्त बिन्दुओं पर ध्यान दिया गया तो उत्पादन आशा से भी अधिक हो सकता है और सम्पूर्ण योजना में महत्वपूर्ण स्थान ले सकता है'''।"

स्वावलम्बी व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र—आर्थिक स्वावलम्बन व्यक्ति और समाज दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। आज का विद्यार्थी कुटुम्ब एवं समाज के लिए भार न बने यह भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से दुर्बल राष्ट्र के लिए बहुत बड़ी सेवा हो सकती है। यहाँ के लाखों कुटुम्ब अपने बच्चों को स्कूल इसी कारण नहीं भेजते क्योंकि उन्हें शिक्षा का शुल्क भी चुकाना पड़ेगा। अनेकों माता-पिता बालकों को इसीलिए नही पढ़ाते क्योंकि बालक शिक्षित होकर घर के उद्योग के विकास में रुचि नहीं लेंगे। साथ ही शिक्षा उन बालकों का कुटुम्ब से अपहरण कर लेगी और वे

कुटुम्ब की परम्पराओं से दूर, गांव की संस्कृति से दूर और गांव से भी दूर एक ऐसा जीवन बिताने को बाध्य हो जायेंगे, जो हमारी भारतीय संस्कृति के आत्मज्ञान, संतोष एवं आंतरिक सुख की भावना से बहुत दूर है। जहाँ केवल भौतिक वस्तुओं द्वारा ही सुख-शांति की प्राप्ति होती है। परन्तु हमारी बुनियादी तालीम इस ओर प्रयत्नशील है कि ऐसा युग आवे जब हमारे नागरिक हमारी संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि होकर गांव के सादा जीवन में ही सब सुखों का अनुभव करें। ऐसे नागरिक अपने भोजन और वस्त्र की जरूरत खुद पूरी करेंगे। स्कूल से विदा होने पर वे समाज पर भार न रहकर एक स्वावलम्बी कुटुम्ब का निर्माण करेंगे, और ऐसे ही अनेकों कुटुम्ब एक स्वावलम्बी समाज, एवं राष्ट्र को जन्म देंगे।

(ख) बौद्धिक स्वावलम्बन—जब तक हम दूसरों के सहारे हैं, तब तक हम परतन्त्र हैं। हमें परतन्त्रता के पाश से मुक्ति प्राप्त करनी है। शरीर की पराधीनता से हमें मुक्ति प्राप्त तभी होती है जब हम अपने पेट को पालने में समर्थ हो जायें। पेट के लिए यह सारा शरीर परतन्त्र बन जाता है, और पेट पालने की सामर्थ्य आते ही शारीरिक पराधीनता से मुक्ति मिल जाती है। इसी प्रकार हमारी बुद्धि का भी हमें पालन करना है। पालन के अन्दर विकास समाया हुआ है। विकास के लिए हमें कुछ लोगों का मुंह ताकना पड़ता है। जब तक हम उन लोगों की ओर ताकते रहेंगे, हमें उनके पराधीन रहना पड़ेगा। पराधीनता प्रत्येक को स्वतन्त्रता और शांति के सुख से वंचित करती है। अतः हमें इस बौद्धिक पराधीनता से स्वावलम्बन की ओर अग्रसर होना है। हमें अपनी बुद्धि का विकास स्वतन्त्रता से करने की कला सीखनी है। नये ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति के दिन से बौद्धिक स्वावलम्बन का श्रीगणेश हो जाता है। बुनियादी तालीम इस बौद्धिक स्वावलम्बन को प्रदान करने में समर्थ होगी ऐसा विश्वास है।

(ग) आत्मनियंत्रक स्वावलम्बन—स्वावलम्बन केवल आर्थिक और बौद्धिक दृष्टि में ही मुक्ति प्रदान नहीं करता वरन् उसका तीसरा पक्ष भी है। वह पक्ष है प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी शक्ति का निर्माण हो जिससे वह अपने आप पर काबू पा सके। अपनी इन्द्रियों और मन पर काबू हो यह इसका तीसरा रूप है। ऐसे अवसर आते हैं जब कोई व्यक्ति हमारे साथ निम्न स्तर का व्यवहार करता है, हमें अपमानित करता है व तमाचा लगाता है। हमारा मन उस समय हमें इस बात के लिये बाध्य करता है कि हम भी उसके साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करें। यह तो उस मन की बात हुई जिसके हम आधीन हैं। मन एवं इन्द्रियाँ जब अपनी बर्बर प्रकृति से सुसंस्कृत हो जाते हैं तब मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। वह इस दृष्टि से सोचना प्रारम्भ कर देता है कि अगर बाह्य हिंसा मेरे भीतर की हिंसा को जाग्रत कर देती है तो यह हिंसा की सबसे बड़ी विजय है और मेरी अहिंसा अगर विरोधी की हिंसा के पश्चात् भी कायम रहे तो यह मेरे आदर्श की विजय है। अतः ऐसे अवसर ही हमारे मन और इंद्रियों के स्वावलम्बन की कसौटी हैं।

प्रारम्भ कहाँ से और अन्त कहाँ को—स्वावलम्बन का प्रारम्भ कहाँ से हो और किस प्रकार हम आगे बढ़ें इस विषय में दो विचारधारायें हैं। आज-कल जो प्रयोग चल रहे हैं उनके अन्तर्गत तो हम पहले आर्थिक स्वावलम्बन को पूर्ण करना चाहते हैं। इसके पश्चात् ज्ञान-प्राप्ति में स्वावलम्बी होकर हम मन और इन्द्रियों की दृष्टि से स्वावलम्बी बनने की ओर अग्रसर होना चाहते हैं।

पूज्य विनोबा जी का मत इसके ठीक विपरीत है। वे जीवन को समग्र मान कर इस विचार का प्रतिपादन करते हैं कि जीवन में भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विभाग नहीं है। उनके कथनानुसार जीवन तो सच्चे अर्थ मे आध्यात्मिक ही है। जब तक विकारों से मुक्ति न हो, जब तक संयम, व्रत, सेवा आदि जीवन में न समा जावें, और जब तक ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न में स्वावलम्बन न हो, तब तक भौतिक स्वावलम्बन संभव नहीं।

जो भी हो, यह तो केवल मार्ग के मतभेद की बात है परन्तु जहाँ उद्देश्य का प्रश्न है वह तो स्वयं स्पष्ट एवं सूर्य की तरह देदीप्यमान है और उसकी सत्यता एवं स्वरूप में कहीं विरोध नही है।

सारांश

महात्मा जी ने सन् १९३७ में अपनी रचनात्मक कार्य सम्बन्धी सारी प्रतिष्ठा को बैठने की जोखिम उठाकर भी स्वावलम्बन का सिद्धान्त बुनियादी शिक्षा में प्रतिपादित किया था।

यह सिद्धान्त मानवता की शिक्षा के इतिहास में पहली बार भारत में प्रस्फुटित हुआ और यहीं इसका प्रयोग हो रहा है।

केवल आंशिक सफलता—आंशिक सफलता ही इसमें प्राप्त हुई है। क्योंकि शिक्षक के वेतन का कुछ अंश ही अब तक प्राप्त हो पाया है।

विनोबा जी के विचार—बालक को आर्थिक दृष्टि से ही नहीं वरन् बुद्धि एवं मन के दृष्टिकोण से भी स्वावलम्बी बनना चाहिए।

मुक्ति बनाम स्वावलम्बन—गति के लिए जब तक सहारा हमें बाहर ढूंढने की आदत है तब तक हम परतन्त्र हैं, हमारी मुक्ति नहीं है, हम परावलम्बी हैं। हमें अपने पर अवलम्बित रहना सीख कर परावलम्बन से मुक्ति प्राप्त करनी है। यही स्वावलम्बन है।

स्वावलम्बन के तीन अर्थ—(१) आर्थिक स्वावलम्बन, (२) बौद्धिक स्वावलम्बन, (३) आत्मनियंत्रक स्वावलम्बन।

प्रारम्भ कहाँ से—हम आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त कर के बौद्धिक और मानसिक एवं ऐन्द्रिक स्वावलम्बन की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहे हैं। पर विनोबा जी का कहना है कि जीवन की बुनियाद सही अर्थ में तो आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं। इसी कारण मानसिक एवं ऐन्द्रिक स्वावलम्बन से बौद्धिक और फिर आर्थिक स्वावलम्बन की ओर बढ़ना चाहिये। उद्देश्य पर पहुँचने के मार्ग भिन्न हो

सकते हैं पर जहाँ उद्देश्य का प्रश्न है उसकी सत्यता एवं स्वरूप में कहीं विरोध नहीं है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) महात्मा जी ने कहा है "शिक्षा के स्वावलम्बी होने को ही मैं उसकी सफलता की कसौटी मानूंगा।" इस कथन पर सविस्तार विवेचन कीजिये।

(२) आर्थिक स्वावलम्बन पर विवेचन करते हुए, यह प्रकाश डालिए कि इस ओर हमारे देश में कहाँ-कहाँ विशेष प्रगति हुई ?

(३) स्वावलम्बन का व्यापक अर्थ स्पष्ट कीजिये और यह बताइये कि सर्वोदयी समाज में इसका क्या महत्त्व है ?

(४) आचार्य विनोबा जी कहते हैं—"······भौतिक स्वावलम्बन के लिए भी विकार-मुक्त शुद्धचित्त और स्वतन्त्र विचार शक्ति चाहिए।" उपरोक्त कथन की सप्रमाण पुष्टि कीजिये।

—:०:—

नयी तालीम में ज्ञान और कर्म

ज्ञेय के साथ एकत्व द्वारा ही ज्ञान प्राप्ति—पार्थिव जगत में मानव को जो सार्वभौमता प्राप्त हुई है उसे आत्मा की शक्ति द्वारा ही नियंत्रित किया जा सकता है। यदि मानव इस सार्वभौमता को नियंत्रित करने में असफल रहे तो फिर उसमें और पशु में अन्तर ही क्या ? आत्मा की शक्ति के परिज्ञान हेतु अनुभव और अनुभूति आवश्यक हैं। तदात्मता द्वारा ही अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। ज्ञेय के साथ एकत्व द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया जाता है और यही एकत्व कर्म है। अर्थात् आत्मा की शक्ति समझने के लिए ज्ञेय के साथ एकत्व स्थापित कर ज्ञान-अर्जन करना आवश्यक है। और जो शिक्षा इस एकत्व द्वारा ज्ञान प्राप्त करा सकती है वही शिक्षा मनुष्य में अन्तर्निहित घृणा व पशुता को कुचल सकती है।

नयी तालीम द्वारा ज्ञान और कर्म का समन्वय—राष्ट्रपिता द्वारा राष्ट्र की प्रगति के निमित्त प्रदत्त नई तालीम की पद्धति इस प्रकार ज्ञेय के साथ तादात्म्य तथा एकत्व स्थापित कर ज्ञानार्जन का आश्रय बनती है। जहाँ 'निर्गुणी' शिक्षा का एकाधिपत्य था वहाँ बालक के भाग्याकाश में 'सगुणी' शिक्षा का प्रादुर्भाव हमारी जागृति का द्योतक है। सगुणी से तात्पर्य है नयी शिक्षा या नयी तालीम या जिसे बुनियादी तालीम कहते हैं। यह हमें निर्गुणोपासना की तरह केवल भावनाओं और कल्पनाओं के राज्य के बन्धन में ही आबद्ध नहीं रखती वरन् उसमें सगुणोपासना की भक्ति है, श्रद्धा है, विश्वास है, कर्म का क्षेत्र है, और इन सभी के आधार पर है ज्ञान का अर्जन जिससे मानव आत्मा की शक्ति का बोध प्राप्त करता है। इस नयी तालीम में निर्गुणोपासना की निराकारता अर्थात् अकर्मण्यता नहीं वरन् सगुणोपासना की कार्य संलग्नता है। बालक हाथ पर हाथ धरे बैठना नहीं सीखता, केवल गौण रूप से श्रोता नहीं बनता वरन् सचेष्ट कार्यकर्ता बनता है। इस तरह नयी तालीम कर्म के द्वारा वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करा कर ज्ञान और कर्म के बीच बनी खाई को पाट देती है। यों कहना चाहिये कि यह नयी तालीम विद्यार्थी को कर्मठ, कर्तव्यपरायण, कार्य-कुशल एवं व्यावहारिक बनाने के लिए प्रयत्नशील, सचेष्ट एवं कार्यरत रहती है।

यों तो ज्ञानार्जन सम्पूर्ण जीवन का कार्य है। शिक्षा जीवन के प्रथम श्वास से प्रारम्भ होकर अन्तिम प्रश्वास तक चलती है। पर हृदय, हाथ और मस्तिष्क का जो शिक्षा सुसमन्वय कर सके, जो शरीर, मन और आत्मा के उत्तम गुणों का विकास कर सके, जो अन्तर्निहित आकांक्षाओं, अनुभूतियों को प्रकाश में ला सके वही शिक्षा सच्ची शिक्षा है और यह स्पष्ट है कि ऐसी शिक्षा हमारे कर्म और ज्ञान में सामंजस्य स्थापित करने वाली होनी चाहिये। अन्यथा जो शिक्षा केवल ज्ञान कराने साथ ही

कार्यरत न रखे, वह शिक्षा उसी प्रकार की होगी जैसे कि चोर चुराकर घर भरता जाय और उस सामग्री को प्रयोग में लाने की क्षमता न रखे।

नयी तालीम जीवन की शिक्षा—यों कहना चाहिये कि नयी तालीम जीवन की शिक्षा है, जीवन के लिए शिक्षा है, जीवन द्वारा प्रदत्त शिक्षा है और जीवन के माध्यम द्वारा प्राप्त शिक्षा है अर्थात् यह शिक्षा वही दे सकता है जिसने अपने जीवन को ही इस शिक्षा के 'कर्म' के अनुसार ढाल दिया हो और इस कर्म के आश्रय से जिसने ज्ञान उपलब्ध किया हो और जिसने इस तरह आत्म-शक्ति का परिज्ञान प्राप्त करने का साहस किया हो। तात्पर्य यह है कि अपने जीवन का तादात्म्य इस पद्धति से स्थापित किया हो तभी तो वह शिक्षा देने जैसा पुनीत कार्य अपना सकता है। वस्तुतः अध्यापक के हृदय में कार्यों के प्रति सम्मान होना चाहिए। कोई काम छोटा नहीं है और न बड़ा ही है। हरिजनों का कार्य निकृष्ट नहीं है और ब्राह्मणों का कार्य ही सर्वोत्कृष्ट नहीं। यही भावना नयी तालीम के शिक्षकों के विचारों का मूल स्रोत अथवा आधार-शिला होनी चाहिए तभी शिक्षा में एक क्रांति आ सकती है। तभी वांछित परिवर्तन लाया जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि मैं चाहता हूं—कि प्रत्येक भारतीय महान् आत्मशक्ति वाला, विशाल बुद्धि शक्ति वाला, तथा सुदृढ़ कलाई वाला (कार्य-शील) बने। मैं समझता हूं कर्म और ज्ञान का समन्वय ही है और इस कथन का सूत्र भी। अर्थात् प्रत्येक भारतीय कर्म और ज्ञान के सुन्दर तारतम्य मे सज्जित हो जिससे जिन्दगी जीने की वस्तु, आनन्द से ओत-प्रोत और साकार प्रतीत हो न कि केवल भारस्वरूप और यही बात नयी तालीम सिखाती है।

कर्म द्वारा शिक्षा प्राचीन परिपाटी—अध्ययन काल मे शिक्षार्थी को कर्मरत रखना हमारी प्राचीन गौरवपूर्ण परिपाटी रही है। विद्यार्थी गुरु के आश्रम में जाकर विद्योपार्जन करते थे पर सिद्धान्तों का जीवन में परिपालन भी उसी समय होता था। शिष्य काम करके स्वयं का तथा गुरु का पालन-पोषण करते थे। समिधा एकत्र करना, पशुपालन, कृषि-कार्य, वस्त्रों का प्रबन्ध आदि सभी कार्यों का भार शिष्यों पर ही था। प्रत्येक मानव को अपने जीवन में मूलतः ये ही तो कार्य करने पड़ते हैं और ये ही कार्य छात्र सिद्धान्त के रूप में नहीं वरन् स्वयं करके सीखता था। यह पद्धति साधारण नहीं समझी जानी चाहिये क्योंकि उस समय यही शिक्षा प्राप्त कर अर्थ-शास्त्री हुए, राजनीतिक हुए, सन्त-महात्मा हुए, जो हमारे लिए अब भी आश्चर्यमयी गुत्थी और समस्या के रूप में हैं, जिसको समझने के लिये आज की शिक्षा-पद्धति नहीं वरन् वही प्राचीन ज्ञान और कर्म का समन्वय करने वाली शिक्षा पद्धति अपेक्षित है। यह पद्धति व्यक्ति को स्वावलम्बी, स्वाभिमानी एवं, स्वदेश-गौरव-रक्षा हेतु सबल बनाती थी। यह संस्कृति परम्परा एवं आर्थिक दृष्टिकोण से सबल और कारगर थी। हमारी इसी प्राचीन संस्कृति के आधार पर तो भारत आज भी गौरवमय बना हुआ है।

नयी तालीम का आधार उद्योग—केवल यही शिक्षा बौद्धिक और औद्योगिक

ज्ञान कराने की क्षमता रखती है। सिद्धान्त के प्रत्येक पहलू का ज्ञान हाथ द्वारा उसे कार्यरूप में परिणित कर प्राप्त किया जाना आवश्यक है। उसमें क्रियाशील रहकर क्षमता प्राप्त करने पर ही तो वह जीवन का वांछित पहलू बन सकता है। तभी तो दोनों समरस हो सकते हैं। एक,जीव हो सकते हैं। और यही जीवन पर एक स्थायी छाप अंकित कर सकती है। यही नही भौतिक शास्त्र के अध्ययन के द्वारा 'उस' की ओर जिज्ञासा बढ़ती है जो इस सम्पूर्ण जगत का नियामक है। इस तरह विश्लेषणात्मक शक्ति के आधार पर आत्म-परिज्ञान सम्भव है। इसमें विशेषता यही है कि स्वेच्छानुकूल छात्र अर्जन करता है। उस पर भार नहीं। यह बन्धन नहीं, वरन् कार्य को हाथ से करने की रुचि है, वस्तुओं को प्रयोग मे लाने की जिज्ञासा है, नव निर्माण का आनन्द है, कार्य को सहयोग के साथ करने की भावना है और अन्त में आत्मतोष है। इस तरह शिक्षा कर्म और ज्ञान के आधार पर छात्र मे सर्वांगीण विकास की भावना का उद्रेक करती है। जिससे प्रत्येक छात्र अपनी स्वयं की शक्ति वंशानुक्रम एवं वातावरण के आश्रय से प्रगति प्राप्त करता है। फिर क्या यह स्वानुभूत्यैकलभ्य शिक्षा नही जो मनोवैज्ञानिकों और शिक्षा-शास्त्रियों के लिये सर्वदा ही खोज की वस्तु बनी हुई है ?

महात्मा गाँधी ने स्वयं भी दर्शाया है कि, "शिक्षा का अर्थ अक्षर-ज्ञान ही नहीं है। अक्षर-ज्ञान शिक्षा का साधन मात्र है। शिक्षा का अर्थ यह है कि बच्चा मन तथा सारी इन्द्रियों के अच्छा काम लेना जाने। यानी बच्चा अपने हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों का और नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का सच्चा उपयोग करना जाने। × × × × यदि बचपन से बालकों के हृदय की वृत्तियों को योग्य दिशा मिले, उन्हें खेती, चरखा आदि उपयोगी कार्यों मे लगाया जाय और जिस उद्योग से उनका शरीर कसे, उस उद्योग के फायदों और उसमें काम आने वाले औजारों की बनावट की जानकारी उन्हें करायी जाय तो बुद्धि अपने आप बढ़ेगी। ऐसा करते हुए गणित शास्त्र और दूसरे शास्त्रों के जितने ज्ञान की जरूरत हो वह दिया जाता रहे और साहित्य आदि विषयों की जानकारी भी कराई जाती रहे तो तीनों चीजों का समतोल कायम हो जाय और शरीर का विकास हुये बिना न रहे।"

सत्य भी तो है शरीर कुछ इन्द्रियों का गुम्फन है। इन इन्द्रियों का प्रयोग मनुष्य कार्य करने हेतु करता है और उसी से अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त करता है। अतः शिक्षा का अर्थ यही है कि वह मनुष्य की इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करे। मनुष्य केवल बुद्धि नहीं, केवल हृदय नहीं और केवल आत्मा नहीं। तीनों के सम्यक् विकास के लिये ज्ञान और कर्म का समन्वय आवश्यक है।

अतः नयी तालीम का शिक्षक काम के द्वारा तालीम देने का प्रयत्न करता है। स्थूल वस्तु के आधार पर ज्ञानोपार्जन कराता है। छात्रों द्वारा कार्य कराया जाता है साथ ही आवश्यकतानुसार उन्हें आवश्यक ज्ञान भी कराया जाता है। यही है समवाय पद्धति अथवा कर्म और ज्ञान का समन्वय। कार्य ज्ञान से भरपूर है।

अध्यापक का कार्य यह है कि उन बातों को शृंखलाबद्ध करके बालकों के सामने बोधगम्य स्वाभाविक रूप में रखे। यही है समवाय का मुख्य काम। अध्यापक का कार्य उद्योग (कार्य) और ज्ञान को व्यवस्थित करना है, उनका क्रम बाँधना है। उनको शृंखला में बाँधना है जिससे कि छात्र के सम्मुख दुरूहता, दुर्गमता खड़ी न हो सके। वर्तमान शिक्षा में पुस्तकें आधार हैं पर नयी तालीम में पाठशाला तथा आस-पास के सक्रिय उद्योग ही सजीव पुस्तक बनकर लिखने पढ़ने का ज्ञान कराते हैं। बालक को प्रत्येक कार्य हाथ से करना पड़े यही हमारा आदर्श होना चाहिये। ज्ञान के साधन हाथ से काम, अवलोकन, अनुभव, प्रयोग और सेवा हैं। समवाय पद्धति में इनका ही समावेश होना चाहिये।

महात्मा गाँधी ने भी कहा था, "तुम्हारे ज्ञान की कीमत तुम्हारे काम से होगी। सैकड़ों किताबें दिमाग में भर लेने से उसकी कीमत मिल सकती है किन्तु उसके हिसाब से काम की कीमत कई गुनी ज्यादा है। दिमाग में भरे हुए ज्ञान की कीमत सिर्फ काम के बराबर ही है बाकी सब ज्ञान दिमाग के लिये व्यर्थ का बोझ है। इसलिये मेरी तो सदा यही प्रार्थना है और यही आग्रह है कि तुम जैसा पढ़ो और समझो वैसा ही आचरण करना। वैसा करने से ही उन्नति है।"

नयी तालीम की आत्मा सत्य और अहिंसा, करना कर्म और ज्ञान—'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' होती है। बौद्धिक शिक्षा का उत्तम साधन औद्योगिक या प्रायोगिक शिक्षा ही है। यदि नयी तालीम के इस कर्म और ज्ञान के समन्वय से बालकों में शिक्षा का प्रसार किया गया तो यह निश्चित है कि टालस्टाय के शब्द में "हम अपने पड़ोसियों के कंधों पर से उतर जाने की क्षमता उनमें उत्पन्न कर सकेंगे।" स्वतन्त्र राष्ट्र की सुरक्षा का एक स्तम्भ स्वावलम्बन भी तो है जो कर्म और ज्ञान की समवायी पद्धति से युक्त नयी तालीम का मुख्य उद्देश्य है।

अंग्रेजी की धार्मिक पुस्तक बाईबिल का निष्कर्ष सूत्र भी यही है—'तू अपने पसीने से अपनी रोटी कमा।' इस पसीने से रोटी कमाने के लिये मानव को बौद्धिक विकास की शिक्षा की ही नहीं वरन् हाथ-पावों की शिक्षा की आवश्यकता है। अक्षर-ज्ञान से भी मूल्यवान खाना-कपड़ा है, इसी बात को गाँधी जी ने लोगों को समझा-बुझाकर कहा और इसी सूत्र मत के आधार पर शिक्षा की क्रान्तिकारी धारा लोगों के सम्मुख रखी। कुछ विदेशी लोग भी भारत की इस नयी विचार-धारा के प्रति उत्तेजित हुए। उन्होंने भी इसकी आलोचना की। अमेरिका के एक पादरी ने महात्मा गाँधी जी को तकली की दुहाई पर आक्षेप करते हुए पत्र लिखा कि भारतीयों का उद्धार चरखे से नहीं अक्षर-ज्ञान से होगा। महात्मा जी ने उत्तर दिया—"ईसा मसीह को भी कभी अक्षर ज्ञान न था। मोक्ष प्राप्त करने के लिये अक्षर ज्ञान की आवश्यकता नहीं।"

अतः अक्षर-ज्ञान मात्र ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं होना चाहिये। भारत की भौगोलिक, सामाजिक, प्राकृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के अनुकूल ऐसी शिक्षा

की आवश्यकता है जो भारत के भावी नागरिकों को अपनी रोटी अपने ही पसीने से कमाने योग्य बना सके। और यदि ऐसी क्षमतायुक्त कोई शिक्षा सम्भव है तो वही बुनियादी शिक्षा या नयी तालीम जो सत्य और अहिंसा की आत्मा वाली और कर्म और ज्ञान के चरणों से चलने वाली है।

सारांश

ज्ञेय के साथ एकत्व द्वारा ही ज्ञान प्राप्ति—मनुष्य जिज्ञासु बनकर जानने के लिए वस्तुओं से आत्मीयता उत्पन्न करता है। और उस आत्मीयता को कार्यरूप में परिणत करना ही कर्म है उस आत्मीयता के कार्य को करने के साथ उसे अनुभव अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति होती है।

नयी तालीम में ज्ञान और कर्म का समन्वय—नई तालीम कर्म के द्वारा वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कराकर ज्ञान और कर्म के बीच बनी खाई को पाट देता है।

नयी तालीम जीवन की शिक्षा—नयी तालीम जीवन द्वारा जीवन के लिए प्रदत्त शिक्षा है अर्थात् नई तालीम जीवन की एक सफल पद्धति है जिसमें काम के छोटे-बड़े अन्तर को कोई स्थान नहीं।

कर्म द्वारा शिक्षा प्राचीन परिपाटी—प्राचीन काल से ही गुरु के आश्रमों में रहकर कर्म द्वारा ज्ञान प्राप्त करते आये हैं।

नयी तालीम का आधार उद्योग—नयी तालीम काम द्वारा बालकों को ज्ञान देती है।

नयी तालीम की आत्मा सत्य और अहिंसा; चरण, कर्म और ज्ञान—इन चारों विशेषताओं पर बुनियादी शिक्षा बालक का विकास करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) "मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल शरीर, न केवल हृदय या आत्मा। तीनों का एक समान विकास से ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होगा।" उपरोक्त कथन की पुष्टि कीजिये।

(२) यह प्रमाणित कीजिये कि शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए ही बुद्धि का विकास सबसे अच्छा और जल्दी से जल्दी हो सकता है।

—:०:—

(२) बुनियादी तालीम का स्वरूप—इस शिक्षा के स्वरूप के विषय में 'बुनियादी तालीम का जन्म एवं विकास' नामक पाठ में विस्तार से चर्चा की जा चुकी है। उसे दृष्टि में रखते हुए ही हम इस शिक्षा-पद्धति की जनतान्त्रिकता को समझने के यत्न कर रहे हैं। इस आधार पर इसकी जनतान्त्रिकता को हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत समझ सकते हैं :—

(क) इसमें निश्चित आयु के छात्रों के लिये अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था है। प्रत्येक देश अपने बालकों के लिए उसकी सामर्थ्य के अनुसार अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करता है। शिक्षा की यह अनिवार्यता ही एक ओर अवसरों की समानता की भावना की ओर दूसरी ओर जनतान्त्रिकता की दृष्टि की द्योतक है।

(ख) इसमें शिक्षा के निःशुल्क होने की व्यवस्था है। जब हम शिक्षा को अनिवार्य बनाने की बात सोचते हैं तो यह जरूरी होता है कि वह अनिवार्य शिक्षा नि:शुल्क भी हो। तभी सब नागरिक अपने बच्चों को स्कूल में भेज सकते हैं। सब बच्चों को शिक्षा देने की भावना जनतन्त्र की दृष्टि से पूर्णतः मिलती हुई है। सबके शिक्षित होने पर ही वास्तविक जनतन्त्र का विकास हो सकता है। तभी जनतन्त्र का कायम रहना सम्भव भी हो सकता है। शिक्षा और जनतन्त्र दोनों साथ-साथ ही विकसित होते हैं। शिक्षा का विकास जनतन्त्र को विकसित करता है और शिक्षा का पिछड़ापन जनतन्त्र की जड़ें खोखली करता रहता है। इस शिक्षा की निःशुल्कता ही इसकी जनतन्त्र से निकटता की द्योतक है।

(ग) इसमें शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा स्वीकार की गई है। जनतन्त्र में जब हम सारी जनता को शिक्षित करने की भावना को लेकर आगे बढ़ते हैं तो फिर शिक्षा की यह व्यवस्था केवल मातृ-भाषा के द्वारा ही संभव है। इस आधार पर मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, इस शिक्षा की जनतान्त्रिकता की परिचायक है।

(घ) इस शिक्षा में वातावरण के अनुकूल उत्पादक उद्योग, सामाजिक वातावरण, भौतिक वातावरण, सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि आदि को आधार बनाकर शिक्षा देने की व्यवस्था है। यह सब कुछ इसीलिए है कि इस शिक्षा को प्राप्त बालक अपने-अपने स्थान पर बने रहकर वहाँ के जीवन का स्तर ऊँचा उठाने में सहायक हों। इसी में जनतान्त्रिक जीवन-स्तर को उन्नत करना भी शामिल है। अतः यह अंग भी जनतन्त्र का पोषक अंग है।

(ङ) इस शिक्षा में स्वावलम्बन की भावना के अन्तर्गत आर्थिक, बौद्धिक और आत्मनियन्त्रक स्वावलम्बन का समावेश होता है। जब लोग सोचने-विचारने की दृष्टि से स्वावलम्बी बन जाते हैं तो वे देश का हित सामने रखते हुए चुनावों में मतदान कर सकते हैं। वे राजनैतिक पार्टियों द्वारा चुनाव के समय दिये गये वादों की की सचाई, सम्भाव्यता, व्यवहारिकता आदि को जाँचने में समर्थ होने से उनके बहकावे में आने का खतरा नहीं रहता। इससे देश को अच्छा शासन मिलना निश्चित हो

जाता है। स्वावलम्बन की भावना भी हर तरह से जनतन्त्र की पोषक भावना है।

बुनियादी शिक्षा का संचालन—बुनियादी शिक्षा बुनियादी शालाओं द्वारा दी जाती है। ये शालाएँ शिक्षक-स्तर पर जनतान्त्रिक तरीका अपनाती हैं। छात्र-स्तर पर भी इसी तरीके से कार्य करती हैं। कक्षा-स्तर पर भी यही प्रणाली अपनाई जाती है। समाज-सेवा व अभिभावकों और माता-पिताओं से सहयोग मे भी जनतान्त्रिक भावना को महत्व देकर आगे बढ़ती है। इन सभी के आधार पर बुनियादी शाला अपने को एक आदर्श जनतन्त्री समाज के रूप में ढालने का प्रत्येक सम्भव यत्न करती है। विद्यालय के इसी यत्न का संचार क्रमश: समाज मे होते रहने पर समाज में जनतन्त्र की दृष्टि अधिकाधिक विकसित होती जाने का विश्वास किया जा सकता है। इस प्रकार बुनियादी शाला के संचालन का तरीका स्वयं एक ऐसा तरीका है जो जनतन्त्र के अनुकूल ही नहीं है वरन् उसके लिए एक आदर्श प्रस्तुत करने की शक्ति से भी सम्पन्न है।

उपसंहार—इस तरह हम यह कह सकते हैं कि बुनियादी तालीम एक जनतान्त्रिक शिक्षा-प्रणाली है।

सारांश

बुनियादी शिक्षा जो राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली है उसका जनतान्त्रिक होना एक जनतन्त्री समाज के लिए परम आवश्यक है।

बुनियादी शिक्षा में जनतान्त्रिकता—इसकी जनतान्त्रिकता को समझने के लिए हमें इसके उद्देश्य, सैद्धान्तिक-स्वरूप और संचालन से जनतान्त्रिकता को ढूँढना होगा :—

(१) उद्देश्य—इसका चरित्र-निर्माण का उद्देश्य और सर्वोदयी समाज के निर्माण का उद्देश्य, दोनों ही जनतन्त्र की भावना से ओत-प्रोत हैं।

(२) स्वरूप—इसके स्वरूप में निम्न बिन्दुओं का समावेश है :—

(क) अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था—यह जनतन्त्र के अनुकूल है।

(ख) शिक्षा का निःशुल्क होना—यह भी जनतान्त्रिक दृष्टि के अनुकूल है।

(ग) मातृभाषा का माध्यम—यह भी जनतन्त्र का पोषक है क्योंकि राष्ट्र के सब बच्चों को शिक्षा इसी माध्यम के द्वारा सम्भव है।

(घ) शिक्षा में समन्वय—इसी के द्वारा बालकों का अन्ततोगत्वा समाज से समन्वय हो सकता है और यथास्थान अपने रहकर वहाँ के समाज को ऊँचा उठाने का काम कर सकते हैं। अतः यह भी जनतन्त्र के अनुकूल है।

(ङ) स्वावलम्बन—स्वतन्त्र विचार वाले ऐसे नागरिक जो भुलावे में न [illegible] स्वतन्त्र हो स्वयं जनतन्त्र का निर्माण कर सकते हैं। अतः यह दृष्टिकोण [illegible] हितकारी दृष्टिकोण है।

से परिपूर्ण

(३) बुनियादी शिक्षा का संचालन—बुनियादी शाला का संचालन

बुनियादी तालीम और अन्तर्राष्ट्रीयता

विज्ञान के क्रमिक विकास ने दूरियों को कम कर दिया है। राष्ट्रों को निकट ला दिया है। एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र का सहयोगी बना दिया है। आज संसार के एक वैज्ञानिक की रचनात्मक खोज का सारे संसार के मानवों को लाभ मिलने लगा है। इसी विज्ञान के विकास का दूसरा पक्ष भी है। उस पक्ष ने संसार को विनाश के कगार पर भी लाकर खड़ा कर दिया। अस्त्र-शस्त्र का इस प्रकार निर्माण हुआ कि आज एक राष्ट्र अगर दूसरे राष्ट्र के साथ युद्धरत हो जावे तो अन्य राष्ट्र भी प्रभावित हुए *बिना नहीं रह सकते और इस प्रकार ये ही आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र थोड़े से समय* में ही मानव द्वारा विकसित इस सम्पूर्ण संस्कृति को समूल नष्ट कर सकते हैं। इस खतरे से सचेत रहने की दृष्टि से भी आज के संसार के मानवों का यह सबसे बड़ा जिम्मा है कि वे संसार को युद्ध से बचा रक्खें। संसार ने प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों से यह भी सीखा है कि मानवता के हित में तीसरा विश्व युद्ध कदापि नहीं होने दिया जावे। इस दृष्टि से आज के युग में शिक्षा एक बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर *सकती है। शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व इस दृष्टि से भी लगातार बढ़ता जा* रहा है।

शिक्षा द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों को जन्म—प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ निजी सिद्धान्त होते हैं। उन सिद्धान्तों पर उसकी वंशपरम्परा और वातावरण का प्रभाव रहता है। वातावरण के प्रभाव के ही अन्तर्गत शिक्षा द्वारा पैदा किये हुए दृष्टिकोण भी आते हैं। किसी समय में जब जीवन सुरक्षित न था, शिक्षा ने सुदृढ़ शरीर के निर्माण का दृष्टिकोण पैदा किया। जब एक कुटुम्ब का दूसरे कुटुम्ब से *झगड़ा अनेकों पीढ़ियों तक चलता था, अपने कुटुम्ब की रक्षा या कुटुम्ब के प्रति* वफादारी का दृष्टिकोण पैदा किया गया। इसके पश्चात् नगर व राज्य के प्रति वफादारी सिखाने की बारी आई। हमारे इतिहास में अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जहाँ व्यक्तियों ने राज्य की रक्षा में अपने प्राणों की बलि दे दी। आज भारत स्वतन्त्र है। आज हम मे राष्ट्रीय दृष्टिकोण होना जरूरी है। संकीर्ण प्रान्तीयता से हमें ऊँचा उठना *है। परन्तु आये दिन जो घटनाएँ हो रही हैं वे यह स्पष्ट करती हैं कि प्रान्तीयता* और राष्ट्रीयता एवं विश्व-बन्धुत्व विरोधी शब्द हैं। हम में संकीर्ण प्रान्तीयता कूट-कूट कर भरी नजर आती है। हमें प्रान्तीयता से अपना दृष्टिकोण राष्ट्रीयता की ओर विकसित करने के काम में काफी प्रगति करनी है। इसी के साथ हम पर एक दूसरी भारी जिम्मेदारी विश्व-बन्धुत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण पैदा करने की आ

गई है। यह जिम्मेदारी भारत राष्ट्र के नागरिक होने के कारण हमारी ही नहीं है वरन् प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिक की भी है।

स्वतन्त्र राष्ट्र का नागरिक और अन्तर्राष्ट्रीयता—संसार आज अन्तर्राष्ट्रीयता में काफी प्रगति कर चुका है। करीब-करीब सभी स्वतन्त्र राष्ट्र राष्ट्र-संघ के सदस्य है। राष्ट्रसंघ एक ऐसी शक्तिशाली संस्था है जो हमारे विश्व राज्य के स्वप्न को साकार करने के लिए प्रयत्नशील है। परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब राष्ट्र अपने हितों को अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सोचने के आदी हों। राष्ट्र द्वारा यह तभी सम्भव है जब वहाँ के नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले हों। ऐसा दृष्टिकोण वहाँ के नागरिकों में पैदा किया जावे यह आज की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति में शिक्षा का योग भी जरूरी है।

भारतीय स्थिति और अन्तर्राष्ट्रीयता—भारत विस्तृत देश है जिसमें पुराने जमाने से अनेकों छोटे-बड़े राज्य रहे हैं। यहाँ पर अनकों जातियाँ रहती हैं। यहाँ अनेकों धर्मों के लोग रहते हैं। यहाँ अनेकों ऐसे धर्म भी है जो छोटे-छोटे भागों में बँटे हुए हैं। इतना होते हुए भी "सर्व धर्म समानत्व" के सिद्धान्त को यहाँ के लोग पालते रहे हैं। भारत के निवासियों का जीवन आध्यात्मिक है। वे शान्ति के पालक हैं। वे दूसरों के अधिकार को नहीं छीनना चाहते। वे संयम को जीवन का अंग मानते हैं। वे अपराधी को क्षमा करने में विश्वास रखते हैं। यहाँ पर हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त विस्तार के साथ पाला जाता है और इस प्रकार वास्तविक जीत हृदय की जीत मानी जाती है। जिसमें कोई भी नहीं हारता वरन् सभी जीतते हैं। यहाँ केवल मनुष्य ही नहीं वरन् प्रत्येक जीव की रक्षा का सिद्धान्त जीवन का सिद्धान्त है। इस दृष्टि से हमारे राष्ट्रीय जीवन में अन्तर्राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई है। प्रश्न केवल यही है कि उसे जाग्रत कैसे किया जावे?

संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता—अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा के प्रयोग आज दो क्षेत्रों के अन्तर्गत चल रहे हैं। प्रथम क्षेत्र संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अन्तर्गत आता है। उसमें आज कई ऐसी परिषदें बनी हुई हैं जो सारे संसार को एक इकाई मानकर उसकी विभिन्न जरूरतों और कठिनाइयों के निवारण की व्यवस्था करती हैं। इस क्षेत्र के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ में वे सभी कार्यालय हैं जो एक साधारण राष्ट्र में उसके नागरिकों की भलाई की दृष्टि से चलते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्वास्थ्य, शिक्षा, अर्थ, संस्कृति व अन्य अनेकों क्षेत्रों में विकास के लिए जरूरतमन्द राष्ट्रों की सहायता की जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र जो राष्ट्रसंघ द्वारा लाभ उठाता है, अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होता है।

दूसरा क्षेत्र है प्रत्येक राष्ट्र का अपना क्षेत्र। जिसमें नागरिकों में वृहद् राष्ट्रीयता अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण शिक्षा द्वारा पैदा किया जाता है।

शिक्षा का क्षेत्र और अन्तर्राष्ट्रीयता—शिक्षा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

पैदा करने के प्रयोग आज सभी राष्ट्रों में चल रहे हैं। इन प्रयोगों के अन्तर्गत प्रमुख बिन्दु निम्न प्रकार हैं :—

(क) पाठ्यक्रम—पाठ्यक्रम में संचित ज्ञान को इस प्रकार आयोजित कर पढ़ाना कि जिससे बालकों को यह ज्ञान हो कि प्रत्येक राष्ट्र की समस्याओं का निर्माण वहाँ की प्राकृतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक परिस्थितियों ने किया है। राष्ट्रीय भिन्नता को अधिक अंशों में वे ही प्रभावित करती हैं। उन परिस्थितियों के प्रभाव और उनको जीतने के प्रयत्न ने ही उनको विशेष प्रकार का बना दिया है। आज सामाजिक ज्ञान के अध्ययन को पाठ्यक्रम में अधिक महत्व इसी कारण दिया जाता है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा में सहायक होने वाला सबसे महत्वपूर्ण विषय है।

(ख) शिक्षण-पद्धति—शिक्षा में बालक के मानसिक विकास, बालक की आयु, लिंग, प्रकृति व समाज के जनतान्त्रिक ढाँचे के अनुरूप शिक्षा देने का तरीका शुरू हुआ और पुरानी शिक्षण पद्धतियाँ गौण बना दी गईं। नवीन तरीकों द्वारा यह अपेक्षा की गई कि बालक उसकी स्वयं की समस्याओं पर ही नहीं वरन् राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भी सोच सकेगा, अपना दृष्टिकोण बना सकेगा और निर्णायक का स्थान ग्रहण कर सकेगा।

(ग) पाठेतर-प्रवृत्तियाँ—शालाओं में विभिन्न आयोजनों में शिक्षण के नवीनतम उपकरण जैसे रेडियो, सिनेमा आदि का अधिकाधिक प्रयोग उनमें अन्तर्राष्ट्रीयता पैदा करता है। अन्तर्राष्ट्रीयता युवक पर्व में भाग लेना व संयुक्त राष्ट्र-संघ दिवस मनाना अन्तर्राष्ट्रीयता पैदा करने के प्रमुख साधन हैं।

आज पुराने और संकीर्ण दृष्टिकोण के स्थान पर नवीन और विस्तृत दृष्टिकोण की स्थापना का सारे संसार में प्रयत्न चल रहा है, जिसके द्वारा संसार के नागरिकों में समान सामाजिक पृष्ठभूमि, समान संस्कृति और समान दृष्टिकोण पैदा किया जावेगा।

बुनियादी तालीम में अन्तर्राष्ट्रीयता—बुनियादी तालीम हमारे राष्ट्र की शिक्षा पद्धति है। सत्य और अहिंसा इसकी आधार-शिलाएँ हैं। यह शिक्षा हमारे राष्ट्र में सर्वोदय की स्थापना करना चाहती है। इस दृष्टि से सत्य, अहिंसा और सर्वोदय ये तीनों ऐसे सिद्धान्त हैं जो प्रत्येक दृष्टि से सारे संसार को एक इकाई मानते हुए उसके भले में विश्वास रखते हैं। अतः बुनियादी तालीम अन्तर्राष्ट्रीयता पैदा करने की दृष्टि से सर्वोत्तम शिक्षा-पद्धति है।

उपसंहार—आज की विज्ञान की उन्नति ने सारी दुनियाँ को एक इकाई की दृष्टि से देखना जरूरी बना दिया है। आज दुनियाँ के किसी भाग में हलचल मचती है तो वह सारे संसार को प्रभावित करती है। आज के इन्सान को इस प्रकार से शिक्षित किया जाना चाहिए कि वह संसार के भले की दृष्टि से सोचने लगे। इस दृष्टि से बुनियादी तालीम सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-पद्धति है।

सारांश

प्रस्तावना—विज्ञान ने संसार को इतना छोटा बना दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा देना आज के मानव के लिए बड़ा जरूरी हो गया है।

शिक्षा द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों के जन्म—शिक्षा ने समय की आवश्यकता के अनुसार वैयक्तिक, कौटुम्बिक, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण नागरिकों में पैदा किया है।

स्वतन्त्र राष्ट्र का नागरिक और अन्तर्राष्ट्रीयता—राष्ट्र के असंख्य नागरिकों का दृष्टिकोण ही राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से अगर किसी राष्ट्र का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है तो वह राष्ट्र निश्चित ही संसार को अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होने में सहायक हो सकेगा।

भारतीय स्थिति और अन्तर्राष्ट्रीयता—सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि की दृष्टि से भारत में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण जागृत करना बड़ा सरल है।

संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता—आज संसार में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा करने की दृष्टि से दो प्रकार से प्रयोग चल रहे हैं। प्रथम संयुक्तराष्ट्र-संघ के अन्तर्गत और द्वितीय प्रत्येक राष्ट्र में अपना निजी प्रयोग।

शिक्षा का क्षेत्र और अन्तर्राष्ट्रीयता—इस दृष्टि से पाठ्यक्रम में शिक्षण पद्धति और पाठेतर प्रवृत्तियों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा किया गया है।

बुनियादी तालीम और अन्तर्राष्ट्रीयता—सत्य और अहिंसा पर आधारित बुनियादी तालीम जो सर्वोदयी समाज के ध्येय को लेकर चलती है निश्चित ही अन्तर्राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण पैदा करने की दृष्टि से सर्वोत्तम शिक्षा-पद्धति है।

उपसंहार—आज के इन्सान को इस प्रकार से शिक्षित करने की जरूरत है कि उसमें विश्वबन्धुत्व की भावना पैदा हो और वह संसार के भले की दृष्टि से सोचने लगे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व आज के संसार में अधिक और अधिक क्यों बढ़ता जा रहा है? विस्तार से उत्तर दीजिये।

(२) बुनियादी तालीम अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा करने में क्योंकर सहायक हो सकती है? सकारण उत्तर दीजिये।

—:०:—

बुनियादी शालाओं में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा

भारत एक विस्तृत देश है। इस देश में अनेकों जातियाँ रहती हैं। जाति शब्द के अन्तर्गत हमारा यहाँ सम्बोधन मानव भूगोल में प्रयुक्त जाति शब्द से है जिसके अनुसार भू-पृष्ठ पर अनेक मानव जातियाँ हैं जिनमें प्रत्येक अन्य जातियों से भिन्न होती है। प्रत्येक जाति के लोगों का रंग, चेहरे की बनावट, बाल, कद आदि सब भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। हमारे राष्ट्र के नागरिकों में जब शारीरिक दृष्टि से अनेकों जातियाँ विद्यमान हैं तो फिर विचार, व्यवसाय और धर्म की दृष्टि से तो यहाँ के जन-समूह का अनेक भागों में विभाजित होना स्वाभाविक ही है। यहाँ की बहुधर्मी जनसंख्या ने ही यहाँ की शिक्षा में धार्मिक शिक्षा के स्वरूप एवं स्थान के विषय में जटिल समस्यायें पैदा कर दी हैं।

धर्म का जीवन में महत्व—हमारा खान-पान, वस्त्र, आचार, व्यवहार व जीवन के प्रति दृष्टिकोण सभी धर्म से प्रभावित होते हैं। हम छोटी-छोटी बातों में यह कहकर कि यह तो मेरा धर्म था इसलिए ऐसा किया, बड़ी बात कह डालते हैं। सभी मानव धर्म को मानते हैं फिर भी आज मानव-समाज की दशा संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। महाशय फ्रैंकलिन ने ठीक ही कहा है "अगर मानव के पास धर्म होने पर भी वह इतना अधर्मी है, तो फिर उसकी इसके अभाव में क्या दशा होती।" मानव समाज में यह कथन धर्म के अक्षुण्य महत्व को प्रदर्शित करता है।

धर्म का शिक्षा में महत्व—जीवन में धर्म की महत्ता सभी स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जीवन धर्मरहित नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि धर्म का स्वरूप अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार का हो। जीवन के धर्म-रहित नहीं हो सकने पर यह निश्चित है कि कोई भी शिक्षा-पद्धति धार्मिक शिक्षा से रहित नहीं हो सकती और भारत जैसे राष्ट्र की शिक्षा-पद्धति में तो धार्मिक शिक्षा का और भी अधिक महत्व है। हमने गत कुछ वर्षों में ही देखा है कि धर्म के नाम पर यहाँ क्या-क्या नहीं हुआ। इन सबका कारण यही था कि धार्मिक शिक्षा की कुंजी दम्भी और स्वार्थी मुल्लाओं, पुजारियों एवं मठाधीशों के हाथ में थी। उन्हें सही रास्ते का ज्ञान नहीं था। उन्हें सही रास्ता बताने की जरूरत है। ऐसा करने पर भी अगर वे सही रास्ता नहीं अपनाते तब फिर शिक्षक, अपनी जिम्मेदारी से दूर नहीं हो सकता। विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा देनी पड़ेगी अन्यथा विद्यालय में धर्म के असली स्वरूप के ज्ञान के अभाव में बालक समाज की प्रचलित एवं संकुचित धार्मिक विचारधाराओं से प्रभावित होकर धर्मान्ध हो सकता है। अतः हम धार्मिक शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। हमें छात्रों के संस्कारों में अवश्य ही यह बात दृढ़ता से जमा देनी पड़ेगी

कि विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं के क्या-क्या उद्देश्य हैं और सब धर्मों का क्या निचोड़ है। महात्मा जी ने कहा है—"किसी को क्षण भर के लिए भी यह डर नहीं रखना चाहिये कि दूसरे धर्मों के आदरपूर्ण अध्ययन से स्वय के अपने धर्म में श्रद्धा की कमी या कमजोरी आने की सम्भावना है। हिन्दू दर्शनशास्त्र मानता है कि सब धर्मों में सत्य के तत्व मौजूद हैं और वह उन सबके प्रति आदर और पूजा की वृत्ति रखने का आदेश देता है। अवश्य ही इससे पहले खुद अपने धर्म के लिए आदर होना जरूरी है, दूसरे धर्मों के अध्ययन करने और समझने से यह आदर कम नहीं होना चाहिए। इसका परिणाम यह होना चाहिए कि वह आदर बढ़कर दूसरे धर्मों के लिए भी हो जाय।"

धार्मिक शिक्षा और राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ—धार्मिक शिक्षा का क्या रूप हो ? यह एक प्रश्न है। यह प्रश्न साधारणतः राष्ट्र की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार सरल और जटिल बनता रहता है। उन राष्ट्रों मे जहाँ एकतन्त्रीय शासन है राजा का धर्म ही राजधर्म है। उन राष्ट्रों मे जहाँ केवल एक ही धर्म के अनुगामी लोग रहते हैं वहाँ भी वह धर्म राजधर्म बन जाता है। भारत में न तो एक तन्त्र है और न एक ही धर्म के लोग यहाँ निवास करते है। इसी कारण यह प्रश्न जटिल बन गया है। महात्मा जी ने स्वयं कहा है—'धार्मिक शिक्षा का सवाल बड़ा कठिन है। फिर भी इसके बिना हमारा काम नही चल सकता।" प्रश्न की जटिलता को हमारे समाज की निम्न परिस्थितियों ने और भी जटिल बना दिया है :—

(१) भारत मे विभिन्न धर्मों का आधिक्य।

(२) गुरुओं, आचार्यों, धर्मगुरुओ के व्यक्तिगत एवं सकुचित दृष्टिकोण।

(३) समाज में धर्मान्धता का आधिपत्य।

(४) धर्म की दृष्टि से व्यापक अध्ययन का अभाव।

(५) अस्पृश्यता।

(६) शिक्षा का अभाव।

धार्मिक शिक्षा के प्रचलन के लिए योजना तैयार करते समय हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि शिक्षा मे पाठ्य-सामग्री व पद्धति आदि सभी इस प्रकार से व्यवस्थित किये जावें कि उपरोक्त सभी कठिनाइयों का निराकरण हो जावे।

धार्मिक शिक्षाके लिए सम्भव तरीके—

(क) स्कूल के नियत समय के अतिरिक्त समय में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था उन धर्मों के लिए की जावे जिनके माता-पिता अपने बच्चों को इस कक्षा मे भेजना चाहते हैं।

(ख) स्कूल मे अनिवार्य रूप से सब धर्मों का शिक्षण हो। इस शिक्षा के समय शिक्षक अपना मत उन धर्मों के विषय मे व्यक्त न करे।

(ग) धर्मों की तुलनात्मक शिक्षा दी जाय, और प्रत्येक का गुणों के आधार पर मूल्यांकन किया जावे।

(घ) सब धर्मों के मूल सिद्धान्तों की शिक्षा बालक को दी जावे और यह बतलाया जावे कि सत्य एवं ईश्वर का सब धर्मों से समान सम्बन्ध है।

(ङ) धार्मिक नेताओं की कहानियों द्वारा सिद्धान्तों को रोचक बनाकर बालकों के अन्दर धार्मिक प्रवृत्ति पैदा की जावे।

(च) बुनियादी शाला के लिए महात्मा जी ने धर्म के एक विशाल दृष्टिकोण को अपनाकर एक ऐसे धर्म की स्थापना की जो व्यक्ति के दृष्टिकोण को विशाल बनावे। जो किसी धर्म, जाति एवं सम्प्रदाय न होकर नैतिकता के आधार पर समस्त मानव जाति का है। गुरु के सत्संग को ही वे धार्मिक शिक्षा मानते हैं।

बुनियादी तालीम और धर्म—बुनियादी तालीम का आधार महात्मा जी ने सत्य और अहिंसा माना है। इनके द्वारा वे एक ऐसे समाज की आशा रखते हैं जहाँ सबका उदय होगा। उन्होंने स्पष्ट कहा है "मेरे ख्याल से धर्म का अर्थ सत्य और अहिंसा या सिर्फ सत्य ही कहूँ तो भी काफी है। अहिंसा सत्य के पेट में समाई हुई है। इसके बिना सत्य की झांकी तक नहीं हो सकती। ऐसे सत्य और अहिंसा का जिस ढंग की शिक्षा से पालन हो उसी ढंग की शिक्षा धार्मिक शिक्षा हुई।" इस प्रकार बुनियादी शिक्षा धर्म के आधार पर खड़ी है।

धर्म के गुण—धर्म के ग्यारह गुण बताये गये हैं जो निम्न प्रकार हैं:—

१	२	३	४	५
अहिंसा,	सत्य,	अस्तेय,	ब्रह्मचर्य,	अपरिनिग्रह,

६	७	८
शरीर श्रम,	अस्वाद,	सर्वत्र भय वर्जना,
९	१०	११
सर्वधर्म समानत्व,	स्वदेशी	स्पर्शभावना

हि एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रत निश्चये।

इस प्रकार जो अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अपरिनिग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, निर्भय, सब धर्मों का आदर, अपने देश और देश की वस्तुओं के प्रति प्रेम व छुआछूत से दूर इन ग्यारह गुणों का पालन करता है वही धर्मात्मा पुरुष है। बुनियादी शालाओं में इन्हीं सिद्धान्तों के अन्तर्गत नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिये। संकुचित अर्थ में धर्म के किन्हीं विशेष सम्प्रदायों अथवा रूढ़िगत भावनाओं को शिक्षा में किसी प्रकार का कोई भी स्थान न मिले यही उत्तम है।

बुनियादी शाला के शिक्षक का कर्त्तव्य—बुनियादी शालाओं में भारत के विभिन्न धर्मों का सार जो मानव धर्म के अनुकूल है सिखाया जाना चाहिये। गांधी जी ने कहा है कि धर्म वही है जो मानव को मानव के प्रति प्रेम और सौहार्द्र का पाठ पढ़ावे न कि मानव पर मानव भूखे बाघ की तरह झपटे। इस दृष्टि से शिक्षक की बड़ी जिम्मेदारी यह है कि वह अपने जीवन और व्यवहार द्वारा विद्यार्थियों के मन में धर्म के मूलतत्व सत्य और अहिंसा को जमावे और स्वयं उसका पालन करता हुआ

धर्म के प्रति संकुचित विचारधारा के स्थान पर व्यापकता एवं मेल की भावना स्थापित करे।

बुनियादी शाला की कार्यप्रणाली द्वारा धार्मिक शिक्षा में योग—बुनियादी शाला में सामूहिक निवास, सामूहिक भोजन एव विभिन्न सामूहिक आयोजन बालकों को धार्मिक ज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देते हैं। बुनियादी शालाओं में सभी धर्मों के बालक साथ-साथ उद्योग कार्य करते हैं तथा सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय पर्व मनाते हैं। ऐसे सामूहिक आयोजन ऊँच-नीच, वर्णभेद व छुआछूत का भेद नष्ट करने में सहायक होते हैं। विभिन्न धार्मिक जयन्तियाँ बालकों को धर्म का असली ज्ञान देने में मदद करती हैं। इस प्रकार बुनियादी तालीम बालकों में मानवता, नैतिकता, प्रेम, अहिंसा एवं कर्तव्य पालन की भावना का संचार करती है और उन्हें सच्चे रूप में धार्मिक जीवन यापन करने के योग्य बनाती है।

शिक्षक का आदर्श स्वरूप—महात्मा जी ने धार्मिक शिक्षा का तरीका समझाते हुए कहा है—"धार्मिक शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन यह है कि सभी शिक्षक सत्य और अहिंसा का पालन करने वाले हों। विद्यार्थियों के लिए उनका सत्संग ही धार्मिक शिक्षा है।" इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि महात्मा जी, जो अखंड मानवता के गुरु थे, अपने स्वरूप के दर्शन राष्ट्र के शिक्षक के अन्दर करते हैं। जिस प्रकार से उनके आविर्भाव ने राष्ट्र के जीवन को नया जीवन, नया उत्साह और नया दर्शन देकर परिवर्तित कर दिया, उसी प्रकार वे शिक्षक से अपेक्षा करते हैं कि राष्ट्र के भावी नागरिकों के जीवन को वह परिवर्तित कर सकेगा।

सारांश

भारत एक बहुधर्मी जनसंख्या वाला जनतन्त्रीय देश है इसी कारण यहाँ धार्मिक शिक्षा का प्रश्न जटिल है।

धर्म का जीवन में महत्व—"मानव के पास धर्म होने पर भी वह इतना अधर्मी है तो फिर उसकी, इसके अभाव में क्या दशा होती।"—फ्रैंकलिन।

धर्म का शिक्षा में महत्व—कोई भी मानव धर्मरहित नहीं हो सकता और कोई भी शिक्षा-पद्धति जो नागरिकों को धर्म का ज्ञान नहीं कराती वह अधूरी है।

धार्मिक शिक्षा और सामाजिक परिस्थितियाँ—हमारे देश की सामाजिक परिस्थितियाँ, जिनमें धार्मिक कट्टरता, छुआछात आदि हैं, तथा हमारे देश की जनतन्त्रीय शासन-पद्धति ने धर्म की शिक्षा के स्वरूप को जटिल बना दिया है।

धर्म की शिक्षा के सम्भव तरीके—प्रमुख दो तरीके हैं—(क) बालकों को धर्म का ज्ञान सूचनात्मक ज्ञान की तरह देकर। (ख) आदर्श धार्मिक जीवन का रूप सामने रखकर।

बुनियादी तालीम और धर्म—बुनियादी तालीम सत्य और अहिंसा के आधार पर स्थित है अतः पूर्णरूपेण धार्मिक है।

धर्म के गुण—कुल ग्यारह गुण बताये गये हैं जो सत्य एवं अहिंसा पर आधारित समाज के नागरिकों के लिए परमावश्यक माने गये हैं।

बुनियादी शाला के शिक्षक का कर्त्तव्य—उसे अपना जीवन उन धार्मिक आदर्शों के अनुकूल ढाल लेना पड़ेगा, जिनकी उसे शिक्षा देनी है। शिक्षक के जीवन से ही बालक धार्मिक शिक्षा ग्रहण करेंगे।

बुनियादी शिक्षा की कार्य-प्रणाली—शिक्षक के जीवन के अतिरिक्त दूसरा प्रभाव शाला के जीवन का पड़ता है। शाला संगठन इस पद्धति से किया जाना चाहिये कि बालक उसमें हिस्सा लेते-लेते सच्चे रूप में धार्मिक बन जाय।

शिक्षक का आदर्श रूप—शिक्षक सत्य और अहिंसा का पालन करने वाला होगा तभी बालक धार्मिक बन सकेंगे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) भारत में धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता पर अपना मत प्रगट करते हुए यह व्यक्त कीजिए कि हमारे यहाँ धार्मिक शिक्षा देने में क्या-क्या कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं?

(२) धार्मिक शिक्षा के विभिन्न तरीकों का विवेचन कीजिये और यह बताइये कि हमारे देश में कौनसा तरीका उपयुक्त है?

(३) "सत्य और अहिंसा का जिस ढंग की शिक्षा से पालन हो उसी ढंग की शिक्षा धार्मिक शिक्षा है।" चर्चा कीजिए।

(४) 'धार्मिक शिक्षा देने का सबसे बढ़िया तरीका यह है कि सभी शिक्षक सत्य और अहिंसा का पालन करने वाले हों। विद्यार्थियों के लिए उसका सत्संग ही धार्मिक शिक्षा हो।" इस कथन के आधार पर आज के शिक्षक के उत्तरदायित्व पर एक लेख लिखिये।

—:o:—

बुनियादी शालाओं में स्त्री-शिक्षा

प्रस्तावना—प्राचीनतम काल मे नारी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसे शक्ति का प्रतीक, लक्ष्मी का प्रतीक और विद्या का प्रतीक माना जाता था। यही नहीं मनुस्मृति के रचयिता मनु ने तो 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः' कह कर स्त्री को देवी तुल्य पूजनीय बताया है। नारी के इस सम्मानपूर्ण एवं महत्वपूर्ण स्थान की सत्यता इस बात से भी स्पष्ट है कि उस समय मे स्त्रियाँ पुरुषो के समान ही विद्वान्, कीर्तिवान्, शास्त्रज्ञ और मर्मज्ञ हुआ करती थी। पर जब उसी भारतीय नारी की वर्तमान अवस्था पर दृष्टि डालते हैं तो आकाश-पाताल का अन्तर दृष्टिगोचर होने लगता है।

प्राचीन काल में स्त्री शिक्षा—इस बात की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं कि प्राचीन काल में स्त्रियो को पूर्णतया शिक्षित करने पर बल दिया जाता था। यही नहीं वरन् वे प्रकाण्ड विद्वान् होती थीं। वे वेदाध्ययन करती थी। यज्ञो और धार्मिक समारोहों मे भाग लेती थी। यहाँ तक कि ऐसे प्रमाण भी मिले हैं कि घोषा, अपाला, मैत्रेयी, गार्गेयी, विश्ववरा आदि विद्वान् स्त्रियाँ तो पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ भी करती थीं। लीलावती ने गणित में जो सहयोग दिया वह अब भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। बौद्ध काल में तो मठों और विहारों में बौद्ध भिक्षुणियों को शिक्षित करने की नियमानुकूल परिपाटी विद्यमान थी। यह अवश्य है कि समय-समय पर ऐसे सामाजिक और धार्मिक नेता हुए हैं जो स्त्री-शिक्षा के विरोधी थे। अतः प्राचीन काल मे स्त्री-शिक्षा की गति कभी तीव्र और कभी मंद चलती रही है।

मध्य काल में स्त्री-शिक्षा—मुसलमानी शासन-काल में स्त्री-शिक्षा की गति रुक गई। इसके कई कारण हैं:—

(१) यह समय पूर्णतया युद्धों और लड़ाइयों का समय रहा है जिसमे स्त्री-शिक्षा तो क्या अन्य शिक्षा को भी काफी आघात सहने पड़े।

(२) मुसलमानों के आक्रमणों के कारण स्त्रियों और कन्याओं को शिक्षा पाना तो दूर रहा पर्दा-प्रथा का शिकार बनना पड़ा।

(३) इन्हीं के आक्रमणकारी कार्यवाहियों के फलस्वरूप बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई जिसके कारण स्त्री-शिक्षा और कन्या शिक्षा की गति रुक गई।

मुसलमानों के स्थायी रूप से शासन प्रारम्भ करने के पश्चात् से मुगल काल तक स्त्री-शिक्षा और कन्या-शिक्षा के प्रयत्न किए गये। मस्जिदों से संलग्न मकतबो में कन्यायें भी शिक्षा ग्रहण करती थी। पर वे केवल प्राथमिक शिक्षा ही ग्रहण करती

भी स्त्री-शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्हें भारतीय सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। सन् १९१६ में लार्ड हार्डिंज ने स्त्रियों के लिए मेडिकल कालेज खोला। सन् १९२६ में अखिल भारतीय स्त्री संघ की स्थापना हुई तथा सन् १९२७ मे अखिल भारतीय स्त्री-शिक्षा सम्मेलन हुआ जिसमे स्त्री-शिक्षा की जोरदार माँग की गई। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप स्त्री-शिक्षा-प्रसार तीव्र गति से हुआ। सह शिक्षा का विरोध भी मिट गया। द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में स्त्री-शिक्षा की अधिक प्रगति हुई। विभिन्न दफ्तरों में कर्मचारियों की बढ़ती हुई माँग तथा युद्ध के कारण उत्पन्न मँहगाई ने स्त्रियों को नौकरियाँ करने की ओर प्रवृत्त किया। फलस्वरूप उच्च शिक्षा का अधिक विकास हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्री-शिक्षा—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय संपूर्ण भारत मे कुल १६६५१ संस्थायें थीं, जिनमे ३५,५०,५०३ कन्यायें शिक्षा पा रही थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही शिक्षा-विकास मे स्त्री-शिक्षा को भी पर्याप्त महत्व एवं प्रसार मिला। स्त्री-शिक्षा का प्रसार द्रुतगति से होने लगा। स्त्री-शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिए १९५८ ई० में 'राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा समिति' नियुक्त की गई। इस समिति की सिफारिश के फलस्वरूप केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के अधिकारो मे 'राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा परिषद्' की स्थापना हुई।

भारत मे पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर स्त्री-शिक्षा का प्रसार द्रुतगति से हो रहा है। प्राथमिक शालाओं के दृष्टिकोण से स्कूल जाने योग्य बालिकाओं में से ८० बालिकाओं का प्रवेश कराने का लक्ष्य दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक था। इसी प्रकार माध्यमिक शिक्षा के लिए भी प्रयत्न किये जा रहे हैं। पर इस समय तक केवल ५ प्रतिशत छात्रायें ही माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इस प्रकार प्रगति होते रहने पर भी स्त्री और पुरुष के कार्य-क्षेत्र, जिम्मेदारियों, उनके दर्जे के विषय मे अब भी मतभेद हैं। बुनियादी शिक्षा का प्रसार इस अन्तर को मिटाने के प्रयत्न कर रहा है।

स्त्री और पुरुष का दर्जा—जहाँ कुटुम्ब की जिम्मेदारी के सिद्धान्त का प्रश्न है स्त्री और पुरुष दोनों बराबर के जिम्मेदार हैं। इस बराबरी की जिम्मेदारी में भी एक का काम दूसरे की सहायता बिना पूरा नहीं हो सकता अत. प्रत्येक एक-दूसरे पर आधारित है। दोनों को एक-एक इकाई के समान मानें तो दोनों ही इकाइयाँ अपूर्ण हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि प्रत्येक एक-दूसरे की पूरक है। अगर दोनों इकाइयों को मिलाकर एक इकाई समझें तो एक सम्पूर्ण इकाई बन जाती है। चूँकि इन दोनों मे प्रत्येक अपूर्ण है अतः एक दूसरे के अभाव की पूर्ति करता है, इस कारण किसी एक की हानि होने पर दूसरे की हानि है। इसी कारण महात्मा जी ने कहा था—"स्त्री और पुरुष का दर्जा बराबर है परन्तु वे एक नहीं हैं। उनकी जोड़ी अद्वितीय है, क्योंकि वे एक दूसरे के पूरक हैं। वे एक दूसरे की मदद करते हैं और एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।" यही एक ऐसा बिन्दु है जो किसी

भी योजना को जो स्त्रियों के लिए बनाई जाती है, प्रभावित किये बिना नहीं र सकता।

स्त्री और पुरुष का कार्य-क्षेत्र—प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र में ही सम्पूर्ण हो सकता है। यदि वह प्रत्येक क्षेत्र में सम्पूर्ण बनने का प्रयत्न करे तो फिर वह किसी भी क्षेत्र की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। मानवता के विकास के प्रारम्भिक काल से ही पुरुष अपनी शारीरिक एवं मानसिक परिस्थितियों के कारण घर से बाहर के क्षेत्र के लिए उपयुक्त माना गया और स्त्री घर के भीतर के क्षेत्र के लिए उपयुक्त समझी गई। उस युग से आज तक दोनों के क्षेत्र इसी प्रकार से चले आ रहे हैं। ज्यों ही स्त्री ने पुरुष के क्षेत्र में कदम बढ़ाया कि उसकी अन्तरात्मा पुकार कर कहती है कि तू दूसरे के क्षेत्र की ओर बढ़ रही है और असुरक्षित है। इसी प्रकार घर के मामले में पुरुष का अधिक दखल देना स्त्री को अनुपयुक्त लगता है और उसकी शांति को भंग करता है। घर के बाहर पुरुष और घर के अन्दर स्त्री स्वतन्त्रता चाहती है। ऐसी दोनों की स्वाभाविक मनोवृत्ति बन गई है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों क्षेत्रों के दो कठोर विभाग हैं और ज्ञान का दो भागों में बँटवारा कर दिया जाय और ज्ञान के एक अंग से कुटुम्ब का दूसरा व्यक्ति वंचित कर दिया जाय। स्त्रियों की शिक्षा की कैसी भी योजना बनाई जावे यह बुनियादी तथ्य उसे प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता।

स्त्री-शिक्षा पर प्रमुख विचारधारायें—स्त्री और पुरुष के अपने-अपने क्षेत्र का विवेचन कर लेने पर यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि स्त्री-शिक्षा के स्वरूप और उद्देश्य पर विचार किया जावे। उद्देश्य की दृष्टि से दो विचारधारायें प्रचलित हैं :—

(क) पहला मत है कि स्त्री को पुरुष के समान स्वतन्त्रता मिले। उसे पुरुष के समान सभी सम्भव उद्योग एवं व्यवसाय अपनाने की स्वतन्त्रता हो। वह समानता का जीवन बिता सके। स्त्री को इस योग्य बनने की दृष्टि से शिक्षा दी जानी चाहिये।

(ख) दूसरा मत है कि स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर के अन्दर है। परन्तु आज के पुरुष समाज ने उसकी जो दुर्गति बना डाली है, उसमें सुधार किया जाना चाहिये। स्त्री को अपने अधिकारों का भान कराया जावे, और उसे समाज की समस्याओं, प्रचलित विचारधाराओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप घर एवं कुटुम्ब का संगठन करने का अवसर दिया जावे। शिक्षा का काम है कि वह उपरोक्त उत्तरदायित्व निभाने के लिये स्त्रियों को योग्य बनावे।

(ग) महात्मा जी अधिकांशतः मध्यम मार्ग अपनाते रहे हैं। वे 'पति सर्वस्व' का सिद्धान्त अपने स्वीकार करते हैं। वे अंग्रेजी की शिक्षा के विषय में एक प्रश्नकर्त्री का उत्तर देते हुए कहते हैं—"मैं नहीं मानता कि स्त्रियाँ आजीविका के लिये काम करें अथवा व्यापारिक धन्धों की जिम्मेदारी उठायें। किन्तु थोड़ी सी

स्त्रियों को अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता या इच्छा हो, वे पुरुषों की पाठशालाओं में भरती होकर बहुत आसानी से अपना वांछित फल पा सकती हैं।" ये शब्द यह प्रदर्शित करते हैं कि स्त्रियाँ आजीविका के लिए काम नहीं करें अथवा व्यापारिक धन्धों को उठाने की उन्हें आवश्यकता नहीं। फिर भी कुछ अपवाद तो हो ही सकते हैं और उस दशा में पुरुषों की पाठशालायें उन्हें प्रवेश देने को प्रस्तुत रहेंगी।

बुनियादी तालीम में स्त्रियों की शिक्षा

(क) पूर्व-बुनियादी तालीम—छः वर्ष तक की शिक्षा का जहां तक प्रश्न है, लड़कों और लड़कियों की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं होता। बाल मन्दिर में भी सभी स्थानों पर भाई-बहन साथ-साथ खेलते हैं, और भावी शिक्षा के लिए अपने को तैयार करते हैं।

(ख) बुनियादी तालीम —चूंकि छः वर्ष से चौदह वर्ष तक की यह शिक्षा जूनियर बेसिक और सीनियर बेसिक दो भागों में विभाजित कर दी गई है स्त्री-शिक्षा के लिये विचार करते समय दो विभागों को अलग-अलग लेना होगा।

(१) जूनियर बेसिक—छः से ग्यारह वर्ष तक की इस शिक्षा की ऊपरी सीमा पर पहुँचते-पहुँचते बालकों में बौद्धिक एवं शारीरिक विकास एक ऐसी सीमा पर आ जाते हैं जहां उनकी रुचि एवं प्रवृत्ति का शिक्षक को ज्ञान हो जाता है। इसी कारण शिक्षा विशेषज्ञों ने ११ वर्ष की आयु में स्थानान्तरण व्यवस्था रखी है। शारीरिक विकास की दृष्टि से भी लड़कों और लड़कियों को इस अवस्था तक साथ-साथ अध्ययन की सुविधा मिलने में कठिनाई नहीं है। इसी कारण लड़कियाँ इस भाग में सभी बुनियादी उद्योगों में लड़कों के साथ-साथ कार्य कर सकती हैं और शिक्षा-पद्धति में कोई अन्तर नहीं होगा। जहां-जहां लड़कियों के जूनियर बेसिक स्कूल होंगे वहाँ उद्योग में स्त्रियों से संबन्धित कार्यों को अधिक महत्व दिया जावेगा।

(२) सीनियर बेसिक—बारह से चौदह वर्ष तक की शिक्षा में बालिकाओं के लिये शिक्षा की अलग व्यवस्था होना अनिवार्य है। उनके शारीरिक विकास के ही कारण ऐसा करना आवश्यक है। किशोरावस्था में विलिंग कामुकता जाग्रत हो जाती है, अतः लड़के-लड़कियों का साथ उचित नहीं। लड़कियों की पाठशालाएँ अलग होनी चाहियें और उनमें उद्योग वही सिखाये जावें जो लड़कियों के जीवन से अधिक संबन्धित हों। इस दृष्टि से कृषि का महत्व यहां कम हो जावेगा।

कताई का वही रूप रहेगा। कृषि के स्थान पर गृह-विज्ञान यहाँ अधिक महत्व-पूर्ण बन जावेगा और इस तरह भोजन बनाना, कपड़े सीना व स्त्रियों के करने के अन्य घरेलू काम उद्योग का रूप धारण कर लेंगे। शिक्षा के शेष अंग में कोई विशेष अन्तर नहीं आवेगा।

(ग) उत्तर-बुनियादी तालीम—चौदह वर्ष के पश्चात् की शिक्षा के लिए बुनियादी तालीम में अपेक्षा की गई है कि यहां लड़कियों की संख्या अधिक नहीं

होगी। अतः उत्तर-बुनियादी शालाओं में सह-शिक्षा रहेगी। वैसे भी चौदह वर्ष के पश्चात् लड़कियों के विकास में स्थायित्व आ जाता है और इस परिस्थिति में लड़कों के साथ उनका अध्ययन करना हानिकारक नहीं रहता। लड़के और लड़की की शिक्षा में जो थोड़ी भिन्नता होनी चाहिये उस दृष्टि से कुछ विषय तो दोनों के समान रहेंगे और कुछ भिन्न और कुछ पूरक विषयों के रूप में रहेंगे।

उपरोक्त योजना द्वारा आशा है कि स्त्री जाति जिसके साथ मानव अन्याय करता रहा है शिक्षित होकर समाज-हित में योग दे सकेगी।

स्त्री-शिक्षा की कठिनाइयाँ—स्त्री-शिक्षा के प्रसार और विकास में कई ऐसी कठिनाइयाँ हैं जो बाधा उत्पन्न करती हैं। इनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(१) परंपरागत रूढ़िवादिता—इस विकास के युग में अब भी ऐसे नर-नारियों की संख्या अधिक है जो कन्या-शिक्षा का विरोध करती है। उनके दृष्टिकोण से स्त्रियों को घर का कार्य-भार ही संभालना है। अतः उन्हें शिक्षित करने की कोई आवश्यकता नहीं। यही नहीं अपितु कई व्यक्ति तो यह भी मानते हैं कि स्त्रियों को शिक्षा देने का अर्थ उन्हें चरित्रहीन, उच्छृंखल और अनैतिक बनाना है। इस प्रकार की विचारधारा स्त्री-शिक्षा प्रसार में प्रमुखतया बाधक है।

(२) सर्व साधारण की अशिक्षा—हमारे देश में जनता में अशिक्षा का प्राबल्य है। अतः अशिक्षित व्यक्ति, शिक्षा, शिक्षा के महत्व को न समझते हुए, शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को भी रोकता है।

(३) बाल-विवाह—भारतीय जनता में इतना विकास लाने के प्रयत्न के बावजूद भी अभी बाल-विवाह की प्रथा भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। साधारणतया सभी जाति, वर्ग और समाज में यह प्रथा लागू है। अतः कन्या की शादी करते ही उसे ससुराल जाकर गृहस्थी में लीन हो जाना पड़ता है जिससे शिक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती।

(४) पर्दा-प्रथा—घूंघट निवारण के प्रयत्न, पर्दा-प्रथा को तोड़ने के प्रयत्न किये जाने के उपरान्त भी ग्रामीण जनता में यह प्रथा अब भी चालू है, जो स्त्री-शिक्षा के प्रसार में बाधक है।

(५) प्रशासन की उपेक्षा—समय-समय पर जिस प्रशासन ने भारत पर शासन किया उसने स्त्री-शिक्षा की उपेक्षा की मुगल काल तथा अंग्रेजी काल में यह शिक्षा पूर्णतया उपेक्षित रही। स्वतन्त्र भारत में भी बालिकाओं की शिक्षा की अपेक्षा बालकों की शिक्षा पर अधिक धन व्यय किया जा रहा है।

(६) अर्थाभाव—सरकार और जनता दोनों के ही पास अर्थाभाव है। भारत ग्राम-प्रधान देश है और ग्रामीणों की आर्थिक परिस्थिति से सब ही परिचित है। अतः न तो जनता ही और न सरकार ही इसके लिये अधिक धन खर्च करने में समर्थ है, क्योंकि जनता तो यह मानती है कि बालिकाओं की शिक्षा से विशेष आर्थिक लाभ नहीं।

(७) शिक्षिकाओं का अभाव—शिक्षिकाओं का इतना अभाव है कि वर्तमान कन्या विद्यालयों में शिक्षिकाओं के स्थान पर शिक्षकों से काम चलाया जा रहा है।

(८) अनुपयुक्त पाठ्यक्रम—पाठ्यक्रम भी वर्तमान अवस्था में छात्र छात्राओं का एक ही है जबकि दोनों के कार्य, क्षेत्र किसी एक सीमा तक भिन्न हैं। महात्मा गाँधी के शब्दों में जब दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तो पाठ्यक्रम भी इसी दृष्टि से निर्मित होना चाहिये।

(९) अपव्यय—कन्याएँ अपनी शिक्षा को पूरी नहीं कर पाती। कारण कि उनका विवाह हो जाता है, घरेलू कार्यों में व्यस्त हो जाना पड़ता है, पति या ससुराल वाले पढ़ाई के पक्ष में नहीं होते, आदि। इस प्रकार छात्रों की शिक्षा में अपव्यय की अपेक्षा छात्राओं की शिक्षा में अपव्यय अधिक होता है।

(१०) अन्य—इसके प्रसार और प्रगति में अन्य कई कठिनाइयां एवं समस्याएँ विद्यमान हैं जैसे विद्यालय भवनों का अभाव, उपयुक्त पाठ्य सामग्री का अभाव, आवागमन के साधनों का अभाव, आदि।

कतिपय सुझाव—स्त्री-शिक्षा किसी भी देश की प्रगति, विकास और स्थायित्व के लिए नितान्त आवश्यक है। कई शिक्षावादी तो इसे पुरुष-शिक्षा से भी अधिक महत्त्व देते हैं। इसे अधिक महत्त्व प्रदान करने में उनका दृष्टिकोण यह रहा है कि समाज-निर्माण में सबसे अधिक सहयोग शिक्षित माताएँ ही दे सकती हैं। इसीलिए स्त्री-शिक्षा के प्रसार और प्रगति के लिये केवल सरकार पर ही अवलंबित रहना उपयुक्त नहीं वरन् इसके लिये जनता, सरकार और स्त्रियों का सम्मिलित प्रयास होना चाहिये। इससे सम्बन्धित कुछ सुझाव यहाँ दिये जा रहे हैं :—

(१) स्त्री-शिक्षा की जागृति—सरकार और जनता के पढ़े-लिखे नेताओं को चाहिए कि अपढ़-अशिक्षित भारतीय जनता में स्त्री-शिक्षा की जागृति और प्रसार के लिये क्रान्तिकारी आन्दोलन चलावें। इसके लिए बालिकाओं को विद्यालयों में भेजने का एक अभियान प्रारम्भ किया जाना चाहिये। स्त्री-शिक्षा के प्रति उनके हृदय में विद्यमान परंपरागत अरुचि के अंधकार को दूर किया जाना नितान्त आवश्यक है।

(२) कन्या विद्यालयों की वृद्धि—सरकार और जनता के सम्मिलित प्रयत्नों से अधिकाधिक कन्या विद्यालय खोले जाने चाहियें। क्योंकि भारतीय जनता का दृष्टिकोण छात्रों के साथ छात्राओं को पढ़ाने में सहमत नहीं है, अतः यदि कन्याओं को शिक्षित करना है तो इनके लिए अलग से कन्या विद्यालय होने आवश्यक हैं।

(३) पारी-प्रणाली—जब तक सरकार कन्याओं के लिये भिन्न स्कूलों के खोलने में असमर्थ है तब तक बालक-विद्यालयों में ही पारी-प्रणाली (*Shift System*) से बालिका-विद्यालय चलाये जाने चाहियें ताकि उसी भवन तथा अन्य सामग्री का दोहरा लाभ मिले। कन्याओं के लिए दिन का समय अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उन्हें प्रातः स्वयं अपने घरेलू कार्यों में माताओं के साथ हाथ बँटाना पड़ता है।

(४) शिक्षिकाओं की पूर्ति—पढ़ी-लिखी स्त्रियों को शिक्षिका बनाने के लिये

यह आवश्यक है कि उनको अधिकाधिक सुविधायें प्रदान की जायें। उनको यथा-इच्छित स्थान पर नियुक्त, आवास तथा अन्य आवश्यक सुविधायें प्रदान की जानी चाहियें।

(५) अधिकारियों की नियुक्ति—शिक्षा विभाग में बालिका शिक्षा से संबंधित अधिकारी पदों के लिए महिला अधिकारियों को ही नियुक्त किया जाना आवश्यक है न कि पुरुष अधिकारियों को। ऐसा करने से शिक्षिकाओं की पूर्ति, स्त्री-शिक्षा के प्रचार आदि समस्याओं को सुलझाने में सहयोग मिलेगा।

(६) पाठ्यक्रम—छात्राओं के लिए प्राथमिक स्तर पर छात्रों के अनुकूल पाठ्यक्रम हो सकता है पर माध्यमिक स्तर पर इनके पाठ्यक्रम में परिवर्तन होना आवश्यक है। इनके पाठ्यक्रम में सिलाई, बुनाई, शिशु-संरक्षण, गृह-विज्ञान, पाकशास्त्र आदि विषय सम्मिलित किये जाने चाहियें।

सारांश

प्रस्तावना—भारत में नारी सदा से सम्मानित रही है। मनुस्मृति में भी लिखा है—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' इससे भारतीय पुरुष का नारी के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट है। पर वर्तमान अवस्था में विपरीत स्थिति प्रतीत होती है।

प्राचीनकाल में स्त्री-शिक्षा—आदिकाल, वैदिककाल यहाँ तक कि बौद्धकाल तक स्त्रियों के विद्वान होने के प्रमाण मिलते हैं।

मध्यकाल में स्त्री-शिक्षा—मुस्लिम-काल में पर्दा प्रथा और बाल-विवाह जैसे दोषपूर्ण सामाजिक बन्धनों से स्त्री-शिक्षा पर आघात पड़ा। तथापि इस काल में स्त्री-शिक्षा का प्रसार अवश्य हुआ।

अंग्रेजी शासन-काल में स्त्री-शिक्षा—पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भारत में भी दृष्टिगोचर होने लगा। मिशनरियों ने स्त्री-शिक्षा प्रसार के अधिक प्रयत्न किये। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में सरकारी प्रयत्न अधिक नहीं किये गए। सन् १८५८ से १८८२ तक प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च स्त्री-शिक्षा के लिए अधिक सफल प्रयत्न हुए। समय-समय पर राष्ट्रीय आन्दोलनों के फलस्वरूप स्त्री-शिक्षा-प्रसार में भी प्रगति हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्री-शिक्षा—स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् महिला-शिक्षा-प्रसार के लिए कई समितियाँ बनीं, सम्मेलन प्रारम्भ हुए, परिषदों की भी बैठकें हुईं। पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर स्त्री-शिक्षा के सराहनीय प्रयत्न हुए पर फिर भी बालकों की संख्या की तुलना में शिक्षा प्राप्त करने वाली बालिकाओं की संख्या कम है।

स्त्री और पुरुष का दर्जा—स्त्री और पुरुष दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

स्त्री और पुरुष के कार्य-क्षेत्र—स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर के अन्दर है और

पुरुष का घर के बाहर। दोनों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में दक्ष होना है। पर ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से इस क्षेत्र को कठोर विभागों में नहीं बाँटना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा पर प्रमुख विचारधारायें—(क) स्त्री को मानव के समकक्ष घर से बाहर आकर कार्य-क्षेत्र में कूद पड़ना चाहिए। (ख) स्त्री को अपने क्षेत्र में अधिक योग्य होने के लिए शिक्षित होना चाहिए। (ग) महात्मा गाँधी ने कहा है कि स्त्रियों को आजीविका के लिए जिम्मेदारी नहीं उठानी चाहिए। जिन थोड़ी-सी स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करनी हो उनके लिए सह-शिक्षा का द्वार खुला हुआ है।

बुनियादी तालीम में स्त्रियों की शिक्षा—पूर्व-बुनियादी तालीम, जूनियर बुनियादी तथा उत्तर-बुनियादी तालीम में सह-शिक्षा सम्भव है, परन्तु सीनियर बुनियादी शिक्षा काल में लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था लड़कों से अलग होनी चाहिए। जहाँ लड़कियों को उद्योग सिखाने का प्रश्न है—बुनियादी उद्योगों में स्त्रियों को उनके जीवन में लाभकारी उद्योग सिखाये जाने चाहियें।

उपरोक्त योजना द्वारा शिक्षित होकर स्त्री जाति समाज-हित में योग दे सकेगी।

स्त्री-शिक्षा की कठिनाइयाँ—स्त्री-शिक्षा के प्रसार और विकास में कई कठिनाइयाँ हैं जैसे—(१) परम्परागत रूढ़िवादिता (२) सर्व-साधारण की अशिक्षा, (३) बाल-विवाह, (४) पर्दा-प्रथा, (५) प्रशासन की उपेक्षा, (६) धनाभाव, (७) शिक्षिकाओं का अभाव, (८) अनुपयुक्त पाठ्यक्रम, (९) अपव्यय, (१०) अन्य—विद्यालय भवन, पाठ्य-सामग्री आदि।

कतिपय सुझाव—(१) स्त्री-शिक्षा की जागृति, (२) कन्या विद्यालयों में वृद्धि, (३) पारी-प्रणाली, (४) शिक्षिकाओं की पूर्ति (५) अधिकारियों की नियुक्ति, (६) पाठ्यक्रम आदि के अन्तर्गत सुझाये गये सुधारों, सुझावों एवं सिफारिशों का यथासम्भव पालन कर स्त्री-शिक्षा में वृद्धि की जा सकती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) स्त्री-शिक्षा की प्रगति का ऐतिहासिक वर्णन कीजिए?

(२) स्त्री शिक्षा पर विभिन्न मतों का वर्णन करते हुए बुनियादी शिक्षा में उसके स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

(३) स्त्री शिक्षा के प्रसार और प्रगति में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसके निवारणार्थ आपके क्या सुझाव हैं?

—:०:—

बुनियादी तालीम और समाज-गठन

हमारे समाज के अधिकांश व्यक्ति गाँवों में रहते हैं। हमारी संस्कृति का वास्तविक स्वरूप गाँवों में ही निवास करता है। नगरवासियों की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति गाँवों से होती है। हमारी सभ्यता के विकास के उद्गम स्थान गाँव ही रहे हैं। राष्ट्र को अधिकांश महापुरुष गाँवों ने ही भेंट किये हैं। भारतीय संस्कृति का आध्यात्मवाद गाँवों में ही साकार स्वरूप धारण किये बैठा है। सहयोग, आत्मत्याग और भ्रातृभाव की आत्मिक राशि राष्ट्र के पास यदि अब भी संचित है तो वह ग्रामीण समाज में ही है।

परन्तु इसी दृष्टि का एक दूसरा पक्ष भी है। अगर दरिद्रता ने घर बनाया है तो गाँव में। अज्ञानान्धकार ने अपना गढ़ बनाया है तो गाँव में। अनेक बीमारियों को शरण मिली है तो वह गाँव में ही मिली है। अगर अंग्रेजी शिक्षा ने लूटा है तो गाँव को ही लूटा है और केन्द्रीयकरण ने किसी को छिन्न-भिन्न किया है तो वह ग्रामीण समाज को ही किया है।

गाँवों का महत्त्व और उनकी समस्यायें—हमने अभी देखा है कि गाँव एक धुरी है जिस पर यह राष्ट्र घूम रहा है। यदि यह धुरी शक्तिहीन है तो राष्ट्र सुरक्षित नहीं कहा जा सकता। हम शान्ति से विचारें तो हमें अनुभव होने लगता है कि अगर गाँव रूपी धुरी को सबल बना दिया जावे और उसका बल लगातार बढ़ता जावे तो राष्ट्र सुरक्षित हो जावेगा। ऐसा करने के लिए हमें अपने गाँवों का पुनर्निर्माण करना होगा; उनकी सभी समस्याओं का हल निकाल कर उनमें आत्मविश्वास और जागृति पैदा करनी होगी।

गाँव की समस्याओं का समाधान—आज हमारे राष्ट्र ने करवट बदली है। उसे यह भान हुआ है कि आज वह स्वतन्त्र राष्ट्रों की दौड़ में पीछे रह गया है। उसे उनके समकक्ष आने के लिए अन्य राष्ट्रों की तुलना में द्रुतगति से आगे बढ़ना है, तभी उसकी सब तरह की कमी को पूर्ण कर वह बराबर आ सकेगा। राष्ट्र की उन्नति कुछ इने-गिने नागरिकों की उन्नति नहीं है, वह कुछ इने-गिने नगरों की उन्नति भी नहीं है, वह तो राष्ट्र के समस्त गाँवों की उन्नति है जिनमें राष्ट्र के नागरिकों का कोटि-कोटि जनसमुदाय रहता है। गांधी जी ने कहा था—"किसी देश में केवल नगरों का कल्याण नहीं हो सकता।" नगरों के कल्याण के लिए नगर में कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रयत्न तो मूल की ओर ध्यान न देकर सूखते हुए वृक्ष के पत्ते-पत्ते और शाखा-शाखा में जल का

संचार करने के प्रयत्न के समान है। नगरों के मूल ग्राम हैं। ग्रामों को स्वर्ण में बदल दीजिये नगर स्वयं ही हीरे के समान जगमगाते नजर आवेंगे। इसीलिए राष्ट्र को अपनी सारी शक्ति ग्रामों में सुख तथा समृद्धि की लहर दौड़ाने में लगा देनी चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सुखमय व सहयोगी जीवन व्यतीत करने लगे।

ग्रामों का पुनर्गठन कैसे ?—महात्मा जी भारत के सम्पूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न को हल करना चाहते थे। इस प्रश्न के हल करने में उन्हें शिक्षा से मूल सहायता का काम लेना था। इस कारण इसके अंगों को उन्होंने इस प्रकार संगठित किया कि वे राष्ट्र की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकें। महात्माजी का कहना था कि वर्धा योजना केवल 'शिक्षा पद्धति' ही नहीं है। वह उससे कुछ ज्यादा है। वह तो शिक्षा द्वारा भारत के पूरे राष्ट्रीय प्रश्न को हल करने का एक रास्ता है। इस प्रकार अगर हमें ग्रामों का संगठन करना है तो हमें बुनियादी तालीम की शरण लेनी होगी।

बुनियादी तालीम के लक्ष्य

(क) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण—राष्ट्र में आज उद्योगों का केन्द्रीकरण है। बड़े-बड़े कारखाने लगातार मजदूरों का शोषण कर रहे हैं। मजदूरों का धन पूंजीपतियों के पास केन्द्रित होता जा रहा है। लाखों श्रमिकों के धन पर कुछ इने-गिने पूंजीपति जीते हैं और धन का दुरुपयोग करते हैं। इस आर्थिक विषमता ने समाज में अनेक दोष पैदा कर दिये हैं जिनका पूर्व अध्यायों में विवेचन हो चुका है। बुनियादी तालीम उद्योग-केन्द्रित होने के कारण समाज-सुधार में प्रमुख स्थान रखती है। उद्योग के आधार पर शिक्षा समाज में कुटीर उद्योगों को फिर से स्थापित करेगी और उनमें विकेन्द्रीकरण लाकर गांवों की आर्थिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न होने से बचावेगी।

(ख) हाथ से काम करने में रुचि पैदा करना—बालक हाथ से जो वस्तुएं बनावेंगे उनके उपयोग में उनको सृजन करने से प्राप्त सतोष का अनुभव होगा। इससे उनमें हाथ से काम करने में रुचि पैदा होगी। आज जो गांवों का कारीगर उसके सामान के खरीदारों के अभाव में मारा-मारा फिरता है उनके बजाय उसे खरीदार मिलने लगेंगे। अनेकों कारीगर जो अपने धन्धों से गुजारा न हो सकने से इधर-उधर भटक रहे हैं अब फिर अपने धन्धों से उदरपूर्ति कर सकेंगे और गांवों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा।

(ग) समानता एवं स्वतन्त्रता की स्थापना—हमारे देश में अनेकों वर्ग पाये जाते हैं। इन्हीं वर्गों के आधार जाति, धर्म व कार्य आदि हैं। प्रत्येक वर्ग अपने को दूसरे से ऊँचा समझता है। इस असमानता को हमारा लोकहितकारी राज्य समाप्त करना चाहता है। बुनियादी तालीम इसी प्रयत्न में राष्ट्र को सफल बनाने वाली शिक्षा-योजना है। इसमें प्रत्येक काम प्रत्येक व्यक्ति के करने का काम माना जाता है। इसमें आदर धन से प्राप्त होने की पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था की

स्थापना करते समय महात्मा जी ने कहा था—"समाज में चालू सिक्का एक व्यक्ति की मेहनत और मजदूरी हो, धन नहीं।"

जब तक मानव आर्थिक एवं शारीरिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं होगा तब तक वह बुद्धि, मन और इन्द्रियों की स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर न हो सकेगा।

बुनियादी शिक्षा द्वारा प्रयत्न

(क) गाँव एक स्वावलम्बी इकाई के रूप में—बुनियादी तालीम के स्वावलम्बी पक्ष के अन्दर यह अपेक्षा की गई है कि प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करके एक स्वतन्त्र स्वावलम्बी इकाई का रूप ग्रहण करेगा। इसका प्रारम्भ स्वावलम्बी व्यक्ति से होकर, फिर स्वावलम्बी कुटुम्ब की कल्पना की गई है। इसके पश्चात् गाँव की बारी आती है। यह घेरा धीरे-धीरे बढ़कर स्वावलम्बी राष्ट्र को जन्म देता है। *गाँव वाले कच्चा माल स्वयं तैयार करें। वे कुटीर उद्योग द्वारा उसमे* निर्माण कार्य करें। अपने औजार भी स्वयं बनावें और इस प्रकार गाँव का धन गाँव में ही रहे। महात्मा जी इस विषय में बड़े क्रांतिकारी विचार रखते थे। उनका कहना था कि यदि एक व्यक्ति को कपड़े की आवश्यकता है तो वह उसके बदले अपनी मेहनत द्वारा पैदा किया हुआ गेहूं या अन्य कोई वस्तु दे। इसी दृष्टिकोण से बुनियादी तालीम में स्कूल-समाज की रचना की गई है जो प्रत्येक दृष्टि से स्वावलम्बी होने के हेतु प्रयत्नशील है।

(ख) ग्राम की सफाई प्रत्येक का उत्तरदायित्व—स्कूल की व्यवस्था में सफाई एक प्रमुख अंग है। स्कूल-समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य को करने के लिए तैयार रहता है। गाँवों में बालकों द्वारा यह भावना पैदा करने की जरूरत है कि वहाँ की सफाई का उत्तरदायित्व गाँव वालों पर है। गाँव में सफाई तभी रह सकती है जब प्रत्येक यह ध्यान रखे कि *कूड़ा-करकट हर कहीं न डाला जावे,* बालक हर कहीं मलमूत्र के लिए न बैठें, मकानों की नालियों से निकला हुआ पानी *इधर-उधर न फैले, छूत के रोगी के पास हर कोई न जावे, तालाबों* का पानी पशुओं के द्वारा गन्दा न होने पावे और पीने के पानी के कुओं पर पूर्ण सफाई रहे। यह तो हुआ सफाई का निषेधात्मक पक्ष। इसी के साथ दूसरा है निवारणात्मक पक्ष। इसमें सफाई के लिये कार्य करना प्रत्येक का धर्म माना जाता है। बुनियादी तालीम कार्यक्रम में प्रति हफ्ता एक दिन इसी कार्य के लिए हो जिससे ग्रामवासियों में अपने गाँव की सफाई की चेतना पैदा हो।

(ग) ग्राम-निर्माण योजना—प्राय गाँवों में बिना किसी क्रम के मकान दिखाई देते हैं। नये मकान तैयार करते समय भी *कोई योजना सामने नहीं होती।* मकान सुविधाजनक हो यह भी ध्यान नहीं रखा जाता। उपर्युक्त अवस्था के मकान के घरों में पशु, पक्षी और मानव सभी साथ-साथ रहते हैं। गाँवों में ग्राम निर्माण समितियाँ स्थापित की जानी चाहिएँ। श्रमदान के द्वारा सार्वजनिक स्थानों के निर्माण की व्यवस्था होनी चाहिए। गाँवों में पुस्तकालय चाहिएँ। वहाँ पंचायत घर भी होना

चाहिये जहां गाँवों के लोग बैठकर गाँव की समस्याओं पर विचार कर सकें। बुनियादी तालीम ऐसे रचनात्मक दृष्टि वाले नागरिकों को तैयार करने में प्रयत्नशील है जो निर्माण की कला में सिद्धहस्त होंगे और गाँवों में ऐसा निर्माण कार्य करेंगे, जो व्यक्ति और गाँव दोनों के लिए लाभकारी होगा।

(घ) श्रमदान—सामाजिक चेतना का विकास करने की दृष्टि से आजकल भिन्न-भिन्न स्थानों पर श्रमदान का आयोजन किया जाता है। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में गाँव के लोगों से श्रम के रूप में सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न हो रहा है। इसमें बुनियादी दृष्टिकोण यही है कि उन्नति एवं विकास का उद्‌गम स्थान नागरिक है और नागरिकों की भावना जब तक यह न बने कि हमें आगे बढ़ना है तब तक सरकार द्वारा किया गया प्रयत्न वह कितना ही अनमोल क्यों न हो, एक ऊपर से थोपे हुए बोझ के समान ही बन जाता है। उसमें स्वनिर्माण के संतोष का अभाव बना ही रहता है। बुनियादी शाला अवसर-अवसर पर श्रमदान द्वारा गाँवों में बच्चों द्वारा सड़कें एवं सार्वजनिक स्थानों का निर्माण करके उनके माता-पिताओं को ग्राम-विकास का जिम्मा स्वयं उठाने के लिए प्रेरित करती है।

(ङ) सहकारी समितियों का निर्माण—बुनियादी-शाला अपनी सहकारी समिति का नमूना गाँव वालों के सामने रखकर उनको गाँव के लिए सहकारी समितियाँ स्थापित करने के लिये प्रेरित करेगी। इससे गाँव वालों का तैयार किया हुआ माल वहाँ खरीदा जा सकेगा और वापस उचित मूल्य पर बेचा जा सकेगा। ऐसी व्यवस्था से उचित कीमत पर सामान की खरीद व फरोख्त की व्यवस्था तो होगी ही परन्तु समिति के मुनाफे में भी गाँव वालों का हिस्सा रहेगा। इससे भी बड़ी बात यह होगी कि सामान की खरीद व फरोख्त के लिए दूर जाने पर आज किसान के धन और समय की जो क्षति उसकी अज्ञानता के कारण होती है उससे वह बच जावेगा।

(च) गाँवों में पंचायती शासन की स्थापना—बुनियादी-शाला में सारी व्यवस्था जनतन्त्रीय पद्धति से चलती है। यहाँ के मन्त्रिमण्डल में चुने हुए मन्त्री विभिन्न विभागों की जिम्मेदारी संभालते हैं। उनको छात्र-समाज के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता है। छात्र-समाज इनके अधिकारों को नियंत्रित करता है। गाँवों में पंचायती राज्य की स्थापना करने में बुनियादी-शाला एक नमूना उपस्थित करेगी। अदालतों में छोटे-छोटे झगड़ों के लिये गाँव वालों के धन और समय की जो हानि होती है उससे उनकी बचत होगी। इससे भी बड़ा असर गाँव वालों पर यह होगा कि वे बहुमत का निर्णय स्वीकार करने की आदत सीखेंगे जो जनतन्त्रीय नागरिक का प्रमुख गुण है।

(छ) शारीरिक श्रम का आदर व अस्पृश्यता का निवारण—बुनियादी शिक्षा में प्रत्येक पाठ उद्योग एवं श्रम से प्रारम्भ होने से बालकों में श्रम के प्रति आदर की भावना जाग्रत होती है। श्रम की दृष्टि से समाज के जो अंग नीचे ही नहीं वरन् छूने के योग्य भी नहीं माने जाते, उनके प्रति भी समाज में आदर की स्थापना होकर

उनको समाज में उपयुक्त स्थान प्राप्त होगा। बुनियादी तालीम से ऐसी अपेक्षा की जाती है।

(ज) सब को शिक्षित करने की व्यवस्था—बुनियादी तालीम स्वावलम्बी एवं अनिवार्य शिक्षा की एक योजना है। यह राष्ट्र के सब नागरिकों को शिक्षित करेगी ऐसा विश्वास है। इसमें सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा की व्यवस्था है। इस प्रकार सब नागरिकों के शिक्षित हो जाने पर निश्चित ही हमारे गाँवों में जो रूढ़िवादिता, अन्ध विश्वास व भेद-भाव पाया जाता है उनका अन्त हो जावेगा।

(झ) शहर से गाँव की ओर - हमें विश्वास है कि बुनियादी तालीम के द्वारा जब गाँवों का सर्वतोमुखी विकास हो जावेगा, वहाँ आज के समाज के लिए आवश्यक सभी सुविधायें जुट जावेंगी। वहा के निवासियों में अपने उद्योग, अपने घर, और अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम की स्थापना हो जावेगी। उनमें सहयोग, सहनशीलता, संवेदना और सहानुभूति की भावना पैदा हो जावेगी तब फिर राष्ट्र के नागरिक जो अब तक शहर की ओर आकर्षित होते रहे हैं वापस शहर से गाँव की ओर चल पड़ेंगे।

बुनियादी-शाला के शिक्षक का कर्तव्य—महात्मा जी को बुनियादी-शाला के शिक्षक से बड़ी-बड़ी आशायें थी। उनकी दृष्टि से बुनियादी शाला का शिक्षक "सत्य और अहिंसा" का पालक होना चाहिये। उसे हाथ की बनी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिये। उसे बालकों के माता-पिता से सम्पर्क कायम रखना चाहिये। उसे केन्द्रीय उद्योग के चुनाव में गाँव की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। उसमें गाँव का इतना विश्वास होना चाहिये कि गाँव के प्रत्येक जन-हितकारी काम की बुनियाद में उसके विचार मौजूद हों।

इस प्रकार आशा ही नहीं वरन् विश्वास है कि बुनियादी तालीम समाज का पुनर्गठन करने में सफल होगी।

सारांश

अंग्रेजी शासन में नगरों के विकास के साथ-साथ गाँवों का लगातार पतन होता रहा है। वे छिन्न-भिन्न होते जा रहे हैं। आज स्वतन्त्रता के पश्चात् उनका पुनर्गठन करना जरूरी हो गया है।

गाँवों का महत्व—वे राष्ट्ररूपी पृथ्वी की धुरी हैं। अगर धुरी लगातार निर्बल होती गई तो फिर अनिष्ट ही है।

गाँवों की समस्याओं के समाधान—राष्ट्र का काम है कि अब ग्राम की समस्याओं के समाधान के लिए जुट जावे।

ग्रामों का पुनर्गठन—बुनियादी तालीम द्वारा सम्भव है।

बुनियादी तालीम के लक्ष्य—

(क) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण।

(ख) हाथ से काम करने के प्रति रुचि पैदा करना।

(ग) समानता व स्वतन्त्रता की स्थापना।

बुनियादी शिक्षा द्वारा प्रयत्न—

(क) गांव एक स्वावलम्बी इकाई के रूप में।

(ख) ग्राम की सफाई प्रत्येक का उत्तरदायित्व है।

(ग) ग्राम-निर्माण योजना।

(घ) श्रमदान।

(ङ) सहकारी समितियों का निर्माण।

(च) गाँवों में पंचायती शासन की स्थापना।

(छ) शारीरिक श्रम का आदर और अस्पृश्यता का निवारण।

(ज) सब को शिक्षित करने की व्यवस्था।

(झ) शहर से गांव की ओर।

बुनियादी-शाला के शिक्षक का कर्त्तव्य—उसे सत्य एवं अहिंसा का पालन करना है। उसका जीवन बालक और समाज के लिए आदर्श होना चाहिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) अंग्रेजी शिक्षा ने ग्राम्य जीवन को किस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया है, इसका सविस्तार वर्णन कीजिए।

(२) 'बुनियादी शिक्षा गाँवों के आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को उन्नत कर निश्चित ही उनका पुनर्गठन कर सकेगी' इस कथन की प्रमाण सहित पुष्टि कीजिए।

—:o:—

पूर्व-बुनियादी शिक्षा

सन् १९४५ का सेवा ग्राम बुनियादी सम्मेलन बुनियादी शिक्षा के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी सम्मेलन में महात्मा जी ने बुनियादी तालीम को "जीवन शिक्षा" का रूप दिया और यह स्पष्ट किया कि अब हमारा क्षेत्र गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त होगा। सम्मेलन ने *"जीवन शिक्षा" के कार्यक्रम को निम्नलिखित* चार भागों में विभाजित किया:—

(१) पूर्व-बुनियादी शिक्षा—६ वर्ष से कम आयु के बालकों की शिक्षा।

(२) बुनियादी शिक्षा—६ से १४ वर्ष के बालकों की शिक्षा।

(३) उत्तर-बुनियादी शिक्षा—१४ से १६ वर्ष तक के तरुणों की शिक्षा।

(४) प्रौढ़ शिक्षा—मातृभाषा के माध्यम द्वारा सभी आयु के व्यक्तियों की शिक्षा।

पूर्व-बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता जहाँ तक पूर्व-बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था का सम्बन्ध है आचार्य विनोबा जी ने कहा है—"मेरी दृष्टि में तो छोटे *बच्चों की तालीम, जिसको हम पूर्व-बुनियादी तालीम कहते हैं कुटुम्बों में होनी चाहिये।* माता-पिता ही छोटे बच्चों के प्रथम गुरु हैं और दूसरे गुरुओं से उनका अधिकार भी श्रेष्ठ है।" इस कथन का पालन तभी संभव है, जब हमारे देश में माता-*पिता शिक्षित* हों और बालक का पालन-पोषण ठीक प्रकार से कर सकें। ऐसी दशा में बाल-मन्दिर, नर्सरी स्कूल, किंडर गार्टन और माटेसरी स्कूल की देश को आवश्यकता ही न पड़े। अन्य देशों में भी इसी प्रकार के स्कूल चलते हैं परन्तु उनका उद्देश्य भारत में ऐसे स्कूलों का जो उद्देश्य है उससे भिन्न है। वहाँ पर मातायें विभिन्न उद्योगों में काम करती हैं। *इस कारण जब वे काम पर जाती हैं तब बालकों को नर्सरी स्कूलों में रख जाती हैं।* हमारे देश में स्थिति भिन्न है। *यहाँ मातायें अन्य देशों की तरह व्यस्त नहीं हैं।* फिर भी हमें नर्सरी स्कूल चाहियें क्योंकि हमारे देश में माता-पिता *सुशिक्षित नहीं हैं, इसी* के साथ घरों का वातावरण इतना गन्दा होता है कि बालकों पर बुरा प्रभाव डालता है। *यदि बालक आरम्भ से ही सुन्दर एवं आनन्दपूर्ण वातावरण में रहेगा तो उसे ऐसे* ही वातावरण में रहने की आदत बन जावेगी और उसे इसके विपरीत वातावरण में असुविधा महसूस होगी। यही असुविधा उसे *उसके वातावरण में सुधार करने को प्रेरित करेगी।* परन्तु गंदे वातावरण में रहने की आदत बन चुकने पर बालक वातावरण को —ने का प्रयास नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त बालक अपने माता-पिता का अनुकरण —ना *विकास करता है। यदि घर में कुछ व्यक्तियों की* आदतें खराब हैं तो —ने जीवन में अनुकरण प्रवृत्ति द्वारा उतार लेता है। घर के वातावरण

में जो अभाव रहते हैं और जिनके कारण बालक का विकास रुक सकता है, उन अभावों की पूर्ति का कार्य बाल-मन्दिर एवं, पूर्व-बुनियादी शिक्षा का है। जहाँ एक ओर यह शिक्षा घर के वातावरण की कमियों को पूर्ण करती है वहाँ दूसरी ओर यह माता-पिता को ऐसा पथप्रदर्शन देती है कि जिससे वे बाल-मन्दिरों में उत्पन्न किये जा सकने वाले गुणों के पोषक बनें।

पूर्व-बुनियादी शिक्षा के उद्देश्य—

(१) बुनियादी शिक्षा के लिए बालकों को तैयार करना।

(२) छोटे बालकों का सर्वांगीण और सामंजस्यपूर्ण विकास करना।

पूर्व-बुनियादी शिक्षा की चार अवस्थायें—

पूर्व-बुनियादी शिक्षा को हम ४ भागों में विभाजित कर सकेंगे—

पूर्व-बुनियादी शिक्षा

गर्भावस्था में शिक्षा।	जन्म से लेकर २॥ वर्ष तक की शिक्षा।	२॥ वर्ष से ४ वर्ष तक की शिक्षा।	४ वर्ष से ६ वर्ष तक की शिक्षा।
(१)	(२)	(३)	(४)

१. गर्भावस्था में शिक्षा—शिक्षा का प्रमुख तरीका यह है कि हम बालक के वातावरण में ऐसा सुधार कर दें कि बालक स्वयं ही उसमें शिक्षित होने का कार्य शुरू कर दे। पूर्व-बुनियादी शिक्षा बालक की गर्भावस्था से ही प्रारम्भ होती है। जो बालक गर्भावस्था में है उसका वातावरण साधारणतः निम्न बातों से प्रभावित होता है:—

(क) माता का खान-पान।

(ख) माता का रहन-सहन।

(ग) माता के विचार।

(क) माता का खान-पान—पूर्व-बुनियादी शिक्षा माता के गर्भधारण काल के आहार पर दृष्टि रखने का प्रयत्न करती है। माता को संतुलित आहार देना ही इस शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। संतुलित आहार के दो पक्ष हैं:—

(१) दैनिक आहार में कौन-कौन सी वस्तुओं का समावेश होना चाहिये और वह किस अनुपात में हो?

(२) दिनचर्या में किस वस्तु का किस समय उपयोग किया जाना चाहिये जिससे बालक के समुचित विकास में सहायता हो।

माता के खान-पान का गर्भावस्था में बालक के वातावरण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। असंतुलित एवं अनियमित भोजन से बालक को असुविधा एवं अशांति मिलती है। बालक का यह कष्टमय जीवन उसके भावी जीवन को प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

(ख) माता का रहन-सहन—माता का रहन-सहन गर्भ स्थित बालक के जीव को प्रभावित करता है। इस क्षेत्र में माता को शिक्षा इस उद्देश्य से दी जानी चाहि कि वह गर्भावस्था में निश्चित प्रकार का जीवन बितावे। कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियों क इसलिए शिक्षित करना पड़ता है कि वे दी गई शिक्षा के अनुसार जीवन बिताने में माता की मदद करें। आज घरों में सास-बहू का जो सम्बन्ध बना हुआ है उसे स जानते हैं। भावी-संतान की भलाई के लिए सास को एवं घर के अन्य वयोवृद्ध सदस्य को बहू से सेवा लेने के अपने अधिकारों का त्याग इस काल के लिये करना ही होगा रहन-सहन की दृष्टि से निम्न बिन्दुओं पर ध्यान आकर्षित किया जाना चाहिये :—

(क) माता के रहने का कमरा एवं उसकी सामग्री।
(ख) माता के करने के घरेलू कार्य एवं वर्जित कार्य।
(ग) माता के आराम करने का समय व तरीका।
(घ) माता के वस्त्र।
(ङ) माता का अध्ययन एवं विचार।

(क) माता के रहने का कमरा—माता के रहने के लिये घर का वह कक्ष दिया जाना चाहिये जो प्रत्येक प्रकार से स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद हो और मन की प्रसन्नता को बढ़ाता हो। उसमें केवल ऐसी ही सामग्री होनी चाहिये जो सुन्दर विचारों को प्रेरणा देती हो। युग-पुरुषों एवं महापुरुषों के चित्र एवं जीवनियाँ, उस कमरे की जरूरी सामग्री होंगी। वहाँ से किसी ऐसे दृश्य पर दृष्टि नहीं जानी चाहिये जिसको हम अपने जीवन में स्थान नहीं देना चाहते।

(ख) माता के करने के कार्य एवं वर्जित कार्य—घर में अनेकों ऐसे कार्य हैं जो माता के लिये लाभप्रद हैं और अनेकों ऐसे कार्य भी हैं जो माता के लिये अहित-कारी हो सकते हैं। वे काम जिनसे शरीर को झटका लगे, वे काम जिनसे अधिक थकान आवे, वे काम जिनसे माता के शरीर की ऐसी आकृति बने जो बालक के शारीरिक विकास में बाधक हो और वे काम जिनसे माता के मन में कुत्सित विचार पैदा हों, वर्जित काम हैं और माता को नहीं करने चाहियें।

(ग) माता के आराम करने का समय व तरीका—माता की दिनचर्या को व्यवस्थित करना आवश्यक है। कब से कब तक कार्य करना है? कितने घण्टे निद्रा लेनी है? निद्रा का आधिक्य या अभाव बालक को किस प्रकार प्रभावित करता है? निद्रा एवं आराम के समय उसके शरीर की सही एवं उपयुक्त आकृति कैसी होनी चाहिये? उसके विपरीत आकृति क्या-क्या दुष्परिणाम ला सकती है? इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान माता को दिया जाना आवश्यक है।

(घ) माता के वस्त्र—माता को ऐसे कपड़े पहनने चाहियें जो बालक के विकास में सहायक सिद्ध हों। तंग और सिले हुए कपड़े पहनना आजकल फैशन-सा हो गया है। वे वस्त्र भावी-माताओं अर्थात् लड़कियों के कुछ विशिष्ट अंगों को विकसित होने से रोक देते हैं। इसका दुष्परिणाम सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् डाक्टरों के सामने

माया है। डाक्टरों ने यह देखा है कि माताओं के स्तनों की दुग्धवाही स्नायुओं ने विकास के मार्ग के अभाव में ऐसा विकृत रूप धारण कर लिया कि दुग्धवाहन शिथिल पड़ गया और बालक को पर्याप्त मात्रा में दूध मिल सकना असम्भव हो गया। तंग वस्त्र गर्भधारणी माता के लिये हानिकारक हैं। ये बालक के विकास को रोक देते हैं और इनसे उसके विकास के विकृत हो जाने का भय रहता है।

(ङ) माता के विचार—हमने महाभारत में अभिमन्यु द्वारा चक्रव्यूह के भेदन का वर्णन सुना है। अभिमन्यु को चक्रव्यूह से निकलने की पद्धति के ज्ञान के अभाव में ही प्राण गँवाने पड़े थे। इसका कारण यह था कि अर्जुन ने सुभद्रा को जब अभिमन्यु गर्भ में था चक्रव्यूह की कहानी सुनाना आरम्भ किया था। जब अर्जुन चक्रव्यूह से बाहर निकलने की रीति का वर्णन कर रहे थे उस समय सुभद्रा को निद्रा ने जा घेरा, माता उस वर्णन को नही सुन सकी। अभिमन्यु चक्रव्यूह से निकलना न सीख सका। इससे स्पष्ट है कि बालक का मन बाहरी वातावरण एवं घटनाओ और माता के विचारों व आचरण द्वारा बहुत ज्यादा प्रभावित होता है। गर्भधारिणी माता के विचारों का नियन्त्रण करके बालक की शिक्षा का प्रारम्भ उसकी गर्भावस्था से ही किया जा सकता है। इस काल मे ऐसी पुस्तकें, कहानियाँ एवं सामग्री जुटाई जानी चाहियें, जो माता में ऐसे विचारों को उत्पन्न करें, जिनका हम बालक में समावेश चाहते हैं।

गर्भावस्था में शिक्षा का उत्तरदायित्व—इस काल की शिक्षा के प्रमुख अंगों का विवेचन कर लेने के बाद यह प्रश्न होता है कि इस कार्य की जिम्मेदारी किसकी है? वैसे तो शिक्षित माताएँ उपरोक्त अनेकों बिन्दुओ पर सावधान रह सकती हैं फिर भी भारत में ऐसी माताओं का प्रतिशत इतना अल्प है कि गर्भधारिणी माताओं का शिक्षण, जो बालक के जन्म पूर्व का शिक्षण है, एवं प्रौढ़ शिक्षा का अंग है, चलाने की जिम्मेदारी सरकार या समाज पर आये बिना नहीं रह सकती। पूर्व-बुनियादी शाला में एक "ग्राम सेविका" का स्थान होना चाहिये। वह ग्राम सेविका घरों मे जाकर माता की जिम्मेदारी से उसे अवगत करावे और घर के वातावरण व माता के रहन-सहन में जो भी सुधार आवश्यक हों उसका प्रबन्ध करे। कुटुम्ब के अन्य सदस्यों को भी उनके कर्त्तव्य से अवगत करे। आजकल हमारे देश मे "परिवार नियोजन" सम्बन्धी प्रयोग चल रहा है। यह प्रयोग भी प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में ही आता है। कमी इस बात की है कि घर-घर जाकर परिवार नियोजन की शिक्षा अब तक प्रारम्भ नहीं हो पाई है। जब तक यह नहीं होगा यह शिक्षा लाभकारी नहीं होगी।

२. जन्म से लेकर ढाई वर्ष तक की शिक्षा—बालक के जन्म के समय हमारे देश में माता को बुद्धिहीन और अज्ञानी दाइयों की सेवा प्राप्त होती है। अगर कोई कुटुम्ब प्रशिक्षित दाई की व्यवस्था करने का प्रयत्न भी करता है तो उसे पूर्ण सन्तोष नहीं मिलता। कारण, यह है कि उसका उपलब्ध होना आर्थिक दृष्टि से कुटुम्ब की शक्ति के बाहर होता है और वह माता को पुरानी दाइयों के अनुसार सहानुभूति एवं

सन्तोष प्रदान नहीं करती। यह एक कटु सत्य है कि आज की नव-शिक्षित दाइयाँ शिशुजन्म के अवसर पर सारे कुटुम्ब के लिए समस्या बन जाती हैं। वे सेविका बनने के स्थान पर अधिकारिणी एवं स्वामिनी का दृष्टिकोण बना लेती हैं, अतः सेविका से प्राप्त होने वाली आत्मीयता माता को उनसे प्राप्त नहीं हो पाती। आज गाँव-गाँव में शिक्षित दाइयों की राष्ट्र को आवश्यकता है। पर इनके लिये पुरानी दाइयों का बहिष्कार भी सम्भव नहीं। अगर बहिष्कार किया गया तो निश्चित ही माताओं एवं कुटुम्बों पर आत्मीयता-रहित आर्थिक बोझ सवार हो जावेगा। ऐसी दशा में केवल एक ही मार्ग है। सरकार को इन पुरानी दाइयों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। प्रशिक्षण के पश्चात् अधिकार-पत्र (Licence) प्रदान किये जावें। केवल अधिकार-पत्र प्राप्त दाइयाँ ही प्रसव करा सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। बालक के जन्म के पश्चात् उसकी देख-रेख निम्नलिखित आधारों पर की जानी चाहिए :—

(क) बालक का आहार।

(ख) बालक का लालन-पालन।

(ग) बालक के खेल की सामग्री।

(क) बालक का आहार—जन्म से कुछ मास तक बालक को बन्द कमरे में रखने का हमारे गाँवों में रिवाज है। बन्द कमरे में शुद्ध वायु का अभाव रहता है। वहाँ सूर्य का प्रकाश भी नहीं पहुँच पाता। माता और बालक दोनों को ही यह वातावरण हानि पहुँचाता है। बालक को कितनी मात्रा में और कितनी बार दूध दिया जाना चाहिए इसका ज्ञान माता को नहीं होता। माताएँ दूध पिलाने को बालक को रोने से चुप करने का साधनमात्र समझती हैं। रोने का कारण केवल भूख ही नहीं अन्य भी हो सकते हैं। कई अवसरों पर बालक को दूध पिला पिलाकर चुप करने के प्रयत्न से बालक की बीमारी बढ़ जाने पर उसका पता चल पाता है। माता और बालक दोनों के आहार को समय और अनुपात की दृष्टि से बालक के जन्म से २½ वर्ष तक नियन्त्रित रखना जरूरी है।

(ख) बालक का लालन-पालन—बालक के लालन-पालन के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं का समावेश होता है :—

(१) बालक का वातावरण।

(२) बालक के आराम करने का समय व तरीका।

(३) बालक के वस्त्र और शरीर की सफाई।

(४) बालक के साथ व्यवहार।

(१) बालक का वातावरण— बाल-मन्दिर, नर्सरी या मॉन्टेसरी स्कूल एवं शिशु-मन्दिर का अध्यापक, कोई भी हो उसे बालक की देख रेख करते समय माता एवं बालक दोनों से सम्पर्क स्थापित रखना होगा। उसे देखना होगा कि बालक को स्वास्थ्यप्रद वातावरण मिलता है या नहीं? उसकी जिम्मेदारी है कि वातावरण के सुधार के लिए त्रुटियों को निर्देशन दे और उनके उनके सुधार कराये।

(२) बालक के आराम करने का समय व तरीका—इस समय बालक एक
ह पशु के समान होता है। इस समय उसका तेजी से विकास होता है। उसे बार-
र भूख लगती है। उसे जल्दी-जल्दी आराम चाहिये। उसे आराम मिले ऐसी स्थिति
ा करना माता का कर्त्तव्य है। बालक करवट बदलता रहे, उसके अंग काम करते
, और उसके सब अंग समानता से विकसित होते रहें, यह सब देखने की जिम्मेदारी
ता की है।

(३) बालक के वस्त्र एवं शरीर की सफाई—बालक को वस्त्र ऐसे पहनाये
ा चाहियें जिनसे विकास में बाधा न हो। उनका कोमल और ढीला-ढाला जरूरी
बालक का बिछौना कोमल हो और पालने की बनावट ऐसी होनी चाहिए कि
की रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। उसके शरीर की सफाई की ओर विशेष ध्यान दिया
ा आवश्यक है। शरीर पर उबटन लगाकर स्नान कराने की पद्धति बालक के
स्थ्य की दृष्टिकोण से लाभकारी है। रोम-कूपों की गन्दगी दूर करने में उबटन
ज्यादा फायदेमन्द साबित हुआ है।

(४) बालक के साथ व्यवहार—बालक बड़ों के व्यवहार के प्रति बड़ा
ग्रु होता है। अनेकों बच्चों को हमने देखा है कि बड़ों की शक्ल पर नाराजगी
र वे रोने लगते हैं और उनको हँसता हुआ देखकर उनका मुख-कमल खिल
है। माता-पिता का व्यवहार इस उम्र में बालक के साथ प्रेम और सहानुभूति
त-प्रोत रहना चाहिये। दुर्व्यवहार कभी-कभी बालक में मनोग्रन्थियों का कारण
ाता है, जो बाद के जीवन में हानिकारक सिद्ध होता है।

(ग) बालक के खेल की सामग्री—बालक के आस-पास की वस्तुएँ जो उसके
रण का निर्माण करती हैं उनमें "सत्यं, शिवं, सुन्दर" का समावेश होता
। वे वस्तुएँ ऐसी हों जो माता-पिता की अनुपस्थिति में भी बालक को
मय बनाये रखें एवं उसके विकासोन्मुख जीवन में सहयोग करें। ऐसा वाता-
उसमें सम्वेदन की शिक्षा की आधारभूमि तैयार करने में सहायक होता है।

जन्म से लेकर ढाई वर्ष तक की शिक्षा का उत्तरदायित्व—बालक के जन्म से
तीनों तक दाइयों की जिम्मेदारी सबसे ज्यादा होती है। वे शुरू में प्रतिदिन
। बाद में वे तीन दिन, सात दिन व पन्द्रह दिन छोड़ कर आती हैं। फिर वे
भी आने लगती हैं। वे अपनी बुद्धि के अनुसार बालक की सफाई करती हैं व
ो पथ-प्रदर्शन भी देती हैं। बालक की जिम्मेदारी धीरे-धीरे माता पर आ जाती
ता पर पूरी जिम्मेदारी आने पर ग्राम-सेविका या शिशु-मन्दिर के अध्यापक से
ा सम्पर्क शुरू होता है। बालक के बाल-मन्दिर में प्रवेश की तैयारी का समय
। ग्राम-सेविका को इस उम्र के बालकों की माताओं को सामूहिक शिक्षा देने
जन करना चाहिए। माताओं की भावनाओं को बालक की देख-रेख की ओर
ायृत करने हेतु शिशु-प्रदर्शनी का आयोजन हो सके तो उत्तम है।

३. बालक की ढाई वर्ष से चार वर्ष तक की शिक्षा—अब बालक स्कूल

जाने योग्य हो गया है। उसने *शिशु-मन्दिर के अध्यापक से भी परिचय प्राप्त कर लिया* है। अब वह घर से बाहर की दुनियाँ का अध्ययन करना चाहता है। अब उसे साथियों की आवश्यकता है। उसे अब केवल विचार ही नहीं, काम भी चाहिए। उसके शिक्षक जो उसमे घर पर आकर परिचय प्राप्त कर चुके हैं अब उससे यह आशा करते हैं कि वह बाल-मन्दिर आवे। उन्हें भी उसे सन्तुष्ट करना है।

बालक की इस अवस्था की देख-रेख के प्रमुख अंग—बालक के आहार, लालन-पालन व खेल की सामग्री की देख-रेख अब तक माता, ग्राम-सेविका या दाई माई *किया करती थीं। वह देख-रेख पूरी तरह नियन्त्रित नहीं की जा सकती थी। घर के अन्य सदस्यों का भी उस पर प्रभाव था। अब देख-रेख की जिम्मेदारी बाल-मन्दिर पर आ जाती है, जहाँ इस कार्य के लिए विशेषज्ञों की सेवायें उपलब्ध रहती हैं। नियमित,* व्यवस्थित एवं नियन्त्रित शिक्षा की भूमिका यहीं तैयार होती है।

बाल-मन्दिर में बालक की शिक्षा का स्वरूप—अब तक इस उम्र के बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध नर्सरी शालायें, किंडर गार्टन, एवं माटेसरी शालायें करती रही हैं। प्रत्येक में जो पद्धति अपनाई जाती है उसका विवेचन हमने "बुनियादी शिक्षा—शिक्षण पद्धति" नामक पुस्तक में विस्तार से किया है। फिर भी यह स्पष्ट है कि *उपरोक्त सभी पद्धतियाँ थोड़े-थोड़े अन्तर के साथ बालक के विकास में सहायक होना* चाहती हैं। इस सारे कार्य के विषय में इंग्लैंड की सलाहकार समिति ने बड़े सुन्दर सुझाव रखे हैं।

इंग्लैंड की सलाहकार समिति के सुझाव :—

(१) छोटे बच्चों के विकास को दृष्टि में रखते हुए शाला में स्वच्छ वायु, सूर्य का प्रकाश एवं धूप पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिए। इस प्रकार शाला का वातावरण स्वास्थ्यप्रद हो सकता है।

(२) बालकों को स्वास्थ्यप्रद, *आनन्ददायक एवं संयमित सामग्री प्राप्त हो और चिकित्सक की सेवा उपलब्ध हो।*

(३) बालकों में अच्छी आदतें और तरीके पैदा करने का प्रयत्न किया जावे।

(४) बालकों की कल्पनाशक्ति के विकास का पूर्ण अवसर हो और मनोरंजन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों।

(५) *बालकों को मिल-जुलकर रहने व काम करने का अवसर मिले और वे सामाजिक जीवन बिता सकें ऐसी सुविधा हो।*

(६) *बालकों के घर के जीवन से इसका सम्बन्ध स्थापित किया जावे।*

बाल-मन्दिर उपरोक्त सुझावों का देख और काम की दृष्टि से पालन करता हुआ बालक के बौद्धिक, शारीरिक एवं मानसिक विकास में सहायक होता है और *निश्चित सीमा तक बंधन रहित शिक्षण का प्रबन्ध करते हुए नियमित एवं नियन्त्रित जीवन, खेल व विकास की व्यवस्था करता है।*

४. बालक की ६ से ८ वर्ष तक की शिक्षा—छै वर्ष से आठ वर्ष तक

की बाल-मन्दिर की शिक्षा बालक का नियन्त्रित शिक्षा के वातावरण से केवल परिचय कराती है और वहाँ खेल-कूद के अलावा कुछ नहीं होता, वैसे ही इस अवस्था में बालक का बुनियादी शिक्षा से परिचय कराया जाता है।

इस काल की शिक्षा की रूपरेखा—इस अवसर पर प्रथम वर्ष में खेल-कूद का अधिक महत्व रहता है। फिर भी शिक्षक का दृष्टिकोण इस ओर जागरूक होता है कि उन खेलों को रचनात्मक रूप किस प्रकार दिया जावे। हमारे देश में मांटेसरी पद्धति के व्यय साध्य-साधनों को अपनाना कठिन प्रतीत होता है। उन साधनों में बालक अपने-अपने काम में व्यस्त रहते हैं। वे एक दूसरे की स्वतन्त्रता में भी बाधक नहीं होते। फिर भी उनमें सहयोग से काम करने के अवसर कम मिलते हैं। जहाँ आधारभूत सिद्धान्तों का प्रश्न है मांटेसरी पद्धति एक अच्छी पद्धति है फिर भी भारतीय शिक्षा पद्धति की दृष्टि से इसमें कुछ परिवर्तन अनिवार्य हैं। खेल की सामग्री के रूप में छोटे-छोटे कुदाली, फावड़े, बाल्टी, टोकरी, तकली, अटेरन आदि का प्रयोग प्रथम परिवर्तन और इन औजारों से खेल में रचनात्मक खेलों को शुरू करना दूसरा परिवर्तन होना चाहिए। प्रत्येक जानकारी बालक को समन्वय पद्धति से दी जावे यही श्रेष्ठ है।

इस पद्धति द्वारा बालक का विकास—बालक का विकास निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत होगा :—

(क) **संवेदन**—संवेदन की शिक्षा के लिए गाँव की बनी हुई वस्तुओं का प्रयोग होगा। उनसे खेलते-खेलते कुछ काम हो जाए ऐसी आशा की जायेगी। सारे खेल कुदाली, फावड़े या तकली, अटेरन आदि यन्त्रों से खेले जायेंगे। प्रारम्भ में इन्द्रियों का अलग-अलग और बाद में दो या अधिक का सम्मिलित प्रशिक्षण होगा।

(ख) **वैयक्तिक विकास**—बालक काम व खेल द्वारा अपना मानसिक एवं शारीरिक विकास करते हैं। वे निश्चित एवं उचित समय पर भोजन, आराम व चिकित्सक की सहायता व निर्देशन प्राप्त करके व्यक्तित्व का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास करते हैं।

(ग) **सामाजिकता का विकास**—इस उम्र में बालक अपने साथियों के साथ रहना पसन्द करते हैं। स्कूल के जीवन में सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक भोजन, सामूहिक कार्य व सामूहिक खेल और आवश्यकता पर एक दूसरे की सहायता द्वारा, बालक सामाजिकता का विकास करते हैं।

(घ) **स्वावलम्बन**—स्वावलम्बन बुनियादी तालीम का प्रमुख अंग है, यहाँ पर आर्थिक स्वावलम्बन का महत्व कम है। परन्तु बालक मानसिक, शारीरिक और व्यावहारिक दृष्टि से स्वावलम्बी बने यह प्रयत्न इस अवसर पर किया जाता है। वह अपने शरीर सम्बन्धी सभी काम खुद कर ले, वह अपने महत्व के विषयों पर खुद फैसला करे और भिन्न-भिन्न परिस्थिति में उसे कैसा व्यवहार करना है, यह सब यहाँ सिखाया जाता है।

(ङ) खेलते-खेलते काम करने की आदत—बालक के खेल जब इस प्रकार के बन जायें कि विध्वंस के स्थान पर निर्माण होने लगे, तो फिर जीवन में काम और खेल के जो दो विभाग हो गए हैं उनकी समाप्ति हो जायेगी। महात्मा जी ने कहा था—"सच्ची नई तालीम यही है कि बच्चे खेलते-खेलते सीखें।" यदि बालक को बाल्यकाल से ही रचनात्मक कार्य की ओर अग्रसर किया जा सके तो फिर उसमें विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के पैदा होने का अवसर ही नहीं आयेगा।

(च) बालक को साधारण विषयों का ज्ञान-दान—साधारण विषयों में भाषा, गणित, सामाजिक ज्ञान, सामान्य विज्ञान, कला एवं संगीत आते हैं। वर्णमाला सिखाने के पूर्व बालक को चित्रकला सिखानी होगी। वह पहले पशु-पक्षियों के चित्र बनाकर हाथ को साधेगा। हाथ के सध जाने के पश्चात् उसे वर्णमाला सिखाई जायेगी और वह उसे सरलता से सीख लेगा। इसी प्रकार पढ़ने पढ़ना सिखाया जायेगा और फिर लिखने की शुरुआत होगी। विभिन्न विषयों के अलग-अलग समय निश्चित करने की आवश्यकता नहीं है वरन् खेल ही खेल में सब विषय पढ़ाये जायेंगे। खेलों को खेलते-खेलते ही बालक आवश्यकता पड़ने पर गणित सीखेंगे और खेल ही खेल में जब सामूहिक गीत शुरू होगा तो संगीत सीखने का अवसर आ जायेगा। शिक्षक ऐसे अवसरों से ही लाभ उठाकर बालक को शिक्षा देगा और सब विषयों की शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

पूर्व-बुनियादी तालीम समिति द्वारा स्वीकृत पाठ्य-विषय—पूर्व-बुनियादी तालीम समिति ने निम्नलिखित विषयों का अध्ययन कराये जाने के विषय में अपना मत व्यक्त किया है—

(१) भाषा, (२) गणित, (३) विज्ञान, (४) कला, (५) संगीत, (६) सामाजिक ज्ञान, (७) खेल-कूद व कसरत, (८) जानवर व पक्षी पालना, (९) सफाई और (१०) स्वावलम्बन आदि।

पूर्व-बुनियादी तालीम के प्रमुख सर्वमान्य सिद्धान्त—इस शिक्षा के विषय में निम्न प्रमुख सर्वमान्य सिद्धान्त हैं—

(१) बालक को यह अनुभव कराना कि दुनिया का काम बिना सहयोग के नहीं चलता। अतः मिल-जुलकर काम करना जरूरी है।

(२) बालक की तालीम उसकी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार होनी चाहिए और बालक की खेल-कूल एवं अभिनय आदि की प्रवृत्तियों से शिक्षक को लाभ उठाना चाहिए।

(३) बालक को जीवन में जो काम करने हैं उनकी रूपरेखा बचपन से ही उसमें इस प्रकार व्यवस्थित करना कि जिससे भावी ज्ञान दृढ़ नींव पर स्थित हो सके।

आज के शिक्षा विशेषज्ञों की यह जिम्मेदारी है कि बालक की अवस्था, रुचि, आवश्यकता, वातावरण, एवं सामाजिक परिस्थिति के अनुसार शिक्षा की योजना ऐसी तैयार करें कि बालक को अधिक से अधिक लाभ पहुँचे।

सारांश

बुनियादी तालीम को सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा मानकर सन् १९४५ में इसे निम्न चार भागों में बांट दिया—(१) पूर्व-बुनियादी शिक्षा, (२) बुनियादी शिक्षा, (३) उत्तर-बुनियादी शिक्षा, (४) प्रौढ़ शिक्षा।

पूर्व-बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता—केवल दो कारण हैं—माता-पिताओं में शिक्षा का अभाव और घर का दूषित वातावरण।

पूर्व-बुनियादी शिक्षा के चार भाग हैं :—

(१) गर्भावस्था से जन्म तक।

(२) जन्म से ढाई वर्ष तक।

(३) ढाई से चार वर्ष तक।

(४) पांच से छः वर्ष तक।

(१) गर्भावस्था की शिक्षा—इसमें माता का खान-पान रहन-सहन व विचार प्रमुख भाग अदा करते हैं। गर्भावस्था में भी बालक का बाहरी वातावरण से सम्पर्क बना रहता है। अभिमन्यु की कहानी इस कथन की पुष्टि करती है।

(२) जन्म से ढाई वर्ष तक की शिक्षा—बालक की देख-रेख पुरानी दाइयां करती हैं, जिन्हें नियमित रूप से शिक्षा देने का कर्त्तव्य सरकार का है। यहां बालक का आहार, लालन-पालन, वातावरण व खेल की सामग्रियों का अधिक महत्व है।

(३) ढाई से चार वर्ष तक की शिक्षा—बाल-मन्दिर इस शिक्षा के प्रति उत्तरदायी है। बालक खेल ही खेल में रचनात्मक कार्य की ओर अग्रसर होते हैं। इङ्गलैंड की सलाहकार समिति ने इस शिक्षा के विषय में सुझाव देकर कहा है कि सुन्दर वातावरण, आनन्ददायक सामग्री, अच्छी आदत पैदा करने के प्रयत्न, बालकों की कल्पना-शक्ति का विकास, मिल-जुल कर काम करने की आदत व बालकों के घर के जीवन से सच्चा सम्पर्क इस शिक्षा के प्रमुख अंग है।

(४) पांच से छः वर्ष तक की शिक्षा—यह बालक के बुनियादी शाला में प्रवेश की तैयारी का समय है। बालकों में संवेदन-जागृति, वैयक्तिक विकास, सामाजिक विकास, स्वावलम्बन, खेलते-खेलते काम करने की आदत पैदा करना व बालकों को साधारण विषयों का ज्ञान देने का प्रारम्भ इस अवस्था के प्रमुख अंग हैं।

पूर्व-बुनियादी तालीम समिति ने इस काल में भाषा, गणित, विज्ञान, कला, संगीत, सामाजिक ज्ञान, खेल-कूद, जानवर व पक्षी-पालन, सफाई व स्वावलम्बन आदि की शिक्षा का सुझाव दिया है।

संक्षेप में इस तालीम के सर्वमान्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(१) सहकारिता।

(२) रुचि और प्रवृति के अनुसार शिक्षा।

(३) भावी जीवन की क्रियाओं से बचपन में ही परिचित करना।

आज के शिक्षकों की यह जिम्मेदारी है कि बालक की रुचि, प्रवृत्ति, आवश्यकता एवं वातावरण के अनुसार शिक्षा की योजना का संयोजन करें ताकि बालक को अधिक से अधिक लाभ पहुँचे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) "बाल-मन्दिर बालक को घर के दूषित प्रभावों से बचाकर उनमें अच्छी आदतों का समावेश करता है।" इस कथन पर विचार करते हुए पूर्व-बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।

(२) पूर्व-बुनियादी शिक्षा को कितने भागों में विभाजित किया गया है? प्रत्येक भाग के अन्तर्गत शिक्षा की कैसे व्यवस्था की गई है? सविस्तार लिखिए।

(३) पूर्व-बुनियादी शिक्षा बालक में व्यक्ति एवं समाज की दृष्टि से किन-किन गुणों का समावेश करना चाहती है? स्पष्ट कीजिए। यह भी बताइए कि इन गुणों का समावेश किन-किन तरीकों से किया जायेगा?

(४) पूर्व-बुनियादी शिक्षा में स्वावलम्बन का क्या महत्व है? स्पष्ट कीजिए।

—:o:—

उत्तर बुनियादी शिक्षा

पूर्व बुनियादी शिक्षा पर पिछले पाठ में चर्चा की जा चुकी है। बुनियादी शिक्षा पर विस्तार से चर्चा इसी पुस्तक में "नई तालीम का जन्म एवं विकास" नामक पाठ में करली गई है। जहाँ उत्तर बुनियादी शाला का प्रश्न है—वहाँ बालक बुनियादी शाला से शिक्षित होकर आता है। वहाँ के शिक्षण से उसका एक निश्चित दृष्टिकोण बन जाता है। बुनियादी-शाला में शिक्षा पाया हुआ बालक परम्परीत शाला में अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाता। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि जिन प्रवृत्तियों को बुनियादी शाला ने विकसित किया है उनको आगे बढ़ने की सुविधा उसी तरीके से न दी जाए तो फिर वहाँ का सारा प्रयत्न ही व्यर्थ हो जाता है। इसी कारण उत्तर-बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता है।

उत्तर-बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त—उत्तर-बुनियादी शिक्षा में भी बुनियादी शिक्षा के अनुसार निम्न सिद्धान्तों का पालन होता है :—

(१) शिक्षा उद्योग केन्द्रित होती है।

(२) समवायी पद्धति से शिक्षा दी जाती है।

(३) स्वावलम्बन का आर्थिक पक्ष अधिक सबल होकर यहाँ स्वावलम्बी दृष्टिकोण पूर्णतः अपनाया जाता है।

केन्द्रीय उद्योग का चुनाव—उद्योग के चुनाव में निम्न बिन्दु विशेष प्रकार से विचारणीय हैं :—

(क) उद्योग मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाला हो।

(ख) उद्योग ऐसा हो जो इस शिक्षा के पश्चात् जीवन व्यवसाय के रूप में स्वीकार किया जा सके और सारे वर्ष चलने वाला हो।

(ग) उसमें व्यक्तित्व के विकास का पर्याप्त क्षेत्र हो।

कुछ अन्य उद्योगों का समावेश—आज जो बहुउद्देशीय शालाएँ (मल्टी-परपज स्कूल) खुलती जा रही हैं उनके अनुसार बिहार प्रदेश व कुछ अन्य प्रदेशों में, उत्तर-बुनियादी शालाओं के पाठ्यक्रम का बहुउद्देशीय शालाओं के पाठ्यक्रम से सामंजस्य किया गया है। इस प्रकार उत्तर-बुनियादी शाला के पाठ्यक्रम में निम्न उद्योगों को भी सम्मिलित कर लिया गया है—

(१) खेती व पशुपालन, (२) चिकित्सा, (३) इंजीनियरिंग, (४) यन्त्र-शास्त्र, (५) व्यावसायिक कला, (६) विभिन्न कारीगरियाँ, (७) विद्युत्-विज्ञान, (८) अध्यापन कार्य, (९) सम्पादन-कला, (१०) मुद्रण व मुद्रणालय व्यवस्था, (११) गृह-शास्त्र, (१२) ललित कलायें, (१३) धातु-विज्ञान, (१४) औद्योगिक शास्त्र आदि।

उपरोक्त उद्योगों का चुनाव करते समय नगर या ग्राम की जरूरत को ध्या में रखने का प्रयत्न किया गया है। आज के जीवन की अनन्त आवश्यकताओं को पू करने की योग्यता का स्रोत उत्तर-बुनियादी विद्यालयों से बह चले इसी ओर यह ए प्रयत्न है।

शिक्षा की पद्धति—यह बिन्दु इस पाठ में उत्तर-बुनियादी शिक्षा के सिद्धान के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है, फिर भी यह बताना आवश्यक है कि यह सम्पूर्ण ज्ञान क्रिया द्वारा ही दिया जायेगा, प्रत्येक विभाग का पाठ्यक्रम ऐसं सावधानी से तैयार किया जायेगा कि सम्बन्धित ज्ञान का पूर्णतः समावेश हो जाए।

सांस्कृतिक कार्यक्रम का स्थान—यद्यपि छात्र विषयों के स्वतन्त्र चुनाव के कारण शिक्षा के समय विभिन्न टोलियों में बँट जायेंगे फिर भी जहाँ सांस्कृतिक कार्यक्रम का प्रश्न है सबको अनिवार्य रूप से उसमें शामिल होना पड़ेगा। ऐसे कार्यक्रम मनोरंजन के साथ छात्रों के शरीर, बुद्धि एवं हृदय का शिक्षण करते हैं। इनके द्वारा हम अपनी संस्कृति का आदर करते हुए उसका प्रचार एवं विकास भी करते हैं। ऐसे कार्यक्रम छात्रों में सहयोग की भावना का विकास करते हैं।

उत्तर-बुनियादी शिक्षा की अवधि—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, उत्तर-बुनियादी शिक्षा बालक को निश्चित व्यवसाय के लिए तैयार करती है। यही व्यवसाय उसकी उदरपूर्ति का साधन बनता है। किसी व्यवसाय के शिक्षण की अवधि ५ वर्ष हो सकती है और कोई व्यवसाय दो वर्ष में भी पूरा हो सकता है। उत्तर-बुनियादी शिक्षा में छात्र को कितने वर्ष तक अध्ययन करना पड़ेगा यह इस पर निर्भर रहेगा कि उसने कैसा विषय चुना है। इस शिक्षा की अवधि एक छात्र से दूसरे छात्र के लिए विषयों के प्रकार के आधार पर समान न होकर भिन्न-भिन्न होगी।

उत्तर-बुनियादी शिक्षा में बौद्धिक विषय—उत्तर-बुनियादी शिक्षा में औद्योगिक शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए बौद्धिक विषयों का भी समावेश किया गया है। जिन बौद्धिक विषयों का यहाँ अध्यापन होता है वे निम्न प्रकार होंगे :—

(१) मातृभाषा, (२) गणित, (३) सामान्य विज्ञान, (४) समाज-शास्त्र, (५) ललित कलायें, (६) अर्थशास्त्र, (७) शिक्षा-शास्त्र, (८) गृह-विज्ञान, (९) यन्त्र-शास्त्र।

उत्तर-बुनियादी शिक्षा में स्वावलम्बन का महत्व—उत्तर-बुनियादी शालायें छात्र को स्वावलम्बी सामाजिक जीवन के लिए तैयार करती हैं। यहाँ का स्नातक, जीवन में अपनी उदरपूर्ति में स्वतन्त्र रूप से सफल होकर स्वावलम्बी बनेगा। वह स्कूल में पर्याप्त साधन, सुविधा और दक्ष शिक्षकों का पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर स्कूल को भी स्वावलम्बी बनायेगा। इसी दृष्टि से पूर्ण आर्थिक स्वावलम्बन इन शालाओं का उद्देश्य है। छात्र से यहाँ यह आशा की जाती है कि वह अपना भोजन, वस्त्र तथा शिक्षण-शुल्क अपने उद्योग की कमाई से पूरा करे। इस दिशा में बिहार अग्रगण्य है।

वहाँ पर ६६ प्रतिशत आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त किया गया है। अन्य प्रदेशों की प्रगति इस विषय में संतोषप्रद नहीं कही जा सकती।

स्वावलम्बन के मुख्य सिद्धान्त—सन् १९४१ में अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन ने स्वावलम्बन को क्रियान्वित करने की दृष्टि से जो सिद्धांत निश्चित किए वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) कौशलपूर्ण श्रम के द्वारा उत्पत्ति को ही आर्थिक आधार माना जाये और रकम को आर्थिक आधार नहीं समझा जाये।

(२) छात्र अपनी बुनियादी आवश्यकतायें जैसे भोजन, वस्त्र, आदि की स्वयं पूर्ति करे और सम्पूर्ण उत्तर-बुनियादी शिक्षा को एक इकाई मान कर स्वालम्बन का लेखा-जोखा तैयार किया जाये।

(३) सरकार का कर्त्तव्य है कि उत्तर-बुनियादी विद्यालयों को पर्याप्त भूमि एवं साधन दे जिससे छात्र एवं संस्था की शक्ति का उत्पादन के लिये अधिक से अधिक उपयोग हो सके।

(४) उद्योग कार्य का निष्पक्ष पारिश्रमिक दिया जावे जो कि कार्यदक्षता और श्रम पर आधारित हो। पारिश्रमिक छात्र की बुनियादी आवश्यकताओं जैसे भोजन, वस्त्र आदि की पूर्ति के रूप मे हो।

(५) उद्योग द्वारा प्राप्त लाभ पाठशाला की स्थाई सम्पत्ति के रूप में रहे जो शाला की उन्नति के लिए एवं विशेष परिस्थिति में ही खर्च किया जाये।

उत्तर-बुनियादी विद्यालय में प्रवेश—उत्तर-बुनियादी शालाओं में वही छात्र श्रेष्ठ रहते हैं जो बुनियादी शालाओं मे शिक्षा पाकर आते हैं। बुनियादी शालाओं की कमी के कारण परंपरीत शालाओं में शिक्षित छात्रों को भी उत्तर-बुनियादी शाला में प्रवेश देना पड़ता है। ऐसे छात्रो के लिये प्रारम्भ मे एक विशेष कक्षा लगनी चाहिये जिसमें बुनियादी शिक्षा शाला मे न पढ़ने के कारण जो कमी रह जाती है उसे पूरी की जा सके। तत्पश्चात् वे जिस कक्षा के योग्य हों उसमें उन्हें प्रवेश दिया जावे।

परीक्षा पद्धति एवं प्रमाण-पत्र—बिहार राज्य में प्रत्येक विद्यालय को अपना प्रमाण-पत्र प्रदान करने का अधिकार है। वैसे स्तर की समानता की दृष्टि से एक ऐसी केन्द्रीय संस्था अवश्य होनी चाहिये जो ऐसे विद्यालयों की परीक्षा का संचालन करे, परन्तु बुनियादी तालीम की पद्धति से विश्वविद्यालयों का संगठन जब तक नहीं हो जाता यह सम्भव नहीं है। विदेशों में भी स्कूल अपने पाठ्यक्रम चलाते हैं और अपने प्रमाण-पत्र देते हैं। इस दृष्टि से इस विषय में विद्यालयों की स्वतन्त्रा कोई अहितकारी फल लाते ऐसी आशा नहीं है।

परीक्षा की साधारण पद्धति के अनुसार बालक को परीक्षा के लिखित और व्यावहारिक दोनों अंगों में शामिल होना पड़ता है। सारे साल के कार्य को भी दृष्टि मे रखा जाता है। साल भर के काम का मूल्यांकन ठीक प्रकार हो सकने के लिये छात्र

की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक प्रगति का दैनिक ब्योरा रखने की भी व्यवस्था की जाती है।

शिक्षा का व्यय—उत्तर-बुनियादी विद्यालयों में शिक्षा एक दृष्टि से निःशुल्क है क्योंकि छात्रों को एवं माता-पिताओं को किसी भी प्रकार का कोई शुल्क प्रत्यक्ष रूप में जमा नहीं कराना पड़ता। फिर भी यह स्पष्ट है कि विद्यालय अप्रत्यक्ष रूप से छात्रों के पारिश्रमिक से शुल्क वसूल कर लिया करता है। इस प्रकार विद्यालय एक स्वावलम्बी इकाई की तरह अपना कार्य चलाता है। बिहार की उत्तर-बुनियादी शालाओं में प्रत्येक छात्र के श्रम की कमाई से ६) रु० प्रतिमास वसूल किया जाता है।

अपने पैरों पर खड़े होने वाले नागरिकों के जन्म—उत्तर-बुनियादी शिक्षा शिक्षित कारीगर तैयार करेगी, जो श्रम के प्रति श्रद्धा रखते हुए समाज-सेवा के प्रति अपने कर्त्तव्य की ओर सतर्क रहेंगे और अपने अधिकारों का सही उपभोग करेंगे। समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए उनका दृष्टिकोण व्यापक होगा। वे अपनी रोटी खुद कमावेंगे और अपने पैरों पर खड़े होंगे। आज की बुनियादी शालाओं के लिये अच्छे अध्यापकों के अभाव की पूर्ति भी पर्याप्त मात्रा में उत्तर-बुनियादी शालायें खुल जाने पर ही संभव होगी।

सारांश

बुनियादी शालाओं में छात्रों ने जो दृष्टिकोण पैदा किया है उसे कायम रखने के लिए उत्तर-बुनियादी शालायें परमावश्यक हैं।

उत्तर-बुनियादी शिक्षा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं :—

(क) उद्योग केन्द्रित शिक्षा।

(ख) समवाय पद्धति से चलने वाली शिक्षा।

(ग) पूर्ण रूपेण स्वावलम्बी शिक्षा।

केन्द्रीय उद्योग—इसको चुनते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह मानव की प्राथमिक आवश्यकता को पूर्ण करे, वह सारे वर्ष तक चलता रहने वाला हो, और बालक के भावी जीवन में वही प्रमुख व्यवसाय का रूप धारण करे।

नवीन उद्योगों का समावेश—बुनियादी उद्योगों के अतिरिक्त कुछ नवीन उद्योगों का उत्तर-बुनियादी शालाओं के पाठ्यक्रम में समावेश कर लिया गया है, जिससे उसके पाठ्यक्रम का बहुउद्देशीय विद्यालयों के पाठ्यक्रम से सामञ्जस्य हो सके। नवीन उद्योग निम्नलिखित हैं :—

चिकित्सा, इञ्जीनियरिंग, यन्त्र-शास्त्र, विद्युत-कला, मुद्रण-कला, धातु-विज्ञान आदि।

शिक्षा का तरीका—बुनियादी शिक्षा का तरीका ही उत्तर-बुनियादी शिक्षा के अन्तर्गत उपयोग में आवेगा। आर्थिक स्वावलम्बन को पूर्ण करने की दृष्टि से उद्योग पर यहाँ अधिक बल दिया जावेगा।

सांस्कृतिक कार्यक्रम का स्थान—इस अवस्था में भी बुनियादी शिक्षा के के अनुसार सांस्कृतिक कार्यक्रम अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

शिक्षा की अवधि—उद्योगों के प्रकार के अनुसार विभिन्न कक्षाओं में अध्ययन करने वाले छात्रों का शिक्षा-काल भिन्न-भिन्न होगा।

बौद्धिक विषयों का समावेश—यहाँ पर मातृभाषा, गणित, सामान्य विज्ञान, समाज-शास्त्र, ललित कलायें, अर्थ-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, गृह-विज्ञान व यन्त्र-शास्त्र के अध्यापन की सुविधा होगी।

स्वावलम्बन—यहाँ आर्थिक दृष्टि से विद्यालय को शत-प्रतिशत स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

स्वावलम्बन के सिद्धान्त—

(१) कौशलपूर्ण श्रम के द्वारा उत्पत्ति ही आर्थिक आधार माना जावे।

(२) छात्र अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की स्वयं पूर्ति करें।

(३) सरकार विद्यालयों को पूर्णरूप से स्वावलम्बी होने के लिए पर्याप्त सामग्री जुटावे।

(४) पारिश्रमिक छात्रों को बुनियादी आवश्यकताओं के रूप में दिया जावे।

(५) उद्योग द्वारा प्राप्त लाभ शाला की स्थायी सम्पत्ति बने और शाला की उन्नति के लिए विशेष परिस्थिति में ही खर्च हो।

प्रवेश—बुनियादी शालाओं के छात्रों को प्रवेश पाने का अधिकार है। शेष छात्र विद्यालय की विशेष कक्षा में निश्चित समय तक अध्ययन के पश्चात् उपयुक्त कक्षा में प्रवेश पा सकेंगे।

परीक्षा एवं प्रमाण-पत्र—लिखित और व्यावहारिक परीक्षा एवं सारे साल के कार्य के ब्यौरे पर परीक्षा-फल आधारित रहेगा। शिक्षण काल के अन्त में स्कूल ही प्रमाण-पत्र देने की व्यवस्था करेगा।

स्वावलम्बी नागरिकों का निर्माण—आर्थिक दृष्टि से यहाँ का स्नातक पूर्णरूपेण स्वावलम्बी हो सके ऐसा इन विद्यालयों का प्रयत्न है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) उत्तर-बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता क्यों है? उत्तर-बुनियादी शिक्षा की रूप-रेखा स्पष्ट कीजिये।

(२) उत्तर-बुनियादी शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये।

(३) उत्तर-बुनियादी शाला और आधुनिक बहुउद्देशीय विद्यालय की तुलनात्मक समालोचना कीजिए।

—:o:—

प्रौढ़ शिक्षा

हमारे देश में अनिवार्य शिक्षा का अभाव है। सम्पूर्ण संसार के अशिक्षितों का तिहाई भाग केवल भारत में है, जब कि संसार के देशों में जनसंख्या के हिसाब से भारत दूसरे नम्बर पर है। दासता की शृंखलाओं से मुक्ति मिलने के पश्चात् भारत-वासियों के सम्मुख दो विशाल समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। प्रथम है उत्पादन एवं आर्थिक स्तर की उन्नति, द्वितीय है भारतवासियों की शिक्षा का प्रबन्ध जिसमें विशेषतया प्रौढ़ों की शिक्षा द्वारा सांस्कृतिक स्तर ऊँचा करना। परन्तु वर्तमान अवस्था में लगभग ८५ प्रतिशत भारतीय हस्ताक्षर तक नहीं कर सकते। ऐसी दशा में विश्व की अथवा अपने राष्ट्र की समस्याओं को समझने की उनसे आशा रखना व्यर्थ-सा लगता है।

प्रौढ़ शिक्षा की महत्ता—प्रौढ़ शिक्षा की सभी दृष्टियों से महत्ता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या औद्योगिक, क्या सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से देश के लिए प्रौढ़ शिक्षा का अभाव राष्ट्र की प्रगति में बाधक है।

जहाँ राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रश्न है शैक्षणिक जागृति ही प्रजातन्त्रवाद की दृढ़ आधार शिला है। निरक्षर एवं अज्ञानी पर अधिकार जमाना सरल है पर साक्षर एवं ज्ञानी स्वतन्त्रता के लिए प्राण न्यौछावर करने तक को उद्यत हो जाता है। 'सा विद्या या विमुक्तये' के आधार पर महात्मा गांधी ने कहा था "शिक्षा ही स्वराज्य की कुंजी है।" इसमें बालकों की शिक्षा और प्रौढ़ों की शिक्षा दोनों ही समाविशत हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र की शिक्षा ही जनतन्त्रवाद का पक्ष सबल कर सकती है। उनमें किसी भी प्रकार का अभाव जनतन्त्रवाद के लिए घातक सिद्ध होता है। पर आज तो शिक्षा के अभाव में देश की यह स्थिति है कि देशवासी जनतन्त्र का सही अर्थ भी नहीं जानते। मतदान के अधिकार एवं उसके मूल्यों को लोग नहीं समझते। इसका मूल कारण शिक्षा का अभाव है।

जहाँ सामाजिक दृष्टिकोण का प्रश्न है वहाँ भी प्रौढ़ शिक्षा की महत्ता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। शिक्षा के अभाव के कारण प्रौढ़ों में सहयोग की भावना नहीं है। अशिक्षित जनता में सदाचार एवं आध्यात्मिकता का अभाव होता है। यही नहीं अशिक्षित जनता अज्ञानता एवं अन्ध विश्वासों का शिकार बनी हुई होती है। जिसके कारण बहुसंख्यक लोगों को आपत्तियों के आवर्त में फँसा रहना पड़ता है।

जहाँ आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टिकोण का प्रश्न है वहाँ भी अशिक्षित जनता इनकी समस्याओं की भरमार होती है। न तो वे उपयुक्त उद्योगों एवं व्यवसायों को

ही अपना सकते हैं और न ही उसमें सुधार ला सकते हैं। यहाँ तक कि दूसरे शिक्षित एवं जागृत देशों द्वारा आविष्कृत आधुनिकतम साधनों का प्रयोग भी वे नहीं कर पाते। यह सब उनकी अशिक्षा के कारण है।

जहाँ सांस्कृतिक दृष्टिकोण का प्रश्न है वहाँ अशिक्षित लोगों की संस्कृति विकासोन्मुख नहीं होती। वे रूढ़िवादी संस्कृति की परम्परा में घुले-मिले रहते हैं जो आगे जाकर अन्धविश्वास का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार सांस्कृतिक प्रगति का भी उसमें अभाव होता है।

प्रौढ़ शिक्षा का अभाव एक महान् शत्रु—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रौढ़ शिक्षा के अभाव में राष्ट्र कदापि प्रगति नहीं कर सकता। मैसूर विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर ने तो एक बार कहा था कि "प्रौढ़ शिक्षा का अभाव समाज का प्रथम शत्रु है जिससे लड़ने को सम्पूर्ण राष्ट्रवासियों की सेना को ही तैयारी करनी होगी।" बम्बई प्रदेश के प्रधान ने कहा था कि सम्पूर्ण संसार के देशों की प्रगति की दौड़ में देशवासियों का शिक्षित होना ही विजयी बना सकता है।" बिहार के शिक्षा मन्त्री महोदय ने कहा था कि "हमारे अज्ञानी एवं निरक्षर कृषक शिक्षा के बल पर ही आर्थिक एवं सामाजिक तथा आत्मिक मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।"

महात्मा गांधी ने पूना के हिन्दी तालीमी संघ की प्रौढ़ शिक्षा समिति द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में एक बार कहा था "प्रश्न पूछे जाने के पूर्व ही से मैं विचार कर रहा हूँ। अभी हाल सेन्ट्रल प्रोविन्सेज में हैजे का प्रकोप हुआ है। मैंने डाक्टर सुशीला नैयर को सेवाग्राम में उसके प्रतिरोध के लिए भेजा है। मैंने चाहा है कि विद्यार्थियों और अन्य संस्थाओं के कार्यकर्त्ताओं को इसमें भाग लेना चाहिये और जब मैं इस बात पर इस दृष्टि से विचार करता हूँ तो मुझे यह बात प्रौढ़ शिक्षा से सम्बन्धित प्रतीत होती है। यही प्रौढ़ शिक्षा है, यही जीवन की शिक्षा है न कि केवल पढ़ना जान लेना मात्र। लन्दन में एक बार प्लेग का प्रकोप हुआ पर इस प्लेग के साथ ही जन जागृति की आग इस तीव्रता से जली कि तब से अब तक प्लेग वापस नहीं आया। पर हमारे यहाँ जब हैजे का प्रकोप होता है तब हम उसे दैव प्रकोप मानते हैं। इन अन्धविश्वासों का निवारण प्रौढ़ शिक्षा का कार्य है।"

महात्मा गांधी के इस कथन से स्पष्ट है कि प्रौढ़ शिक्षा के अभाव के कारण ही समाज एक ही प्रकार की व्याधि अथवा आपत्ति में बार-बार फँसता जाता है, पर उससे मुक्ति का उपाय नहीं खोज पाता। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा के अभाव में हमारे राष्ट्रवासी कितना ही श्रम व्यर्थ गंवाते हैं, धन व्यर्थ खोते हैं, समय व्यर्थ बिताते हैं, और यों कहना चाहिये सम्पूर्ण जीवन ही व्यर्थ व्यतीत करते हैं।

प्रौढ़ शिक्षा के उद्देश्य—उपरोक्त विवेचन से यद्यपि यह स्पष्ट ही है कि प्रौढ़ शिक्षा के क्या उद्देश्य हो सकते हैं। तथापि पुनः समष्टि रूप से दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। प्रौढ़ शिक्षा के उद्देश्य अग्रलिखित होने चाहिएँ :—

"प्रौढ़ शिक्षा स्वतन्त्र समाज के स्वतन्त्र व्यक्तियों के लिये होनी चाहिये। इसका अर्थ केवल अक्षर-ज्ञान नहीं है। हमें निरक्षरता (अज्ञानता) को नष्ट-प्राय करना होगा। लोगों के जीवन-स्तर को, उनके रीति-रिवाज तथा परिवारिक जीवन में सुधार करके ऊपर उठाना होगा। उसके आर्थिक स्तर को प्राचीन दस्तकारी व घरेलू उद्योगों में नये प्रयोगों के समावेश द्वारा ऊपर उठाना होगा। प्रौढ़ शिक्षा द्वारा ही नागरिक उत्तरदायित्व तथा सामूहिक जीवन की भावना को लोगों में भरना होगा।"

इससे स्पष्ट है कि प्रौढ़ शिक्षा का कार्य न केवल उनकी अपढ़ता को दूर करना है वरन् उनकी अज्ञानता को भी दूर करना होना चाहिए। एक विद्वान ने कहा है :—

"प्रौढ़ शिक्षा से हमारा तात्पर्य था निरक्षर अथवा अशिक्षित प्रौढ़ों को साक्षरता द्वारा सामाजिक चेतना में सक्रिय भाग लेने की और इस प्रकार से प्रेरित करना कि वे अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों एवं समस्याओं को समझ सकें और उनके प्रति अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व को पूर्ण कर सकें।"

प्रौढ़ शिक्षा द्वारा उत्पन्न योग्यतायें—प्रौढ़ शिक्षा अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ जीवन-ज्ञान देने वाली होनी चाहिये। इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य प्रौढ़ों में निम्नलिखित योग्यतायें उत्पन्न करना होना चाहिये :—

(१) **भाषा की योग्यता**—सामाजिक जीवन के लिये लिखने-पढ़ने की आवश्यक योग्यता उत्पन्न करना। अक्षर-ज्ञान, पत्रादि लिखने का ज्ञान, अपने भावों को उचित भाषा में प्रकट कर सकने का ज्ञान, आदि।

(२) **नागरिकता की योग्यता**—गांव या नगर के कर्मचारियों से सम्बन्ध, उनसे व्यवहार, परस्पर सद्भाव, सहयोग, सेवा, सड़क व रेल, मोटर तथा डाक के साधारण नियमों को जानने की योग्यता आदि।

(३) **स्वास्थ्य की योग्यता**—अपने शरीर, घर, पास-पड़ौस को स्वच्छ रखना, आकस्मिक चोट लगने, बीमार होने पर तात्कालिक प्रथम सहायता देना, नशीली वस्तुओं के प्रयोग से हानियाँ आदि का ज्ञान।

(४) **व्यवसायिक योग्यता**—अपने गाँव या नगर में उत्पन्न या तैयार की जाने वाली वस्तुओं का ज्ञान, उनके क्रय और विक्रय का ज्ञान व विधि, अपने व्यवसाय की विधि का ज्ञान, हिसाब-किताब रखने तथा आमदनी और व्यय में संतुलन का ज्ञान आदि।

(५) **देशभक्ति की योग्यता**—जनतन्त्र का मूल्य समझना, मतदान का अधिकार, राष्ट्र के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा, राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का ज्ञान आदि।

(६) **सामाजिक योग्यता**—समाज की कुरीतियों का ज्ञान, उन्हें दूर करने के उपाय, अन्ध-विश्वासों से मुक्ति आदि।

प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य इन छः प्रकार की योग्यता प्रौढ़ों में उत्पन्न करना होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयत्न करने पर ही प्रौढ़ों की शिक्षा वास्तविक कही जा सकेगी अन्यथा इन योग्यताओं को उत्पन्न न कर सकने वाली प्रौढ़ शिक्षा केवल ढकोसला मात्र होगी।

प्रौढ़ शिक्षा की प्रगति

(अ) प्राचीन काल—मानव का विकास और शिक्षा का सम्बन्ध घनिष्ट है। प्राचीन काल में प्रत्येक बात का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से था। जिसका उद्देश्य यही था कि व्यक्ति समाज और परमात्मा के भय से अनैतिक व्यवहार न सीखे। अतः प्रौढ़ शिक्षा का आधार भी धर्म बन गया था। इसी आधार पर ब्राह्मण धर्म, क्षत्रिय धर्म, राजनीति धर्म, शूद्र धर्म आदि का अस्तित्व था। त्रेता युग में लक्ष्मण ने राज-धर्म महान् राजनीतिज्ञ रावण से सीखा था।

एक दूसरी प्रणाली भी प्रचलित थी। प्रौढ़ों को शिक्षा देने के लिए धार्मिक कथाओं के आयोजन होते थे। संगीत, नृत्य मण्डलियाँ, रासलीला, कृष्णलीला, नाटक आदि सब प्रौढ़ों को शिक्षित करने के उपकरण रहते आये हैं।

उस समय पुस्तकों के मुद्रण की सुविधा के अभाव में ग्रंथ मौलिक हुआ करते थे तथा प्रौढ़ों का शिक्षण सामाजिक रीतियों के रूप में चलता था। परन्तु शनैः शनैः यह शिक्षण लुप्त होता गया और प्रौढ़ अशिक्षित रहने लगे। विदेशी राज्यों के भारत पर आधिपत्य जमने से ही भारत में शिक्षा की अवहेलना होने लगी।

(आ) अर्वाचीन काल—इस समय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व, (२) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्।

(१) **स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व**—विदेशों के राज्यकाल में इस समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया गया। सन् १८९४ में ट्रावनकोर और बड़ौदा राज्यों ने प्रयत्न किये। गाँवों में पुस्तकालय, वाचनालय खोले पर उनसे केवल पढ़े-लिखे लोग ही लाभ उठा सके।

शनैः शनैः अन्य प्रदेशों में भी इस ओर ध्यान दिया गया। मद्रास में महाशय हैनिसन ने प्रौढ़ शिक्षा के लिये एक पाठ्य पुस्तक बनाई। पूना में महाशय भागवत ने अपने प्रयोग प्रारम्भ किये। पंजाब में सन् १९२१ में 'नाइटस्कूल कैम्पेन' प्रारम्भ कर अध्यापकों के अवकाश का उपयोग किया गया। महाशय मुखर्जी ने भी पाठ्य पुस्तकें बनाईं। सन् १९३८ में उत्तरदायी सरकार की स्थापना होने पर प्रौढ़ शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया गया। मोगा में "प्रौढ़ शिक्षा सम्मेलन" बुलाया गया जिसमें डा० लाबक ने लिटिरेसी के प्रयोगित प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली के आधार पर कार्य करने का सुझाव दिया। अंग्रेजों ने ब्रिटेन से टी० एच० विलियम्स को भारत की प्रौढ़ शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन करने हेतु भेजा। इस महाशय ने दिल्ली में "प्रौढ़ शिक्षा समिति" स्थापना की। सन् १९३८ में "अखिल भारतीय प्रौढ़ शिक्षा सम्मेलन" दिल्ली में बुलाया गया जिसमें राज्यों ने यह कार्य करना प्रारम्भ किया। पंजाब, उत्तर प्रदेश,

आसाम, उड़ीसा, बम्बई, बिहार, बंगाल सर्वत्र प्रौढ़ शिक्षा विभाग आरम्भ हुए जिसमें रात्रि-पाठशालायें, पुस्तकालय, शिक्षा-केन्द्र, वाचनालय, सचल पुस्तकालय आदि खुले। कई सार्वजनिक संस्थाओं ने भी इस ओर कार्य प्रारम्भ किये।

(२) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्—स्वतन्त्रता प्राप्ति से ही प्रौढ़ शिक्षा का कार्य अधिक तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। सन् १९४६ में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' का पन्द्रहवाँ अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। इसमें अबुल कलाम आजाद ने प्रौढ़ शिक्षा के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया। उन्होंने कहा कि प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य केवल वयस्कों को शिक्षित करने तक ही सीमित नहीं होना चाहिए वरन् उसमें ऐसी शिक्षा भी सम्मिलित होनी चाहिए, जो प्रौढ़ को लोकतान्त्रिक समाज-व्यवस्था का उपयोगी सदस्य बना सके। तभी से इसे 'समाज-शिक्षा' के नाम से सम्बोधित किया जाता है, जिसका अर्थ ऐसी शिक्षा से है—जो जीवन की शिक्षा है। स्वतन्त्र भारत में इस समाज-शिक्षा-प्रसार के लिये समय-समय पर कई आन्दोलन चले। 'एक-एक को पढ़ायें' आन्दोलन ने जोर पकड़ा। उत्तर प्रदेश में एक नियम बना "एक-एक को पढ़ाये अथवा कम से कम दो रुपये दे।" यहाँ इस नियम के फल-स्वरूप समाज-शिक्षा का अधिक प्रसार हुआ।

देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति से ही सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत प्रौढ़ शिक्षा के सफल प्रयोग किये गये, रेडियो, ग्रामोफोन, लाउड स्पीकर, चल चित्र का प्रयोग अधिक सफल हुआ। सन् १९५१ तक प्रौढ़ शिक्षालयों की संख्या २२०० थी। शिक्षित प्रौढ़ों की संख्या १३॥ लाख हो गई थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में ७.५ करोड़ रुपये समाज-शिक्षा-प्रसार के लिये रखे गये। ग्राम पंचायतों, सहकारी समितियों तथा समाज शिक्षा अधिकारियों द्वारा समाज-शिक्षा-प्रसार के सफल प्रयास किये गये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समाज शिक्षा पर ५ करोड़ रुपये तथा सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत १० करोड़ रुपये खर्च करने की योजना रखी गई। तीसरी योजना में यह रकम बढ़ाकर कुल २५ करोड़ कर दी गई। राज्य सरकारों ने समाज-शिक्षा के कार्य-कर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की। नव साक्षरों के लिए साहित्य-रचना के लिये पारितोषिक प्रदान करने की परिपाटी चलाई। दृश्य-श्रव्य उपकरणों के उपयोग से समाज को शिक्षित करने के प्रयोग सफलतापूर्वक किये गये। चल पुस्तकालय, चल चित्र, भजन-संगीत, नाटक-गोष्ठियाँ, आकाश वाणी के सूचना एवं प्रसार केन्द्रों पर ग्रामीणों के लिये अलग से कार्यक्रम, जनता कालेजों की स्थापना, रात्रि पाठशालायें आदि के रूप में समाज-शिक्षा-प्रसार के आन्दोलन को बल मिला। दिल्ली में 'राष्ट्रीय मूलभूत शिक्षा-केन्द्र' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य समाज-शिक्षा की समस्याओं पर विचार करना तथा अनुसंधान कार्य करना है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें समाज-शिक्षा-प्रसार में पूर्णतया तल्लीन हैं।

प्रौढ़ शिक्षा की प्रणालियाँ—प्रौढ़ शिक्षा दो प्रकार से दी जा सकती है—

(१) कक्षा प्रणाली ।

(२) प्रचार प्रणाली ।

(१) कक्षा प्रणाली—प्रौढ़ शिक्षा और बालकों की शिक्षा में भिन्नता है। प्रौढ़ों की मानसिक, बौद्धिक तथा भावात्मक विकास निश्चित मार्ग अपना चुका है। उनका वातावरण का ज्ञान बहुत कुछ बढ़ चुका होता है। व्यवसाय के कारण समय की समस्या भी है। अतः उनकी शिक्षा कम से कम समय में होनी चाहिये। साथ ही आर्थिक समस्या भी विद्यमान है ही।

इन सभी दृष्टियों से भिन्न-भिन्न विद्वानों ने प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए अनेक प्रणालियों का आविष्कार किया है।

(क) देखो और कहो पद्धति—श्री भागवत ने अक्षरों और चीजों का सामंजस्य मिलाते हुए एक प्रणाली का प्रयोग किया—जैसे अंग्रेजी का O (ओ) बोलते समय इसी की शक्ल के अनुसार मुख की आकृति बनाना, हिन्दी के 'म' का आकार चूल्हे जैसा होना, 'र' का रस्सी जैसा आदि। यह सब अंग्रेजी के 'देखो और कहो' (Look and say) सीरीज के आधार पर था।

(ख) कहानी पद्धति—प्रत्येक कहानी से कुछ आवश्यक शब्दों को सिखाना जिससे पुनः कहानी बन जाय।

(ग) शब्द पद्धति—एक तस्वीर के नीचे उसी का नाम और तत्पश्चात् उसी के अक्षरों को इधर-उधर जोड़ने से वाक्य निर्माण करना। जैसे एक बाजे की तस्वीर के नीचे लिखा है, 'बाजा' अब इसी के आधार पर बाजा बजा, बाबा बाजा बजा, जा बाजा बजा, जा बाबा बाजा बजा। इसी प्रकार 'राजा' की तस्वीर के नीचे लिखे राजा के साथ बाजा के वाक्य जोड़कर सिखाये जा सकते हैं।

(घ) अक्षर साम्य पद्धति—श्रीमती देवारथम् ने तामिल भाषा के एक-सी आकृति के अक्षरों को साथ-साथ सिखाना प्रारम्भ किया। जैसे भ, म, भ, व, ब, आदि। यह वही प्राचीन वर्णमाला पद्धति है केवल अक्षरों के स्थान का अन्तर है।

(ङ) अक्षर विभाजन पद्धति—बंगाली भाषा में इसका प्रयोग किया गया। पहले अक्षरों का टुकड़ों में विभाजन कर उनके संकेत सिखाये गये। फिर अलग-अलग टुकड़ों को जोड़ कर अक्षर बनाया गया। इसमें पहले लिखना सिखाया गया फिर बोलना।

(च) आकार पद्धति—अक्षरों को वृत्ताकार में बनाना फिर उस तस्वीर को बनाना जिसमें उसका प्रयोग करें और तब उनको शब्दों के रूप में बनाना।

(छ) दस दिन का भाषा शिक्षण क्रम—अक्षरों का १० वर्गों में विभाजन [illegible] पाठ तथा दूसरे पाठ की आवृत्ति से १० दिन में भाषा सीखी जा [illegible]। इसके बाद अक्षर, शब्द, वाक्य दुहराकर सिखाए जाएँ। [illegible]

(२) प्रचार प्रणाली—विकास योजनायें कक्षा-प्रणाली के साथ प्रचार द्वारा प्रौढ़ शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करती है। उनके साधन ये हैं :—

(क) ग्राम गीत—कजरी, आल्हा, होली आदि।

(ख) ग्राम नृत्य।

(ग) भजन मंडल।

(घ) सामाजिक उत्सवों का आयोजन।

(ङ) नाटक, रामलीला, कृष्णलीला।

(च) रेडियो, ग्रामोफोन आदि के कार्यक्रम।

(छ) भाषण, कथायें, दन्त कथायें आदि।

(ज) धार्मिक कथायें।

(झ) उद्योग मे सहयोग, एवं घरेलू कार्यों मे सम्मतियाँ।

(ञ) प्रदर्शनी, सिनेमा आदि द्वारा।

बुनियादी तालीम द्वारा प्रौढ़ शिक्षा—प्रौढ़ शिक्षा पर कई प्रयोग हुए हैं और होते जा रहे हैं। पर कई प्रयोगकर्त्ताओं को इस सम्बन्ध में निराशा-सी उत्पन्न होती दिखाई दी। कारण यह था कि उनकी प्रौढ़ शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करती रही। वस्तुतः शिक्षा, चाहे बालकों की हो अथवा प्रौढ़ों की, बिना रचनात्मक कार्य से सम्बन्ध जोड़े भार-स्वरूप प्रतीत होती है। यह समस्या निरवेल्ला ईनाल्लुर की गांधी मिशन सोसायटी को अपने प्रौढ़ साक्षरता-कार्य के समय उपस्थित दिखाई दी। उन्होंने अपनी एक रिपोर्ट मे गांधी जी के सम्मुख एक प्रश्न रखा था कि "प्रथम सत्र में जिन सदस्यों ने कक्षा में भाग लिया उनमे से लगभग आधों ने कार्यकर्त्ता से कहा कि वह इन पाठों को दुबारा पढ़ावें। सच तो यह है कि वे लोग फिर निरक्षर बन गए हैं। इस बात को कैसे रोका जा सकता है ?"

महात्मा गांधी ने इसका उत्तर इस प्रकार लिखकर भेजा था—"जब पढ़ाई थोड़े दिन होती है तो उसके बाद भूल जाना स्वाभाविक है। इसे इसी तरह रोका जा सकता है कि पढ़ाई को ग्रामीणों की रोजमर्रा की जरूरतों के साथ सम्बद्ध किया जाय। लिखने-पढ़ने और अंकगणित का शुष्क ज्ञान देहातियों के जीवन का स्थाई अंग न अभी है और न कभी हो सकता है। उन्हें ऐसा ज्ञान दिया जाय जिसका उन्हें रोज उपयोग करना पड़े। वह उन पर थोपा नहीं जाना चाहिए। उसकी उन्हें भूख होनी चाहिए। ग्रामवासियों को गांव का गणित, गांव का भूगोल, गांव का इतिहास, गांव के उद्योगों से सम्बन्धित बातों का ज्ञान और साहित्य या वह ज्ञान सिखाइए जिसे उन्हें रोज काम में लेना पड़े अर्थात् चिट्ठी-पत्री लिखना और पढ़ना बताइए। गांव के लोग कोई न कोई धंधा करते हैं। उनका पढ़ना-लिखना उनके धंधे से सम्बन्धित उपयोगी ज्ञान के प्रचार के साथ-साथ चलना चाहिए।"

इस कथन से यह स्पष्ट है कि बुनियादी तालीम की पद्धति न केवल बालकों तक ही सीमित है वरन् वह प्रौढ़ शिक्षा के लिए भी उतनी ही सक्षम है। जैसे पूर्व-

बुनियादी शिक्षा के भी दो अंग हैं। प्रथम माता-पिता की शिक्षा जो बालक का गर्भावस्था से ही लालन-पालन सिखाती है और द्वितीय शिशु की शिक्षा अर्थात् शिशु की इन्द्रियों का सम्यक विकास। इस तरह माता-पिता बालक के लालन-पालन की शिक्षा प्राप्त करते हैं। पूर्व-बुनियादी शिक्षा एक अर्थ में प्रौढ़ शिक्षा का ही एक अंग है।

विदेशों में भी प्रौढ़ शिक्षा में प्रौढ़ों के व्यवसाय द्वारा ही शिक्षा दी जाने की प्रणाली विद्यमान है। वे इस प्रणाली मे बड़े सफल हुए हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अफ्रीका के अंधेरे महाद्वीप को शिक्षा द्वारा प्रकाशित करने का प्रयत्न किया। वहाँ के लोगों को खेती, पशुपालन आदि की व्यावहारिक शिक्षा ही प्रदान की गई। वहाँ के समाज शिक्षण कार्यकर्त्ता बच्चों का पालन-पोषण व घरेलू धन्धों, सफाई, स्वच्छता व स्वास्थ्य के ज्ञान के साथ साक्षरता का कार्य करते थे।

ऐसा ही प्रयोग चीन देश में भी किया गया था। वहाँ के केन्द्रों पर साक्षरता के साथ उत्तम खेती के प्रदर्शन, बीज, औजार तथा पशुओं की नस्ल सुधारने की व्यवस्था, सहकारी समितियाँ, स्वास्थ्य केन्द्रों की व्यवस्था आदि का ज्ञान भी कराया जा रहा है। फिलिपाइन देश में भी इसी प्रकार की प्रणाली का अनुसरण किया गया।

कहना होगा कि इन प्रणालियों में हमारी बुनियादी शिक्षा-प्रणाली के तत्व विद्यमान हैं। बुनियादी शिक्षा धंधे के प्रति ज्ञान, स्वच्छता व सफाई के प्रति ज्ञान, स्वास्थ्य एवं रोग निवारण के प्रति ज्ञान, गाव के वातावरण के प्रति ज्ञान को प्रमुखता देकर इन्हीं के आधार पर लिखना-पढ़ना सिखाती है। सेवाग्राम में प्रौढ़-शिक्षा के लिए बनाए गए तीन वर्ष के पाठ्यक्रम की विशेषता बुनियादी शिक्षा के मूल सिद्धान्तों का प्रौढ़ शिक्षा का आधार स्पष्ट करती है।

पाठ्यक्रम की विशेषतायें—

(१) कक्षायें मध्याह्न अथवा रात्रि में लगाई जानी चाहिएँ, जबकि प्रौढ़ काम मुक्त हों।

(२) प्रत्येक कक्षा एक से डेढ़ घण्टे तक लगनी चाहिए।

(३) प्रथम वर्ष में कार्य अधिकांश मौखिक होना चाहिए, साथ में थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना भी होना चाहिए।

(४) द्वितीय वर्ष में भी इसी प्रकार का पाठ्यक्रम होना चाहिए, पर इसमें एक या दो कैम्प होना आवश्यक है।

(५) तृतीय वर्ष में क्रियात्मक कार्य और अभ्यास कार्य अधिक होने चाहिएँ।

(६) तीन वर्षों में से प्रत्येक वर्ष के पाठ्यक्रम को निम्नलिखित भागों में :—

के साथ पढ़ना।

(ख) अक्षर ज्ञान और गणित।
(ग) स्वास्थ्य।
(घ) कौटुम्बिक व्यवस्था।
(ङ) गाँव का ज्ञान।
(च) गाँव की अर्थ-व्यवस्था।
(छ) नागरिकता।
(ज) सांस्कृतिक कार्य।

इस प्रकार इन्हीं शीर्षकों में प्रत्येक वर्ष का कार्य विभाजित था और वह प्रतिवर्ष उत्तरोत्तर उसी शाखा में अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करता। इस प्रकार इससे स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण प्रौढ़-शिक्षा व्यवस्था का केन्द्र, प्रौढ़ का व्यवसाय तथा वातावरण है न कि पुस्तकीय ज्ञान। इस प्रकार प्रौढ-शिक्षा में भी बुनियादी शिक्षा-पद्धति अत्यन्त सफल सिद्ध हो सकती है।

एक दृष्टि से बालकों की बुनियादी-शिक्षा भी प्रौढ़ों की बुनियादी-शिक्षा की समस्या को किंचित-मात्र हल अवश्य करती है। महात्मा गांधी ने कहा था—"यदि प्रौढ़ अर्थात् बालकों के पालक मदरसे न आवें तो बुनियादी शिक्षा ही मदरसे को उनके पास ले जाने का साधन है।" इन्हीं शब्दों में पालक और बालक का सम्बन्ध व्यक्त किया है। बालक में बुनियादी-शिक्षा द्वारा जिन अच्छी आदतों का निर्माण होगा, अपने व्यवसाय सम्बन्धी जिन नई बातों को सीखेगा, सफाई और स्वच्छता की जिन आदतों का अपने में निर्माण करेगा—त्यौहारों और उत्सवों को मनाने के जिन तरीकों को वह सीखेगा—शाला में जिस अनुशासन को सीखेगा क्या उन सब का प्रभाव उसके माता-पिताओं पर न पड़ेगा? क्या इससे समाज के प्रौढ़ व्यक्ति शिक्षा ग्रहण न करेंगे? अतः बालकों की बुनियादी शिक्षा-प्रणाली अदृश्य रूप से प्रौढ़ों को भी शिक्षित करती है।

अतः बुनियादी शिक्षा का प्रयोग प्रौढ़ों को शिक्षित करने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में किया जा सकता है। यहाँ एक शिक्षा विशेषज्ञ का मत व्यक्त कर देना अनुपयुक्त न होगा। उन्होंने लिखा है—"प्रौढ़ों की शिक्षा में उनके व्यवसाय सम्बन्धी ज्ञान जैसे खेती विद्या, फल विद्या, रेशम विद्या, गौ विद्या, मुर्गी विद्या, मधु विद्या, मछली विद्या, खद्दर विद्या, कुम्हार विद्या, आदि तथा अन्य ज्ञान जैसे स्वच्छता, मार्ग, गृह विद्या, अर्थशास्त्र और समाज-शास्त्र की साधारण बातें, ग्राम-रचना, व्यापार, सर्राफा, साहूकारी विद्या आदि सिखाने की व्यवस्था होनी चाहिये।" इस प्रकार प्रौढ़ों की शिक्षा भी बुनियादी-शिक्षा पद्धति पर देने में अप्रत्याशित फल प्राप्त होंगे।

सारांश

प्रौढ़ शिक्षा की महत्ता—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से प्रौढ़ शिक्षा का अभाव राष्ट्र की प्रगति में अत्यन्त बाधक है।

बुनियादी शिक्षा के भी दो अंग हैं। प्रथम माता-पिता की शिक्षा जो बालक का गर्भावस्था से ही लालन-पालन सिखाती है और द्वितीय शिशु की शिक्षा अर्थात् शिशु की इन्द्रियों का सम्यक विकास। इस तरह माता-पिता बालक के लालन-पालन की शिक्षा प्राप्त करते हैं। पूर्व-बुनियादी शिक्षा एक अर्थ में प्रौढ़ शिक्षा का ही एक अंग है।

विदेशों में भी प्रौढ़ शिक्षा में प्रौढ़ों के व्यवसाय द्वारा ही शिक्षा दी जाने की प्रणाली विद्यमान है। वे इस प्रणाली में बड़े सफल हुए हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अफ्रीका के अंधेरे महाद्वीप को शिक्षा द्वारा प्रकाशित करने का प्रयत्न किया। वहाँ के लोगों को खेती, पशुपालन आदि की व्यावहारिक शिक्षा ही प्रदान की गई। वहाँ के समाज शिक्षण कार्यकर्ता बच्चों का पालन-पोषण व घरेलू धन्धों, सफाई, स्वच्छता व स्वास्थ्य के ज्ञान के साथ साक्षरता का कार्य करते थे।

ऐसा ही प्रयोग चीन देश में भी किया गया था। वहाँ के केन्द्रों पर साक्षरता के साथ उत्तम खेती के प्रदर्शन, बीज, औजार तथा पशुओं की नस्ल सुधारने की व्यवस्था, सहकारी समितियाँ, स्वास्थ्य केन्द्रों की व्यवस्था आदि का ज्ञान भी कराया जा रहा है। फिलिपाइन देश में भी इसी प्रकार की प्रणाली का अनुसरण किया गया।

कहना होगा कि इन प्रणालियों में हमारी बुनियादी शिक्षा-प्रणाली के तत्व विद्यमान हैं। बुनियादी शिक्षा धंधे के प्रति ज्ञान, स्वच्छता व सफाई के प्रति ज्ञान, स्वास्थ्य एवं रोग निवारण के प्रति ज्ञान, गाँव के वातावरण के प्रति ज्ञान को प्रमुखता देकर इन्हीं के आधार पर लिखना-पढ़ना सिखाती है। सेवाग्राम में प्रौढ़-शिक्षा के लिए बनाए गए तीन वर्ष के पाठ्यक्रम की विशेषता बुनियादी शिक्षा के मूल सिद्धान्तों को प्रौढ़ शिक्षा का आधार स्पष्ट करती है।

पाठ्यक्रम की विशेषतायें—

(१) कक्षायें मध्याह्न अथवा रात्रि में लगाई जानी चाहिएँ, जबकि प्रौढ़ काम से मुक्त हों।

(२) प्रत्येक कक्षा एक से डेढ़ घण्टे तक लगनी चाहिए।

(३) प्रथम वर्ष में कार्य अधिकांश मौखिक होना चाहिए, साथ में थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना भी होना चाहिए।

(४) द्वितीय वर्ष में भी इसी प्रकार का पाठ्यक्रम होना चाहिए, पर इसमें एक या दो कैम्प होना आवश्यक है।

(५) तृतीय वर्ष में क्रियात्मक कार्य और अभ्यास कार्य अधिक होने चाहिएँ।

(६) तीन वर्षों में से प्रत्येक वर्ष के पाठ्यक्रम को निम्नलिखित भागों में बाँटा गया था :—

(क) उच्चारण के साथ पढ़ना।

प्रौढ़ शिक्षा का अभाव एक महान् शत्रु—प्रौढ़-शिक्षा का अभाव समाज का सर्वप्रथम सबल शत्रु है।

प्रौढ़ शिक्षा के उद्देश्य—पढ़ने का अवसर न प्राप्त हो सकने वालों को अवसर प्रदान करना, जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालना, संपूर्ण जीवन की शिक्षा, जीवन-स्तर ऊँचा उठाना, धंधे के अनुकूल शिक्षा देना।

प्रौढ़-शिक्षा का स्वरूप—साक्षरता के साथ-साथ जीवनोपयोगी ज्ञान तथा व्यवसाय का ज्ञान प्रदान करना ही प्रौढ़-शिक्षा है।

प्रौढ़-शिक्षा द्वारा उत्पन्न योग्यतायें—प्रौढ़-शिक्षा को प्रौढ़ों में निम्नलिखित योग्यतायें उत्पन्न करनी चाहियें—(१) भाषा की योग्यता, (२) नागरिकता की योग्यता, (३) स्वास्थ्य की योग्यता, (४) व्यावसायिक योग्यता, (५) देश-भक्ति की योग्यता, (६) सामाजिक योग्यता।

प्रौढ़-शिक्षा की प्रगति—(अ) प्राचीन काल—प्रौढ़-शिक्षा धर्म से सम्बन्धित थी। (आ) अर्वाचीन काल—(१) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व यद्यपि प्रौढ़-शिक्षा का कार्य राष्ट्र में प्रारम्भ हो चुका था तथापि कार्य तीव्रता से न चल सका। (२) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कई प्रदेशों और भारत सरकार ने विकास योजनाओं और ग्राम केन्द्रों द्वारा प्रौढ़-शिक्षा की गति को बल दिया।

प्रौढ़-शिक्षा की प्रणालियाँ—प्रौढ़-शिक्षा दो प्रकार से दी जा सकती है—(१) कक्षा-प्रणाली। (२) प्रचार-प्रणाली।

(१) कक्षा-प्रणाली में कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं—(क) देखो और कहो पद्धति, (ख) कहानी पद्धति, (ग) शब्द पद्धति, (घ) अक्षर साम्य पद्धति, (ङ) अक्षर विभाजन पद्धति, (च) आकार पद्धति, (छ) दस दिन का भाषा-शिक्षण क्रम।

(२) प्रचार-प्रणाली—इसके साधन निम्न हैं—(क) ग्राम-गीत, (ख) ग्राम-नृत्य, (ग) भजन मण्डल, (घ) सामाजिक उत्सवों का आयोजन, (ङ) नाटक, रामलीला, कृष्णलीला, (च) रेडियो, ग्रामोफोन आदि के कार्यक्रम, (छ) भाषण, कथायें आदि, (ज) धार्मिक कथायें, (झ) उद्योगों व गृह-कार्यों में सम्मति, (ञ) प्रदर्शनी, सिनेमा आदि।

बुनियादी तालीम द्वारा प्रौढ़-शिक्षा—प्रौढ़-शिक्षा में बुनियादी तालीम शिक्षण-पद्धति का प्रयोग करने पर सफलता नहीं मिलती। बुनियादी शिक्षा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रौढ़-शिक्षा का कार्य करने में पूर्णतः सफल है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) प्रौढ़-शिक्षा की आवश्यकता क्यों है? भारत में प्रौढ़-शिक्षा की रूप-रेखा स्पष्ट कीजिए।

(२) हमारे देश में प्रौढ़-शिक्षा पर जो प्रयोग हुए हैं उनका विवेचन कीजिए और यह कीजिए कि बुनियादी-शिक्षा की योजना प्रौढ़ों को शिक्षित करने में किस प्रकार सफल हो।

—:०:—

अध्याय २४

मनोविज्ञान एवं शिक्षा

मनोविज्ञान को अंग्रेजी भाषा में 'साइकालॉजी' (Psychology) कहते हैं
इस शब्द का निर्माण यूनानी भाषा के शब्द 'साइके' (Psyche) और 'लोगस
(Logos) के मेल से हुआ है। 'साइके' का अर्थ है—आत्मा और 'लोगस' का अ
है—विज्ञान। अतः मनोविज्ञान प्रारम्भ में आत्म-विज्ञान तक ही सीमित था। त
दर्शनशास्त्री ही इस क्षेत्र से सम्बन्धित रहे। मध्य युग के वैज्ञानिक विकास ने दर्शन
शास्त्रियों के काल्पनिक विचारों को नहीं टिकने दिया। अब इसे 'मन का विज्ञान'
कहा गया। परन्तु विचारक लोग 'मन' की क्रियाओं का स्पष्ट विवेचन नहीं कर सके
अतः 'मन' के मूल तत्व 'चेतना' (Consciousness) को महत्व देकर इसे 'चेतना क
विज्ञान' कहा गया। परन्तु 'मन' तो अर्धचेतन और अचेतन भी रहता है। ऐसी
स्थिति में विचारकों ने 'व्यवहार' को महत्व देकर इसे 'व्यवहार का विज्ञान' कहा
महाशय चर्ल्स ई० स्किनर ने मनोविज्ञान की परिभाषा इन शब्दों में की है "मनोविज्ञा
जीवन में प्रस्तुत कोई सी एवं प्रत्येक प्रकार की स्थिति के प्रभाव का अध्ययन करत
है। प्रभाव या व्यवहार से अर्थ है जीव की सब प्रकार की प्रक्रियायें, व्यवस्थीकरण
कार्य और अभिव्यक्ति।" इस परिभाषा में पशु और मनुष्य दोनों के व्यवहार क
समावेश करके, व्यवहार को बड़ा व्यापक रूप दे दिया गया है।

मानव मनोविज्ञान—मानव सामाजिक प्राणी है। समाज में परस्पर सम्बन्ध
जुड़ने व क्रियाशील होने पर उसकी मानसिक गतियों में परिवर्तन लक्षित होता है
इन गतियों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। वैसे यह अध्ययन स्वाभाविक है
प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार सम्पर्क में आने वाले दूसरे व्यक्ति की गतियों क
अध्ययन करता रहता है और उसी के आधार पर अपना आगे का मार्ग सोचता रहत
है। यदि एक व्यक्ति ने दूसरे को किसी कारणवश गाली दी तो वह व्यक्ति गाली देक
ही चुप नहीं हो जाता वरन् देखता है कि गाली देने के कारण उस पर क्या प्रभाव
पड़ा और यदि दूसरा व्यक्ति जिसे गाली दी गई है वह क्रोध में आकर मारने क
उद्यत होता है तो गाली देने वाला व्यक्ति उसकी मारने की क्रिया की तत्परता क
अध्ययन कर अपने बचाव की तैयारी करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान अध्ययन क
क्षमता प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक रूप से लघु या वृहद् आकार में विद्यमान अवश्
है। इस प्रकार मानव मनोविज्ञान मनुष्य की ऐसी क्रियाओं से सम्बन्धित है जै
ध्यान, अनुकरण, कल्पना, क्षोभ, चिन्तन, स्मृति, व्यवहार, संगठन आदि। मानव के
अनुभव और व्यवहार को एकत्रित करना, व्यवस्थित करना, वर्णित करना, समझन
ही मानव मनोविज्ञान के उद्देश्य हैं। मानव मनोविज्ञान मनुष्य की मानसिक शक्ति

से सम्बन्ध रखता है। मनुष्य का यह ही उसका दर्शन है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है —
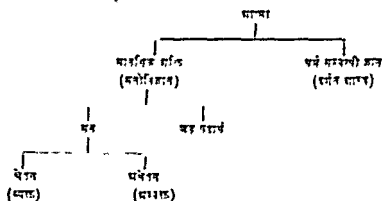
इस प्रकार मानव की चेतन तथा अचेतन शक्ति द्वारा मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर स्थिति समझकर अग्रसर होता है। यह मानव मनोविज्ञान भी मनुष्य की विभिन्न परिस्थितियों एवं स्तरों के अनुसार विभाजित किया गया है। जैसे बाल-मनोविज्ञान, वैयक्तिक मनोविज्ञान, सामूहिक मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान आदि। बालक को सुघरा हुआ नागरिक बनाने के लिए बाल-मनोविज्ञान एवं शिक्षा मनोविज्ञान का सहारा लेने की नितान्त आवश्यकता है।

शिक्षा मनोविज्ञान—मानव में सीखने की क्षमता है। वह सीखता है। पक्षियों तथा पशुओं में सीखने की प्रवृत्ति न्यूनतम होती है। उन्हें सिखाने की आवश्यकता नहीं होती। उनका सद्यजात शिशु भी स्वत: आवश्यकतानुसार कार्य करने लग जाता है। जैसे मुर्गी के बच्चे अण्डों से निकलते ही माँ के साथ दौड़ने लग जाते हैं तथा दाना चुनने लगते हैं। पर मनुष्य के बालक को सिखाने की आवश्यकता होती है। यह मनुष्य का सीखना ही शिक्षा मनोविज्ञान का केन्द्र है। शिक्षा मनोविज्ञान मानवीय व्यवहार को शिक्षा के क्षेत्र की दृष्टि से बतलाता है। मनुष्य के व्यवहार का, व्यक्तित्व की उत्पत्ति का, विकास का शिक्षा के सामाजिक स्वरूप की दृष्टि से अध्ययन करना ही शिक्षा मनोविज्ञान का उद्देश्य है।

शिक्षा के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का जानना अत्यन्त आवश्यक है। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् रूसो का कथन है—"जो शिक्षक अपने काम को कर्त्तव्य बुद्धि से करना चाहता है, उसको बालक के मन का अध्ययन भली प्रकार से करना चाहिए।" शिक्षक के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह न केवल अपने विषय का ही पंडित हो वरन् बालक के मन को भली-भाँति जानने वाला हो तथा बालक के स्वभाव के अनुसार शिक्षा पद्धति बनाने वाला हो। बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन के बिना शिक्षक रहेगा। अध्यापक मनोविज्ञान पढ़कर बालकों की रुचियों का पता लगा सकते हैं

और उनके अनुसार शिक्षा देकर कमजोर बच्चों को आसानी से आगे बढ़ा सकते हैं। प्राचीन काल में बाल-मनोविज्ञान के आधार पर ही उनको शिक्षित किया जाता था। उसके कई उदाहरण हैं। 'पंचतन्त्र' की कहानियाँ इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसके लेखक विष्णु शर्मा ने राजपुत्रों को शिक्षा देने के लिए ही इसे लिखा था। राजकुमार राजनीति सीखने में रुचि नहीं लेते थे। अतः विष्णु शर्मा ने बच्चों की रुचि का पता लगाकर उसके अनुसार ही पक्षियों की कहानियाँ रचकर उन्हें सुना-सुनाकर राजकुमारों को पढ़ने-लिखने तथा राजनीति सीखने में रुचि उत्पन्न की।

इसी तरह योग्य अध्यापक बालकों की रुचि जानकर थोड़े से प्रयत्न से भी बहुत कुछ सिखा देते हैं। जो अध्यापक मनोविज्ञान का जानने वाला होता है वह जानता है कि किन कारणों से बच्चों में थकान उत्पन्न हो जाती है। वे क्यों ऊब जाते हैं? उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है और पुनः बालक का ध्यान किस प्रकार पढ़ने की ओर लगाया जा सकता है? मनोविज्ञान पढ़ा हुआ अध्यापक जानता है कि सीखने और याद करने के क्या नियम होते हैं। उन्हीं नियमों के अनुसार वह बालक को सिखाता है ताकि बालक आसानी से सीख सके और सीखी हुई बातों को अधिक समय तक याद रख सके। वह बालकों में विचार एवं तर्कना-शक्ति का उपयुक्त स्रोत प्रभावित कर सकता है। वह बालकों में बुरी आदतें बनने से रोक सकता है। बुरी आदतों की जगह अच्छी आदतें उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार बालकों में सदाचार की नींव डाल सकता है। अतः अध्यापक के लिए मनोविज्ञान का विज्ञ होना नितान्त आवश्यक है।

शिक्षा मनोविज्ञान की सामग्री—शिक्षा मनोविज्ञान दिन-प्रतिदिन के अनुभवों प्रयोगों पर आधारित है। यह किसी मशीन की उत्पादन की तरह ठोस वस्तु नहीं, वरन् रुचि रखने वाले व्यक्तियों के अनुभव एवं प्रयोगों का फल है। समय-समय पर शिक्षा-शास्त्रियों ने जो प्रयोग किये उनके निष्कर्षों का संकलन मात्र ही शिक्षा मनोविज्ञान का कोष है। बालक, युवक, वृद्ध की क्रियाओं का, व्यवहारों का, गतियों का संकलन तथा उनसे अनुभूत फल ही शिक्षा मनोविज्ञान का कलेवर बनाते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान के इस प्रकार के वस्तुसार को ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) मनुष्य की उत्पत्ति एवं विकास, (२) सीखना, (३) व्यक्ति एवं संगठन (Adjustment), (४) मापन, और (५) शिक्षा एवं मार्ग दर्शन।

शिक्षा मनोविज्ञान के इस वस्तुसार का जानने वाला अध्यापक ही बालक की शिक्षा के प्रति न्याय कर सकता है, अन्य नहीं, क्योंकि शिक्षा मनोविज्ञान के उद्देश्यों की पूर्ति शिक्षा मनोविज्ञान के इसी वस्तुसार की जानकारी से हो सकती है।

शिक्षा मनोविज्ञान के उद्देश्य

(१) पूर्ण व्यक्तित्व का विकास—बालक के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना ही शिक्षा मनोविज्ञान का मूलभूत उद्देश्य है। बालक सदाचारी बने साथ ही उत्पादन-

कर्त्ता बने अर्थात् बालक का सर्वांगीण विकास करना ही शिक्षा-मनोविज्ञान का उद्दे
है। शिक्षक बालक को सन्मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करता हुआ उसे जीविका प्रा
के योग्य बनाने का प्रयत्न करता है। पर बालक पर हावी होकर नहीं वरन् उस
स्वाभाविक क्षमता के आधार पर उसे सिखाने का प्रयत्न करता है।

(२) सामाजिक संगठन बालक को समाज की दृष्टि से व्यवहार-कु
बनाना शिक्षा मनोविज्ञान का दूसरा उद्देश्य है। बालक समाज का भार न बने व
वह समाज की एक ऐसी इकाई बने जिससे समाज के अधिकारों का हनन न हो
समूह में रहकर सामाजिक जीवन को अच्छे ढंग से बिताने का मार्ग सिखाना शि
मनोविज्ञान का उद्देश्य है। जियो और जीने दो के सिद्धांत का अनुसरण करता हु
प्रत्येक के अधिकारों की रक्षा करे। यह सिखाना ही दूसरा उद्देश्य है।

(३) परिवर्तनशील समय में संगठन—समय परिवर्तनशील है। समय के सा
समाज भी बदलता जाता है। अतः बदलते हुए समाज के अनुकूल स्वयं को संगठि
करने की क्षमता उत्पन्न करना भी शिक्षा मनोविज्ञान का उद्देश्य है।

(४) शिक्षक एवं छात्र के मार्ग को सुलभ करना—शिक्षक मनोविज्ञानवेत्
बनकर छात्र के मार्ग को सुलभ करता है। मनोविज्ञान मनुष्य के स्वभाव को समझ
में सहायक होता है।

शिक्षा सिद्धांत एवं शिक्षा मनोविज्ञान के उद्देश्यों में अन्तर—शिक्षा सिद्धां
एवं शिक्षा मनोविज्ञान में बहुत अन्तर है। शिक्षा सिद्धांत परिभाषा तथा वस्तु
परिचय से सम्बन्ध रखता है। यह क्या और क्यों का उत्तर देता है। जैसे :—

(१) मनुष्य जीवन और सृष्टि का क्या अर्थ है?
(२) ज्ञान क्या है?
(३) सत्यं, शिवं, सुन्दरम् क्या है?
(४) शिक्षा प्राप्त कर क्या करें?
(५) हमारे लिए यह सब जानना क्यों आवश्यक है?

परन्तु शिक्षा मनोविज्ञान इनको हल करने के लिए समय व पद्धति बताता
है। वह कब और कैसे का उत्तरदाता है। जैसे :—

(१) सत्य, शिव और सुन्दर कैसे जानें?
(२) ईर्ष्या-द्वेष कैसे दूर करें?
(३) किसी कविता को शीघ्रातिशीघ्र कैसे कण्ठस्थ किया जा सकता है?
(४) शिक्षा-सिद्धान्त के उद्देश्यों तक कैसे पहुँचा जा सकता है?
(५) बालक के चरित्र का गठन कैसे हो सकता है?
(६) बालक कब पढ़ना शुरू करे?
(७) बालक को गणित या बीजगणित कब व कैसे पढ़ाया जाये?

अतः अध्यापक के लिए शिक्षा-सिद्धान्त जान लेना ही पर्याप्त नहीं वरन् उसके

लिए शिक्षा मनोविज्ञान का जानना भी उतना ही आवश्यक है जिससे वह समय पर उपयुक्त ज्ञान बालक को दे सके।

शिक्षा मनोविज्ञान की अध्यापक के लिए आवश्यकता—उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना से स्पष्ट ही है कि अध्यापक को शिक्षा मनोविज्ञान का जानने वाला होना चाहिए अन्यथा वह अधूरा अध्यापक है। ऐसा अध्यापक बालकों के साथ साथ अपने राष्ट्र के प्रति भी अन्याय करता है। शिक्षा मनोविज्ञान के जाने बिना वह बालकों का भार-स्वरूप बन जाता है। शिक्षा मनोविज्ञान से सम्बन्धित निम्नलिखित बातें अध्यापक को छात्र की दृष्टि से जानना अत्यन्त आवश्यक है:—

(१) पढ़ाये जाने वाले विषय का पूर्ण ज्ञान।
(२) छात्र की पूर्ण जानकारी जिसे पढ़ाना है।
(३) छात्र को पढ़ाये जाने का दृष्टिकोण।
(४) पढ़ाने की शैली एवं पद्धति।
(५) छात्र के आवश्यक विकास का दृष्टिकोण।

अध्यापक के स्वयं की दृष्टि से भी शिक्षा मनोविज्ञान का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है:—

(१) अध्यापक का स्वयं का चरित्र-गठन—यदि अध्यापक स्वयं मनोविज्ञान का वेत्ता होगा तो वह अपना चरित्र-गठन कर बालकों के सम्मुख आदर्श उपस्थित कर सकेगा।

(२) अध्यापक की सफलता—अध्यापक मनोविज्ञान का जानने वाला होकर बालक की रुचि के अनुकूल शैली एवं पद्धति अपनाकर अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है जिससे उसे यश-प्राप्ति होगी।

जीविका उपार्जन—अच्छे ढंग से पढ़ाने वाले अध्यापक की चाह कौन नहीं करता ? और इस तरह से अच्छा अध्यापक स्थाई जीविका-उपार्जन कर सकता है।

इस प्रकार अध्यापक के लिए मनोविज्ञान का पढ़ना व्यक्तिगत, छात्र, समाज, एवं राष्ट्र सभी की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है।

सारांश

(१) मनोविज्ञान—प्रत्येक स्थिति एवं वातावरण के उपस्थित होने पर प्रत्येक प्राणी क्रियाशील होता है। उसी गति के अध्ययन का नाम मनोविज्ञान है।

(२) मानव-मनोविज्ञान—मनोविज्ञान की शाखाओं में सर्वोपरि मानव मनोविज्ञान है। जो मानव की क्रियाओं का अध्ययन कराता है।

(३) शिक्षा-मनोविज्ञान—यह मानवीय व्यवहार को शिक्षा के क्षेत्र की दृष्टि से बतलाता है। बालक को सिखाने के लिए शिक्षक का शिक्षा मनोविज्ञान विज्ञ होना अत्यन्त आवश्यक है।

(४) शिक्षा-मनोविज्ञान की सामग्री—मानव के दैनिक अनुभव ही शिक्षा मनोविज्ञान की सामग्री है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विधियाँ

मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता—

व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज की प्रत्येक इकाई (व्यक्ति) का समाज के दूसरे व्यक्तियों के साथ व्यवहार रहता है। ये व्यवहार जिसके प्रति किये जाते हैं, उसे कभी बुरे तथा कभी अच्छे लगते हैं। मनोविज्ञान इन व्यवहारों के अध्ययन का प्रयत्न करता है। उसके कारणों को खोजता है कि वे व्यवहार क्यों अच्छे अथवा बुरे लगे? उनकी प्रतिक्रिया क्या हुई? साथ ही मनोवैज्ञानिक उस व्यक्ति के व्यवहारों में सुधार का प्रयत्न भी करता है। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक दशा का महत्त्व दूसरे व्यक्तियों के दृष्टिकोण से है।

अध्यापक का कार्य समाज-निर्माता का और नियामक का है। अतः अध्यापक को मनुष्य की प्रत्येक अवस्था अर्थात् बाल्यावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था की मनोवैज्ञानिक दशा की जानकारी होना नितान्त आवश्यक है। अध्यापक को वास्तविक मनोवैज्ञानिक दशा का ज्ञान होने पर ही समाज की समस्यायें सुलझ सकती हैं। बाल्यावस्था भावी जीवन का आधार है। अतः अध्यापक को बालक की मानसिक वृत्ति तथा उनके विकास-क्रम का पूर्णतया ज्ञान होना चाहिए। अन्यथा बालक में अनिच्छित आदतें उत्पन्न हो जायेंगी तथा उसके कार्य समाज विरोधी होने लगेंगे।

अध्यापक को अपने आपको इस दृष्टि से समृद्ध करने योग्य बनाने और ज्ञान प्राप्त करने के लिए कतिपय विधियों का सहारा लेना पड़ता है जिन्हें "मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विधियाँ" कहते हैं। अर्थात् बालक की इच्छाओं, भावनाओं, मानसिक वृत्तियों, विकास के क्रमों का अध्ययन करने के लिए मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित विधियों का प्रयोग करके ही वह अपने आपको बालक का अध्यापक बनने का अधिकारी सिद्ध कर सकता है। अतः बालक के हित और अपने आपको समृद्ध करने की दृष्टि से अध्यापक में इन विधियों का ज्ञान और उनके प्रयोग द्वारा अध्ययन करने की विधि एवं क्षमता का होना नितान्त आवश्यक है।

अध्ययन की विधियाँ—किसी भी व्यक्ति अथवा बालक या प्राणी के व्यवहारों, क्रिया-कलापों, हावों-भावों, भावनाओं, इच्छाओं, वृत्तियों, आदतों और विचारों के अध्ययन के लिए अध्ययन-कर्त्ता की क्षमता, रुचि और रीति के अनुसार कई विधियाँ हो सकती हैं। तथापि मनोविज्ञान के क्षेत्र में सामान्यतया निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं:—

(१) निरीक्षण (Observation)
(२) अन्तर्दर्शन (Introspection)

(३) प्रयोग (Experiments)
(४) मनोविश्लेषण (Psycho-analysis)

निरीक्षण विधि—प्रत्येक मनुष्य समाज में अपने सामने होने वाले लोगों की क्रियाओं, व्यवहारों और चेष्टाओं को देखता है, अनुभव करता है, मन ही मन उनको समझता है, विश्लेषण करता है, और उन्हें अच्छा या बुरा ठहराता है। चूंकि दर्शक उस क्रिया, चेष्टा या व्यवहार को स्वयं देखता है, अतः वह उसके विषय में मन ही मन अथवा प्रकट रूप में सम्मति भी स्थिर करता है। इस तरह प्रत्येक मनुष्य अपनी इन दो खुली आँखों से नित्य प्रति के कार्य-कलाप देखता रहता है। और इन्हीं के द्वारा वह कार्य करने वालों की मानसिक स्थिति का सफलतापूर्वक अध्ययन करता है।

अध्यापक भी बालक की क्रियाओं, चेष्टाओं, व्यवहारों और आदतों को देखता है। उनका अध्ययन करता है, बालक की मानसिक दशा से परिचित होता है, और यह निर्णय निकालता है कि किन-किन परिस्थितियों में बालक कैसा-कैसा व्यवहार करता है। किन परिस्थितियों एवं कैसी मानसिक दशा में वह भला अथवा बुरा व्यवहार करता है, और तब वह उसके संशोधन के विषय में सोच विचार करता है। इसी निरीक्षण प्रणाली द्वारा मनोवैज्ञानिक सुनिश्चित मत स्थिर कर सकता है।

निरीक्षण-विधि में ध्यान देने योग्य बिन्दु—(१) इस पद्धति द्वारा अध्ययन सरल मालूम पड़ता है पर वस्तुतः बड़ा कठिन है। कई बार निरीक्षण का भान होते ही घटना अथवा क्रिया रुक जाती है अथवा बदल जाती है। जैसे कोई बालक कक्षा के कमरे में कोई वस्तु खा रहा है। उसे यह ज्ञात होते ही, कि अध्यापक ने देख लिया है, वह अपनी क्रिया बन्द कर देगा जिसके कारण अध्यापक के अध्ययन में रुकावट उत्पन्न हो जावेगी। अतः सही निरीक्षण तभी हो सकता है जबकि निरीक्षण के समय घटना साधारण गति से चलती रहे।

(२) बालक की क्रियाओं का निरीक्षण अध्यापक करता है। पर कई बार वे अपनी बुद्धि के स्तर से अथवा अपनी मानसिक अवस्था से घटना को देखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बालक की वास्तविक मानसिक स्थिति का उन्हें पता नहीं लग पाता। अतः अध्यापक को ऐसे समय अपने आपको तटस्थ रखना चाहिये।

(३) घटना को अपने स्वाभाविक रूप में प्रगट होने देने पर ही ठीक ढंग से निरीक्षण हो सकता है। अतः कृत्रिम वातावरण द्वारा घटना उत्पन्न करने पर उसके ... संदेहयुक्त हो सकते हैं।

(४) अध्यापक और बालकों में पारस्परिक स्नेह का सम्बन्ध होने पर ही ... बालकों में घुल-मिल कर उनकी क्रियाओं का भली भांति अध्ययन कर ... है अन्यथा नहीं।

(५) केवल एक ही बार के निरीक्षण से किसी तथ्य पर पहुँच जाना ठीक

नहीं। उसी ढंग में कई निरीक्षणों के बाद ही निश्चित निर्णय पर पहुँचना श्रेयस्कर होगा।

(६) निरीक्षण के परिणामों की जाँच भी करते रहना आवश्यक है।

(७) निरीक्षक को निरीक्षण-विधि में निपुण होना चाहिए। समय-समय पर पशु-पक्षियों का निरीक्षण करते रहना चाहिये तथा उनसे प्राप्त निर्णयों से बालक के निरीक्षण की तुलना करते रहना चाहिये, जिससे बालक के व्यवहारों के निरीक्षण और उनके निर्णय में सुविधा होगी।

(८) अपने निरीक्षण को दूसरे अध्यापक के निरीक्षण से टकरा लेना चाहिए जिससे बालक की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो सकता है।

(९) किसी समस्या विशेष को लेकर निरीक्षण किया जाय तो अधिक उत्तम होगा। उसके निष्कर्ष पर पहुँचने में आसानी रहेगी।

अन्तर्दर्शन-विधि—अन्तर्दर्शन का अर्थ है अपने ही अन्तस्थल का दर्शन करना अर्थात् स्वानुभव। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के हावों-भावों, व्यवहारों, चेष्टाओं, क्रियाओं को देखता है और यदि वह मनोविज्ञान का छात्र है तो उन क्रियाओं के द्वारा कर्त्ता की मानसिक स्थिति का अध्ययन करता है। पर वह निरीक्षक स्वयं भी तो क्रियायें करता है। अतः अपना ही निरीक्षण करने की चेष्टा को अन्तर्दर्शन कहते हैं। अर्थात् मानसिक स्थितियों का अध्ययन करना अन्तर्दर्शन कहलाता है।

अध्यापक स्वयं भी तो कार्य करता है, मानसिक स्थितियाँ अपने हाव-भाव द्वारा प्रदर्शित करता है। कभी क्रोध करता है। कभी प्रसन्नता प्रदर्शित करता है। कभी दुलार तो कभी घृणा प्रदर्शित करता है। यह प्रत्येक अध्यापक की अपनी निजी अनुभूति है। इसी ढंग से अध्यापक स्वयं का अध्ययन कर उसी के प्रकाश में दूसरे व्यक्तियों तथा बालकों का अध्ययन करने में सफल हो सकता है। बालक अपनी ओर से तो कोई बात नहीं कहता। अपने अन्तर्दर्शन द्वारा बालक के व्यवहार का अर्थ लगाया जा सकता है।

अन्तर्दर्शन-विधि में ध्यान देने योग्य बिन्दु—(१) अन्तर्दर्शन करना बड़ा ही कठिन है। अपना स्वयं का अध्ययन, विश्लेषण और निर्णय करना साधारण बात नहीं। अपनी विशेष मानसिक अवस्था के अवसर पर यह ध्यान आते ही कि उसे अन्तर्दर्शन करना है, मानसिक स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। जैसे उसे क्रोध आते ही वह सजग होकर क्रोध की दशा का अध्ययन करना चाहे तो उसका क्रोध शान्त हो जाएगा अथवा उसके वेग में शिथिलता आ जावेगी। अतः अन्तर्दर्शन के लिए इतनी धार्मिक शक्ति होनी चाहिये कि मानसिक दशा का अध्ययन भली-भाँति किया जा सके।

(२) अन्तर्दर्शन हमारी भारतीय संस्कृति में ईश्वरत्व को प्राप्त करने का साधन माना गया है और यह कार्य बड़ी साधना के पश्चात् सिद्ध हो सकता है। बड़े-

बन गई हो। ये सब जानकारियाँ उसको बालक से, अभिभावक से, बालक के मित्रों से, पास पड़ोस से पूछकर प्राप्त करनी होंगी और तब निर्णय निकालना होगा कि बालक की रुचि क्यों पढ़ने में नहीं है और उसी अवरोध को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार अध्यापक मनोविश्लेषण विधि का प्रयोग कर सकता है।

इन विधियों का प्रयोग—बालक के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विधियों से अध्यापक को पूर्णतया परिचित होना चाहिए। उसे सदा सजग रहना चाहिए और यथासमय उनका प्रयोग करते रहना चाहिए। शिक्षा मनोविज्ञान में तो इन विधियों के प्रयोग की नितान्त आवश्यकता है। पर बालक के विकास के तो कई पहलू होते हैं और विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए एक भी विधि सफल नहीं हो सकती है। अतः यह अध्यापक पर आधारित है कि वह अपनी बुद्धि के अनुकूल विधि का प्रयोग करे। साथ ही एक विधि से प्राप्त निर्णय की सत्यता का दूसरी विधि से भी परीक्षण कर लेना उचित होगा। तात्पर्य यह है कि बालक के अध्ययन के लिए केवल किसी एक अकेली विधि का प्रयोग ही पर्याप्त नहीं है, इनके उचित ढंग से प्रयोग करने पर ही बालक की दुर्बलताओं को दूर कर उसका सम्यक विकास किया जा सकता है।

सारांश

मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता—समाज के हित की दृष्टि से व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक दशा के अध्ययन की आवश्यकता है। इस दृष्टि से अध्यापक का कार्य महत्वपूर्ण है क्योंकि वह बाल्यावस्था में ही बालक की मानसिक अवस्था सुदृढ़ बना सकता है। इसके लिए उसे इन विधियों का अध्ययन करना चाहिये।

अध्ययन की विधियाँ—वैसे तो अध्ययनकर्ता की शैली, क्षमता और रुचि के अनुसार कई विधियाँ हो सकती हैं तथापि प्रमुख ये चार हैं—(१) निरीक्षण, (२) अन्तर्दर्शन, (३) प्रयोग, (४) मनोविश्लेषण।

निरीक्षण-विधि—बालक की प्रत्येक स्वाभाविक चेष्टा को ध्यान से देखना, अध्ययन करना, विश्लेषण करना, निर्णय निकालना निरीक्षण विधि कहलाती है।

निरीक्षण-विधि में ध्यान देने योग्य बिन्दु—(१) घटना के समय बालक को यह पता नहीं लगना चाहिये कि कोई देख रहा है। (२) निरीक्षण के समय अध्यापक को तटस्थ रहना चाहिये। (३) कृत्रिम वातावरण न बनाना चाहिए। (४) अध्यापक और बालक में घनिष्ठता होनी चाहिये। (५) एक बार के निरीक्षण के फल को कई बार निरीक्षण कर सत्य सिद्ध कर लेना चाहिये। (६) परिणामों [illegible] कर लेनी चाहिए। (७) निरीक्षण कार्य में दक्षता होनी चाहिए। (८) अन्य [illegible] निरीक्षण से अपने निरीक्षण के फल को टकरा लेना चाहिए।

[illegible] विधि—अपने ही निरीक्षण करने की चेष्टा को अन्तर्दर्शन कहते [illegible] कर बालक के व्यवहारों का अर्थ लगाया जा सकता है।

अन्तर्दर्शन-विधि में ध्यान देने योग्य बिन्दु—(१) अन्तर्दर्शन के लिए दृढ़

शक्ति होनी चाहिए। (२) अन्तर्दर्शन के लिये विकसित बुद्धि होनी चाहिए। समय अध्यापक को निष्पक्ष रहना चाहिए। (४) मानसिक प्रक्रिया के वेग ा चाहिए। (५) अपने अनुभव को दूसरों को बताना चाहिये।

प्रयोग विधि—मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी अन्य विज्ञानों की भाँति प्रयोगों का व है। अध्यापक शाला ही को प्रयोगशाला मान कर प्रयोग कर सकता है।

प्रयोग विधि में ध्यान देने योग्य बिन्दु—(१) बालकों के सामान्य स्तर (२) बालकों की विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान, (३) निश्चित दृष्टिकोण हिये, (४) प्रयोग अधिकाधिक बालकों पर होना चाहिए, (५) प्रयोग कई ा जाना चाहिये।

मनोविश्लेषण विधि—मानसिक रोगों की चिकित्सा इस विधि से की जा । इस विधि में बालक की मानसिक अवस्था का विश्लेषण किया जाता है।

न विधियों का प्रयोग—यथासमय प्रयोग किया जाना चाहिये तथा केवल धि का प्रयोग नहीं अपितु आवश्यकतानुसार सभी विधियों का प्रयोग करते हिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१) बालकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? इस दृष्टि से अध्यापक विशेषताएँ होनी चाहियें ?

२) बालकों के अध्ययन करने की कौन-कौन सी प्रमुख विधियाँ हैं ? उनका संक्षेप में ाए।

३) निरीक्षण विधि अथवा मनोविश्लेषण विधि से क्या तात्पर्य है ? बालक के अध्ययन किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है ?

—:०:—

वंशानुक्रम तथा वातावरण

जिस प्रकार माता-पिता से शरीर प्राप्त होता है उसी प्रकार कुछ मानसिक विशेषताएँ भी माता-पिता से ही प्राप्त होती हैं। चरित्र सम्बन्धी कई बातें पिता और पुत्रों में समान पाई जाती हैं। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि माता-पिता की सभी आदतें सन्तान में ज्यों-की-त्यों विद्यमान हों। यदि ऐसा ही होता तब तो शिक्षक के लिए कुछ भी कार्य शेष न रहता। परन्तु सन्तान में माता-पिता की कतिपय विशेषताएँ जन्म-जात होती हैं और वे भी वातावरण के मिलने पर घट-बढ़ सकती हैं। *तात्पर्य यह है कि बालक के मनोविकास के लिए दो ही उपकरण आधारभूत हैं* — प्रथम बालक का जन्म-जात स्वभाव और दूसरा बाह्य परिस्थितियाँ। इन्हें परम्परा एवं प्रतिवेश अथवा वंशानुक्रम एवं वातावरण कहते हैं।

वंशानुक्रम—प्रायः देखा जाता है कि जिस प्रकार के माता-पिता होते हैं उन्हीं के अनुरूप बच्चे भी हुआ करते हैं। लड़के-लड़कियाँ रूप-रंग, सुन्दरता एवं डील-डौल में अपने माँ-बाप के समान ही होती हैं। यह समानता केवल शारीरिक बनावट ही में नहीं होती वरन् गुण, विद्या, बुद्धि, वाणी, स्वभाव आदि सभी बातों में बच्चे अपने वंश के अनुरूप ही होते हैं। सदाचारी तथा सम्पन्न घरों के बालक सदाचारी और बुद्धिमान होते हैं तथा दुराचारी और मन्द बुद्धि वाले माता-पिता की सन्तान मन्द-बुद्धि और दुराचारी होती है। *इसीलिए तो कई कहावतें बन गई हैं* "जैसे जाके बाप महतारी, वैसे वाके लरका, समान में समान उत्पन्न करने की प्रवृत्ति है; पिता पर पूत देश पर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा।" जनसाधारण का अनुभव है कि बच्चे मानसिक और शारीरिक गुण विशेषतया अपने माता-पिताओं से प्राप्त कर सकते हैं. जनसाधारण अपने अनुभव के आधार पर यही मानता आया है तभी तो पिता अपनी पुत्री की सगाई के लिए आवश्यक लड़के को ढूँढकर उसके माता-पिता के स्वभाव एवं वंश की पूछताछ करता है और वंश के सन्तोषजनक होने पर ही वह सगाई निश्चित करता है। इसका मूलभूत आधार यही है कि जैसे माता-पिता होंगे वैसा ही पुत्र अवश्य होगा परन्तु कई बार यह धारणा असत्य सिद्ध होती है।

बालक पर केवल वंशानुक्रम का ही प्रभाव होता है अथवा केवल वातावरण ही का इस प्रकार की दोनों अटल धारणाएँ स्वतः असत्य ठहरती हैं। अनुभव यही बतलाता है कि बालक पर वंशानुक्रम का प्रभाव अवश्य होता है पर साथ-ही-साथ प्रतिवेश का भी। इसके लिये मनोवैज्ञानिकों ने कई प्रकार के प्रयोगात्मक अध्ययन किये जिनके निष्कर्ष बड़े मार्मिक हैं।

वंशानुक्रम का अध्ययन—कई मनोवैज्ञानिकों ने बालक पर वंशानुक्रम का

भाव जानने की इच्छा से अध्ययन किया। फ्रांसिस गाल्टन का अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। गाल्टन महाशय ने ८ जुड़वाँ बच्चों के जीवन का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि इन जुड़वाँ बच्चों का जीवन एक दूसरे में इतना मिलता-जुलता था मानो एक ही कम्पनी की बनी हुई दो घड़ियाँ, जिनमें एक साथ चाबी दे दी गई हो। अर्थात् वे बच्चे सभी बातों में एक दूसरे से मिलते-जुलते थे।

इसी प्रकार कई विद्वानों ने वंशों के इतिहास का अध्ययन किया और यह परिणाम निकाला कि वंशानुक्रम का प्रभाव बालकों पर स्थायी रूप से पड़ता है। महाशय डुग्डेल एवं स्टाब्रुक ने अमेरिका के ज्यूक्स नामक परिवार का अध्ययन किया। ज्यूक अमेरिका का एक निरुद्यमी, शिकारी और मछुआ था। उसके लड़कों का विवाह नीच वंश वाली लड़कियों के साथ हुआ। इसका फल यह हुआ कि कुटुम्ब में प्रायः सभी बच्चे अस्वस्थ, लम्पट, चोर और जुआरी उत्पन्न हुए। पाँच पीढ़ियों में कुल १००० व्यक्तियों की संख्या में से ३०० शैशवावस्था में ही मर गये। ३१० भिखमंगे हुये। ४४० जीवन भर रोगी बने रहे। १३० को कैद की सजा हुई जिनमें से ७ खूनी थे। सम्पूर्ण परिवार के इतिहास में केवल २० व्यक्तियों ने रोजगार के आधार पर अपना पालन-पोषण किया। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि वंशानुक्रम का प्रभाव बच्चों के विकास पर अवश्य पड़ता है।

इसी तरह गोडार्ड महाशय ने कालीकक नामक परिवार का अध्ययन किया। कालीकक नाम के व्यक्ति ने दो विवाह किये। पहला विवाह एक मन्द बुद्धि वाली युवती के साथ किया। दूसरा विवाह एक कुलीन वंश वाली प्रतिभाशालिनी धर्म-परायण युवती के साथ किया। पहली युवती की शाखा में ४८० व्यक्ति हुए और दूसरी युवती की शाखा में ४९६। पहली युवती की शाखा के ४८० व्यक्तियों में से १४३ मन्द बुद्धि थे। ७१ व्यक्ति दुराचारी, वेश्यागामी, शराबी, चोर आदि थे। दूसरी युवती की शाखा के ४९६ व्यक्तियों में से कई प्रतिष्ठित प्रोफेसर, डाक्टर तथा उच्च पदाधिकारी बने।

ठीक इसी प्रकार विंशिप महाशय ने भी रिचार्ड एडवर्ड नामक व्यक्ति के परिवार का अध्ययन किया। इस व्यक्ति ने भी प्रथम एक बुद्धिमती महिला से विवाह किया। तत्पश्चात् एक साधारण महिला से। पहले विवाह से उत्पन्न सन्तानों में से कई प्रतिष्ठित व्यक्ति बने पर दूसरे विवाह की सभी सन्तानें साधारण थीं वरन् कुछ साधारण स्तर से गिरी हुई भी थी।

उपरोक्त अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि बालक की प्रतिभा के विकास में वंशानुक्रम का एक बहुत बड़ा हाथ है। वंशानुक्रम बालक की प्रतिभा के विकास का मार्ग निर्धारित करता है।

वंशानुक्रम के नियम—इन सभी अध्ययनों से विद्वानों ने कुछ मार्मिक निष्कर्ष निकाले हैं ये निष्कर्ष नियम के रूप में बन गए हैं। इनमें से कुछ बड़े महत्त्व के हैं।

(१) **कीटाणु की निर्विघ्नता**—बालक माता-पिता के शत-प्रतिशत गुणों को

प्राप्त नहीं करता। वह केवल उन्हीं गुणों को प्राप्त करता है जो उसके माता-पिता को भी उनके पूर्वजों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी मिले हैं। तात्पर्य यह है कि जो गुण माता-पिता ने अपने जीवन काल में उपार्जित किये है वे बालक को धरोहर रूप में नहीं मिलते। यदि कोई माता-पिता अपने जीवन काल ही में दुराचारी बन गये हैं तो उनकी सन्तान का दुराचारी होना अवश्यम्भावी नहीं है। बालक तो केवल उन्हीं गुणों को प्राप्त करता है जो उसके वंश में धरोहर रूप मे चले आ रहे हैं।

इस सिद्धान्त की सत्यता जानने के लिए जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वाइसमेन ने चूहों पर प्रयोग किया। उसने कुछ चूहे पाले और उनकी पूँछ काट दी। जब इन पूँछकटे चूहों की सन्तानें हुई तो वे सभी पूँछों वाली थी। इस प्रकार बीस-पच्चीस पीढियों तक पूँछें काटते रहने पर भी सन्तानों के जन्म के समय वैसी ही पूँछें थीं जैसी कि चूहे की जाति के होती हैं। अर्थात् माता-पिता की कमी पैतृक सम्पत्ति के रूप में नहीं आई। इसी प्रकार हम मनुष्यों में भी देखते हैं कि लंगड़े, लूने, काने माता-पिता की सन्तानें लंगड़ी, लूली, कानी नहीं होती। चेचक के कारण बिगड़े हुए चेहरे वाले माता-पिता की सन्तान बिगड़े चेहरे वाली नही होती।

इसी प्रकार माता-पिता जो गुण अपने जीवन काल में अर्जित करते हैं वे स्वतः बालक मे नही आते। पर यह अवश्य है कि ऐसे माता-पिता की सन्तान को शैशवावस्था से ही वे गुण सिखाये जायें तो बालक उन्हें शीघ्र ग्रहण कर लेता है। विद्वान्, कवि, गायक, पहलवान का पुत्र अपने आप विद्वान्, कवि, गायक या पहलवान नहीं बन जाता। पर यदि बाल्यावस्था से ही उसे सिखाया जाय तो वह शीघ्र योग्यता प्राप्त कर सकता है।

इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि बालक को समय पर शिक्षा देना आवश्यक है। किसान के बालक को भी खेती करना सिखाना आवश्यक है। जिस बालक को शिक्षा नहीं दी जायगी वह सुयोग्य व्यक्ति नहीं बन सकता। वास्तव में बालक न तो अपने से पहली पीढी (माता-पिता) की अर्जित योग्यता को वंशानुक्रम के अनुसार लेता है और न उसकी त्रुटियों को ही। वंशानुक्रम के अनुसार हम अपने प्रथम पूर्वजों के गुणों को ही प्राप्त करते हैं।

(२) भेद की उत्पत्ति अथवा अर्जित गुणों का वितरण—यह नियम उपरोक्त प्रथम नियम के प्रतिकूल सा है। कई बार यह भी देखा गया है कि माता पिता के जीवन काल मे अर्जित गुणों का वितरण भी सन्तति में होता है। यद्यपि यह तर्क अभी विवादास्पद ही है तथापि कतिपय प्रयोग इस नियम की सार्थकता सिद्ध करते है। मेक्डूगल और पाउलो के प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अर्जित गुणों का वितरण भी माता-पिता की सन्तति में होता है।

मेक्डूगल ने कुछ चूहों को पानी की नाँद मे छोड़ दिया। पानी की नाँद में से ... भागने का एक मार्ग प्रकाशमय था तथा दूसरा अँधेरे से युक्त। प्रकाशमय मार्ग से होकर निकल भागने वाले चूहे का हल्का-सा बिजली का धक्का लगने का प्रबन्ध

था। स्वाभाविकतः चूहे पहले प्रकाशित मार्ग से ही गये पर बिजली का धक्का लगने पर धीरे-धीरे उन्होंने अपनी गलती में सुधार किया। पहली पीढ़ी के चूहों ने १६५ बार भूल करने पर बिजली के धक्के से बचने के लिये अँधेरे मार्ग से जाना सीखा। पर अगली पीढ़ियों में भूलों की संख्या घटती गई यहाँ तक कि २३वीं पीढ़ी ने केवल २५ बार भूल की।

पाउलो ने भी कुछ सफेद चूहों को बिजली की घंटी द्वारा भोजन के लिए बुलाना प्रारम्भ किया। पहली पीढ़ी के चूहों को बुलाने के लिए ३०० बार, दूसरी पीढ़ी के चूहों के लिए १०० बार, तीसरी पीढ़ी के चूहों के लिए ३० बार, चौथी के लिए १० बार और पाँचवीं के लिए ५ बार घंटी बजाने की आवश्यकता पड़ी।

इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि माता-पिता के अर्जित गुणों का वितरण भी संतान में होता है। जिस कार्य को माता-पिता कठिनाई से सीख पाते हैं संतानें उसी को सरलता से सीख लेती हैं। वैश्य-बालक वाणिज्य में कुशल होता है। क्षत्रियकुमार युद्ध में कुशल होता है। ब्राह्मण-पुत्र की विद्या में स्वाभाविक रुचि पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि बालक में माता-पिता के अर्जित गुणों का समावेश अवश्य होता है।

इसके स्वीकार कर लेने पर शिक्षक का कार्य महत्वपूर्ण हो जाता है। बालक की शिक्षा के समय उसके माता-पिता के व्यवसाय का पता लगाना भी आवश्यक है। बुनियादी शिक्षा इसी के अनुकूल मार्ग दर्शन करती है। घर के व्यवसाय के आधार पर बालक को उसके स्वभाव तथा योग्यता के अनुकूल शिक्षा दी जा सकती है। किसान के बालक को खेती के आधार पर तथा सुनार, लोहार, जुलाहे, चर्मकार के बालक को उसके स्वयं के व्यवसाय के आधार पर सुगमता से शिक्षित किया जा सकता है।

(३) शुद्ध जाति की अमरता—वंशानुक्रम में अशुद्धता अर्थात् वर्णसंकरता को स्थान नहीं। प्रकृति वर्णसंकरों को भी शनैः शनैः शुद्ध करती जाती है। वर्ण-संकर जाति धीरे-धीरे लोप हो जाती है।
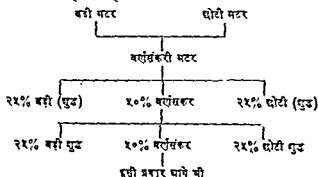
मैण्डल महाशय ने इस सिद्धान्त का निरूपण मटर तथा चूहे के प्रयोगों के पश्चात् किया है। पहले उन्होंने मटर का प्रयोग किया। दो प्रकार की मटर एक जगह बोकर एक नई जाति की वर्णसंकर मटर उत्पन्न की। इस वर्णसंकरी मटर को बोते रहने पर उन्हें जो परिणाम मिला वह पिछले पृष्ठ पर दिया है—

शनैः शनैः वर्णसंकरी मटर की जाति समाप्त हो गई। इसी प्रकार चूहों पर भी प्रयोग किया गया। दो भिन्न जाति के चूहों के सम्मेलन से एक दूसरी नस्ल के चूहे पैदा हो गये। इस प्रयोग को कई पीढ़ियों तक जारी रखने पर दोगली जाति के चूहों का लोप हो गया।

वंशानुक्रम तथा बुनियादी शिक्षा—वंशानुक्रम के नियमों को जान लेने के पश्चात् बालक की शिक्षा का कार्य अधिक योग्यता से किया जा सकता है। बुनियादी शिक्षा वंशानुक्रम के अनुकूल शिक्षा प्रदान करने का कार्य करती है। बालक को उसी के घरेलू व्यवसाय के माध्यम द्वारा शिक्षा प्रदान करना चाहिए। यह उसके वंशानुक्रम के अनुकूल होने के कारण अधिक बोधगम्य होगा। शिक्षक कार्य ही यह है कि वंशानुक्रम का अध्ययन कर बालक के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करे। बुनियादी शिक्षा जन्मजात बुद्धि के अनुकूल उसकी योग्यता और रुचि की सीमा में बंधकर बालक को शिक्षित करने का प्रयत्न करती है।

वातावरण का प्रभाव—बालक के विकास का दूसरा महत्वपूर्ण आधार वातावरण है। वातावरण का तात्पर्य यह है कि जिन लोगों के सम्पर्क में बालक रहता है और पलता है उनका रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, विचार, कार्य, व्यवहार आदि कैसे हैं। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है वह अपने प्रतिवेश में रहने वाले व्यक्तियों के अनुसार ही अपने आपको बनाने का प्रयत्न करता है। एक ही प्रकार के वातावरण में पलने वाले बालकों के रहन-सहन, स्वभाव तथा विचार आदि में समानता पाई जाती है। इस प्रकार वंशानुक्रम और वातावरण दोनों का ही बालकों के जीवन पर प्रभाव पाया जाता है। यदि दोनों ही अच्छे हों तो बालक का जीवन आदर्श बन जाता है। यदि दोनों ही बुरे हों तो बालक का पतन शुरू हो जाता है।

कभी-कभी अच्छे घर के बालक प्रतिकूल वातावरण में पड़कर अपनी प्रतिभा प्रकाशित नहीं कर पाते। सदाचारी बालक कुसंगति पाकर दुराचारी बन जाते हैं। इसके प्रतिकूल मन्दबुद्धि समझे जाने वाले तथा गरीब वंश में उत्पन्न होने वाले बालक अच्छा वातावरण पाकर समाज के रत्न बन जाते हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर गरीब माता-पिता के पुत्र होने पर भी वातावरण के कारण महापुरुष बने।

(क) कैकोल का अध्ययन—वातावरण के प्रभाव की महत्ता को जानने के लिए कैकोल महाशय ने ११२ प्रसिद्ध कुटुम्बों का अध्ययन कर यह सिद्ध कर दिया है कि वातावरण का प्रभाव ही विशेष महत्त्व का है। इन परिवारों के सभी लोग धनी और ऊँचे दरजे के थे। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की सुगमता व उपयुक्त साधन प्राप्त

थे। इसके फलस्वरूप उन परिवारों के लोग विद्वान् होकर बड़े-बड़े अधिकारी बने।

(ख) कैलोग का अध्ययन—महाशय कैलोग ने वातावरण का अध्ययन करने के लिए डौनल्ड (खुद का बच्चा) और गुआ (चिम्पैंजी का बच्चा) पर प्रयोग किया। बच्चे क्रमशः १० और ७½ मास के थे। मानव बालक को जिस प्रकार के बिस्तर, भोजन, वस्त्र, खिलौने एवं अन्य सुविधाएँ मिलती हैं वे सभी दोनों को बराबर-बराबर दी गईं। यह प्रयोग नौ मास तक चला। मानव के सहवास से गुआ भी चम्मच का व गिलास का प्रयोग करने लगा। वह अनेक संकेतों को समझता और पालन करता। परन्तु जब डौनल्ड पन्द्रह मास का हुआ तो गुआ से आगे निकल गया। यह प्रमाणित करता है कि अच्छा वातावरण मिलने पर भी चिम्पैंजी का बच्चा अपने वंशानुक्रम के कारण एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सका।

अतः स्पष्ट है कि बालक पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। माता-पिता एवं शिक्षक सबका यह धर्म है कि बच्चों के लिए स्वस्थ एवं उपयोगी वातावरण तैयार करें ताकि बालक का समतोल विकास हो सके।

वातावरण एवं बुनियादी-शिक्षा—वातावरण अथवा प्रतिवेश बालक के विकास को निर्धारित करने का प्रमुख अंग है। बच्चे को समाज की सम्पत्ति के रूप में अपने आस-पास रहने वाले लोगों से गुण सीखने हैं। हरबर्ट स्पेंसर की शिक्षा-सम्बन्धी मुख्य उक्ति यह थी—"बच्चे की शिक्षा रीति और व्यवस्था में इतिहास की दृष्टि से मानव जाति की शिक्षा के अनुकूल होनी चाहिए।" यही मानव-जाति की शिक्षा का वातावरण बुनियादी-शिक्षा उत्पन्न करती है। वर्तमान काल की रूढ़िवादी शिक्षा बालक के मनोनुकूल वातावरण उपस्थित करने में असफल है। बालक की क्रियात्मक शक्ति को उपयोग में लाने के लिए उपयुक्त वातावरण बुनियादी-शिक्षा ही उत्पन्न कर सकती है।

बालक के सद्गुण शिक्षा के प्रभाव से ही प्रकाशित होते हैं। हेगल महाशय ने लिखा है—"पाठशाला-कक्ष की उन्नति में हम रेखाचित्रों के रूप में संसार की शिक्षा का मार्ग देख सकते हैं।" बुनियादी-शिक्षा इसी रूप में वातावरण उपस्थित कर व्यक्ति के विकास का प्रयत्न करती है। इस प्रकार बुनियादी-शिक्षा द्वारा उपस्थित वातावरण बालक के सम्यक् विकास का सफल प्रयत्न करता है।

सिद्धान्तों का निष्कर्ष—उपरोक्त संपूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों ही बालक के सम्यक् विकास के लिए आवश्यक हैं। बालक में कुछ जन्मजात विशेषतायें होती हैं और शेष वातावरण के कारण निर्मित होती हैं। अपनी रुचि के अनुसार वातावरण प्राप्त करने वाले बालक ही उन्नति करते हैं। साधारण परिवार का बालक भी सद्वातावरण में रहकर चमत्कारी बन सकता है। परन्तु वंशानुक्रम और वातावरण दोनों एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। वंशानुक्रम के आधार पर यदि किसी बालक की बुद्धि लब्धि ७० है तो कैसा भी

उपयुक्त वातावरण क्यों न हो उसे १३० नहीं बनाया जा सकता। केवल उस बालक की बुद्धि का विकास ६० बुद्धि लब्धि तक ही किया जा सकता है।

पर यह सत्य है कि वातावरण बालक के विकास पर मार्मिक प्रभाव डालता है। यदि भारतीय बच्चों को जन्मते ही तुरन्त विलायत भेज दिया जाय तो वे अंग्रेज बन जायेंगे। यद्यपि वंशानुक्रम की विशेषतायें अवश्य बनी रहेंगी इसलिए वातावरण का प्रभाव अवश्य स्पष्ट दिखाई देगा। अतः शिक्षा और शिक्षक ही उपयुक्त वातावरण उपस्थित करके बालक का समुचित विकास करने में सफल हो सकते हैं।

सारांश

वंशानुक्रम—बालकों में वंशानुक्रम का प्रभाव अवश्य विद्यमान होता है। यह विवादास्पद है कि केवल पूर्वजों के पीढ़ी-दर-पीढ़ी आने वाले गुण ही धरोहर रूप में विद्यमान होते हैं अथवा माता-पिता के जीवन काल में अर्जित गुण भी विद्यमान होते हैं।

वंशानुक्रम के नियम—

(१) कोटाणु की निरन्तरता।

(२) अर्जित गुणों का विस्मरण।

(३) शुद्ध जाति की अमरता।

वंशानुक्रम तथा बुनियादी-शिक्षा—बुनियादी-शिक्षा बालक के वंशानुक्रम के अनुकूल शिक्षा देने का प्रयत्न करती है।

वातावरण का प्रभाव—वातावरण का प्रभाव भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इस विषय में फ्रेंडोल महाशय और बेलोल महाशय के अध्ययन सारगर्भित हैं।

वातावरण और बुनियादी-शिक्षा—बालक की क्रियात्मक शक्ति को उपयोग में लाने के लिए बुनियादी-शिक्षा उपयुक्त वातावरण उपस्थित करती है।

सिद्धान्तों का निष्कर्ष—वंशानुक्रम एवं वातावरण एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन नहीं करते पर दोनों बालक का विकास निर्धारित करते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) सिद्ध कीजिए कि बालक के जीवन पर वंशानुक्रम का गहरा प्रभाव होता है।

(२) वंशानुक्रम के कौन-कौन से नियम हैं ? "पिता के अर्जित गुणों की उसकी सन्तान में विद्यमानता रहती है" क्या आप इससे सहमत हैं ? क्यों ?

(३) बालक के जीवन पर वंशानुक्रम का प्रभाव अधिक होता है अथवा वातावरण का; स्पष्ट कीजिए।

(४) बुनियादी-शिक्षा का अध्यापक बालकों के सम्यक् विकास के लिए कैसे वातावरण का निर्माण करेगा।

—:०:—

मूल प्रवृत्तियाँ

बालक के विकास के दो ही आधार हैं। प्रथम वंशानुक्रमगत विशेषतायें, द्वितीय वातावरण से प्राप्त विशेषतायें। इस प्रकार बालक का जीवन दो प्रकार के व्यवहारों से संचालित होता है। एक तो वंशानुक्रमगत अर्थात् जन्मजात व्यवहार और दूसरा वातावरण से प्राप्त अर्थात् अर्जित व्यवहार। जन्मजात व्यवहार भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो सहज क्रियायें दूसरी मूल प्रवृत्तियाँ। इसी प्रकार अर्जित व्यवहार भी दो प्रकार के होते हैं। एक आदत और दूसरा व्यवसायात्मक (सोच समझ कर किए गए) कार्य। इसको इस प्रकार और स्पष्ट किया जा सकता है।
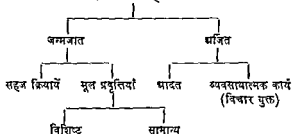
इस प्रकार मनुष्य की सब क्रियायें इन चारों भागो मे विभाजित हो गईं—(१) सहज क्रियायें, (२) मूल प्रवृत्तियाँ, (३) आदतें, (४) व्यवसायात्मक कार्य। इनमें से प्रथम दो अर्थात् सहज क्रियायें और मूल प्रवृत्तियाँ प्रत्येक प्राणी में पाई जाती हैं और शेष दो अर्थात् आदत और व्यवसायात्मक कार्य मनुष्य के जीवन में ही देखे जाते हैं। बालक के जीवन में सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों की प्रधानता रहती है पर ज्यों-ज्यों उसका विकास होता जाता है, आयु बढ़ती है, त्यों-त्यों विचारमय कार्य और आदतें प्रधान बनती जाती हैं।

सहज क्रियायें—प्रकृति ने बालक को कार्य करने की बहुत थोड़ी योग्यता दी है जिससे वह प्रारम्भ में बिना सिखाए ही जीवन चला सके। वस्तुतः बालक के जीवन का विकास उसकी शिक्षा-दीक्षा पर ही अवलंबित है। बालक को साधारण से साधारण बातें भी दूसरों से सीखनी पड़ती हैं तभी उसका जीवन सफलता की ओर अग्रसर होता है।

इतना होते हुए भी कुछ ऐसी क्रियायें हैं जिन्हें बालक को सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती वरन् शरीर रक्षा के लिए समय आने पर स्वतः कार्यान्वित हो

जाती हैं। जैसे पलक गिरना, छींक आना, खुजलाना आदि। इस प्रकार की सहज क्रियाओं में दिमाग का कुछ कार्य नहीं होता। मस्तिष्क से सोच कर पलक बन्द नहीं किए जाते या सोचकर छींका नहीं जाता। इसी प्रकार लार आना, माँ का दूध पीना आदि कई सहज क्रियायें हैं जो बालक के पैदा होने के समय से ही कार्य आरम्भ कर देती हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि सहज क्रियाओं में परिवर्तन संभव नहीं होता। पर कुछ प्रयोगों ने परिवर्तन संभव कर दिया है। खाने को देखते ही मुँह में *लार आना सहज क्रिया है। रूस के एक मनोवैज्ञानिक पावलोव ने कुत्तों का प्रयोग* किया। कुत्ते को घंटे की ध्वनि के साथ खाना दिया जाता था। धीरे-धीरे केवल घण्टे की ध्वनि पर ही कुत्ते के मुँह में लार आने लगी थी। इसी प्रकार जोर की ध्वनि सुनकर हम अनायास ही उधर देखते हैं। पर बार-बार निरर्थक आवाजें आने पर हमारा ध्यान उन ओर नहीं जाता। इस प्रकार के अनेक परिवर्तन बालकों की क्रियाओं में होते रहते हैं।

सहज क्रियाओं का जीवन में बड़ा महत्त्व है। बालक के प्रारम्भिक जीवन का संचालन केवल सहज क्रियाओं पर ही होता है। यदि माता-पिता की अज्ञानतावश बालक की किसी सहज क्रिया को रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो उनका घातक दुष्परिणाम उठाना पड़ता है। उदाहरणार्थ—एक परिवार में बालक के पंचवें में *उत्पन्न होने पर उसे माता के स्तन से दूध न देकर रुई के फोहे से पाँच दिन तक दूध* दिया गया। छठे दिन जब माता ने अपना स्तन बच्चे के मुँह में दिया तो स्तन चूसने की सहज क्रिया लोप हो जाने के कारण बालक स्तन चूस न सका। कुछ काल के बाद बच्चा मर गया। माता के स्तनों में पीड़ा के कारण चिकित्सा करानी पड़ी।

अतः बालक की सहज क्रियाएँ उपेक्षणीय नहीं हैं। वरन् उन पर ध्यान *दिया जाना आवश्यक है जिससे बालक के विकास में कोई रुकावट उत्पन्न न हो* सके।

मूल प्रवृत्तियाँ—बालक की जन्मजात प्रवृत्तियों में सहज क्रियाओं के साथ-साथ मूल प्रवृत्तियाँ भी होती हैं। बालक की ये मूल प्रवृत्तियाँ या नैसर्गिक आदतें जन्म से ही उसके साथ होती हैं और इनके विकास पर ही बालक के जीवन का विकास अवलम्बित है। वास्तव में ये मूल प्रवृत्तियाँ प्राणी की वे आदतें हैं जो उसे वंश परम्परानुसार पूर्वजों से प्राप्त हुई हैं। पशुओं के संपूर्ण जीवन का संचालन ये ही मूल प्रवृत्तियाँ करती हैं। बालक आरम्भ में पशु की *स्थिति में ही रहता है अतः* उसके जीवन में भी मूल प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा रेशम पैदा करता है, पक्षी घोंसला बनाता है और पर आने पर उड़ने लगता है, उसी
की उचित समय आने पर खेलना, लड़ना, संग्रह करना, बनाना आदि
[illegible] करने लगता है। बालक की इस प्रकार की क्रियाओं को मूल
[illegible] है।

मूल प्रवृत्ति एक परम्परागत या स्वाभाविक संस्करण, मनोग्रंथि अथवा मनोव्यवस्था है जो किन्ही विशेष पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट रीतियों के अनुसार व्यवहार कराती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैन के अनुसार "प्रवृत्तियाँ मन की पृथक् शक्तियाँ नहीं मानी जाती वरन् प्राणी को अपने वातावरण के समझने और उसके अनुसार क्रियाशील होने की सामान्य शक्ति के स्थानीय भेदीकरण मानी जाती हैं।"

मूल प्रवृत्ति का तथा सवेगो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संवेगात्मक अनुभव के आवश्यक तत्व को छोड़ देने पर मूल प्रवृत्ति की परिभाषा अधूरी मानी जायगी। मैकडूगल का कथन है—"मूल प्रवृत्ति वह जन्मजात मानसिक प्रवृत्ति है, जिसके कारण प्राणी का ध्यान विशेष वस्तु की ओर आकर्षित होता है, एवं उसकी उपस्थिति में वह विशेष प्रकार के सवेगों का अनुभव करता है, और जिसके कारण विशेष प्रकार की क्रियात्मक प्रवृत्ति उसके मन में जाग्रत होती है तथा किसी कार्य के रूप में स्फुरण पाती है।" इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मूल प्रवृत्तियों का एक ओर प्राणी की ज्ञानात्मक और दूसरी ओर उसकी संवेगात्मक प्रवृत्तियों से घनिष्ट सम्बन्ध है। बालक के ज्ञान के विकास मे उसकी मूल प्रवृत्तियाँ बड़ी सहायता देती हैं।

विशिष्ट एवं सामान्य मूल प्रवृत्तियाँ—मूल प्रवृत्तियों को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम विशिष्ट तथा द्वितीय सामान्य। विशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ उन्हे कहते हैं जिनके साथ सम्बन्धित संवेग का सम्बन्ध हो तथा मूल प्रवृत्तियाँ उन्हें कहते हैं जिनके साथ उद्वेगो या सवेगों का सम्बन्ध नहीं होता।

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ—किसी भी मनःव्यवस्था को मूल प्रवृत्ति कहे जाने के लिए उसका जन्मजात होना आवश्यक है, जो उसकी जाति के सभी सदस्यों मे पाई जाती हो।

यों तो विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों की संख्या भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों द्वारा भिन्न-भिन्न बताई गई है जो ३ से लगाकर ४० तक हैं। मैकडूगल महाशय ने मनुष्यों में १४ विशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ बताई हैं जिन्हें ३ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) वित्तैषणा (आत्मरक्षा सम्बन्धी)—
- (क) भोजन ढूंढना
- (ख) भागना
- (ग) लड़ना
- (घ) उत्सुकता
- (ङ) विकर्षण (घृणा)
- (च) संग्रह
- (छ) रचना
- (ज) शरणागत होना

(२) पुत्रैषणा (संतानोत्पत्ति संबन्धी)—
- (झ) काम-प्रवृत्ति
- (ञ) शिशु-रक्षा

(३) लोकैषणा (समाज सम्बन्धी)—
- (ट) दूसरों की चाह
- (ठ) विनीत भाव
- (ड) आत्मन प्रकाश
- (ढ) हँसना

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों की विशेषतायें—इन मूल प्रवृत्तियों में निम्नलिखि विशेषतायें पाई जाती हैं :—

(१) मूल प्रवृत्तियां बालक में जन्म से ही होती हैं। वह उन्हें किसी से न सीखता। जैसे बादल की गर्जना पर माँ से चिपटना, नई वस्तु को ध्यान-पूर्वक देखक जिज्ञासु बनना आदि।

(२) सब मनुष्यों में चाहे वे किसी भी देश अथवा जाति के हों समान मू प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। एक दूसरे में मात्रा की दृष्टि से अन्तर अवश्य हो सकता है जैसे कोई अधिक जिज्ञासु, भयग्रस्त हो सकता है और कोई कम।

(३) सभी मूल प्रवृत्तियां जन्म-जात होते हुए भी सब एक साथ प्रकट न होतीं। ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता है एक-एक करके बच्चे के व्यवहार में प्रकट हो लगती हैं। जैसे वस्तुयें संग्रह करने की प्रवृत्ति ३-४ वर्ष की आयु में प्रक होती है।

(४) इन मूल प्रवृत्तियों का वेग प्रकट होने के समय, तीव्र होता है। अ बढ़ने के साथ वेग कम होता जाता है जैसे, जिज्ञासा बाल्यावस्था में अधिक होती और वृद्धावस्था में कम।

(५) बालक को मूल प्रवृत्तियों के अनुसार चलना अति सरल है परन्तु उन विरुद्ध बालक को चलाना अत्यन्त कठिन है; साथ ही निरर्थक भी।

(६) इन मूल प्रवृत्तियों को रोका नहीं जा सकता और यदि किसी कारण रुक गई तो उसका भयंकर दुष्परिणाम निकलता है।

(७) इन मूल प्रवृत्तियों को शिक्षा के सहारे रूपान्तरित करने पर बालक बहुत अच्छा विकास हो सकता है।

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन (रूपांतर)—मूल प्रवृत्ति के व्यवहार सामाजिक व्यवहार में बदलने की क्रिया को परिवर्तन या रूपान्तर कहते हैं। पशु की मूल-प्रवृत्तियों में परिवर्तन बड़ी कठिनता से किया जा सकता है। मनुष्य की मू प्रवृत्तियों का रूपान्तर सरल है। इसी कारण बालक प्रारम्भ में पशु-पक्षियों के बच्च से भी अधिक असहाय होने पर भी, उचित वातावरण प्राप्त कर कठिन से कठि कार्य के करने की भी क्षमता प्राप्त कर लेता है। अतः माता-पिता तथा शिक्षक यह कर्तव्य है कि बालक के स्वभाव को अच्छे ढंग से पहचानें और उसकी मूल प्रवृत्तियों को उसके मनोविकास के लिए परिवर्तित या रूपान्तरित करें।

बालक की मूल प्रवृत्तियों का रूपान्तरण निम्नलिखित चार प्रकार से होन सम्भव है—

(१) दमन, (२) विलयन, (३) मार्गान्तरीकरण, (४) उत्कर्षण।

इन चारों रीतियों में से एक स्थान पर एक ही रीति से काम लिया जा सकत है। जहाँ दमन से काम चल सकता है वहाँ विलयन से कार्य न बनेगा।

(१) **दमन**—प्रवृत्तियाँ सदा ही सुख-दुःख विनियमन के आधार पर परिवर्ति

होती हैं। अर्थात् जिस प्रवृत्ति के प्रकाशन से सुख मिलता है वह सबल होती जाती है। जिस प्रवृत्ति के प्रकाशन से दुःख का अनुभव होता है वह शिथिल हो जाती है। अतः जिस प्रवृत्ति को सबल बनाना है उसके लिए पारितोषिक आदि देकर सबल बनाया जा सकता है पर निर्बल बनाने के लिए इसके विपरीत कार्य करना चाहिए।

मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में माता-पिता या अभिभावक बालक की उन प्रवृत्तियों का दमन करना प्रारम्भ कर देते हैं जो उनकी दृष्टि से अवांछनीय होती हैं जैसे—खेलने, तोड़ने-फोड़ने या संग्रह की प्रवृत्ति का दमन करते हैं। जिसके कारण बालक धूर्त, झूठा और चोर बन जाता है अथवा दब्बू, मनहूस और प्रतिभाहीन हो जाता है।

दमन की रीति को काम में लेने से प्रायः अनिष्टकारी फल देखे गये हैं। अतः जहाँ तक हो सके इस रीति को प्रयोग में न लाना चाहिए। रोकने से चाहे कोई मनोवृत्ति थोड़े दिनों तक भले ही दबी रहे, पर यह मानना कि वह नष्ट हो जाएगी, ठीक नहीं। वह समय पाकर पुनः भड़क सकती है।

(२) विलयन—जिस प्रवृत्ति को बदलना चाहते हैं उसके ठीक प्रतिकूल प्रवृत्ति को उभार दिया जाना चाहिए। इसे विरोध या विलयन कहते हैं। जैसे झगड़ालू प्रवृत्ति को कम करने के लिए उसकी सामाजिक भावना को उसी समय उत्तेजित करना चाहिए जबकि उसकी लड़ने की भावना जागरूक है। कामुकता की प्रवृत्ति को रोकने के लिए उसी समय घृणा की प्रवृत्ति को उत्तेजित कर देना चाहिए।

प्रवृत्ति को बदलने की दूसरी रीति है निरोध अर्थात् प्रवृत्ति को उत्तेजित होने का अवसर ही न दिया जाए। विलियम जेम्स का कथन है कि मूल प्रवृत्तियों का उपयोग न करने से वे नष्ट हो जाती हैं। यद्यपि यह विवादस्पद है फिर भी यह तो सत्य है कि उनका बल क्षीण हो जाता है, वे मृतप्राय हो जाती हैं। जैसे लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति को कम करने के लिए बालक के जीवन में ऐसी परिस्थिति ही नहीं आने देना चाहिए जिससे यह प्रवृत्ति उत्तेजित हो।

(३) मार्गान्तरीकरण—संग्रह करने की प्रवृत्ति को उपयोगी वस्तुओं के संग्रह में लगाया जाना चाहिए जैसे टिकट-संग्रह, चित्र-संग्रह आदि। बालकों की संग्रहीत वस्तुओं की प्रदर्शनियाँ सजा कर इस प्रवृत्ति को उत्तेजित किया जा सकता है जिससे बालक निरर्थक वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति को छोड़ दे। इस प्रकार मूल प्रवृत्ति को उपयोगी कार्य में लगाया जा सकता है।

(४) उत्कर्षण—किसी मूल प्रवृत्ति का समाजोपयोगी कार्य में रूपान्तर शोध उत्कर्षण कहलाता है। जैसे कामुकता की प्रवृत्ति कला में परिणत हो जाए तो उसे शोध या उत्कर्षण कहेंगे। सभ्यता का विकास मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का उत्कर्षण है।

सारांश

बालक के विकास के दो ही आधार हैं, प्रथम वंशानुक्रमागत विशेषताएँ तथा

द्वितीय वातावरण से प्राप्त विशेषतायें। वंशानुक्रमागत विशेषतायें दो प्रकार की हो हैं, प्रथम सहज क्रियायें और द्वितीय मूल प्रवृत्तियां।

सहज क्रियायें—बिना सिखाये शरीर रक्षा के लिए स्वतः कार्यान्वित हो वाली क्रियाओं को सहज क्रियायें कहते हैं।

मूल प्रवृत्तियां—ये बालक की नैसर्गिक आदतें हैं। मूल प्रवृत्ति वह जन जात मानसिक प्रवृत्ति है जिसके कारण प्राणी का ध्यान विशेष वस्तु की ओर आकर्षि होता है एवं उसकी उपस्थिति में वह विशेष प्रकार के संवेगों का अनुभव करता है

विशिष्ट एवं सामान्य मूल प्रवृत्तियां—मूल प्रवृत्तियों को दो भागों विभक्त किया जा सकता है : प्रथम विशिष्ट एवं द्वितीय सामान्य।

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियां—मेकडूगल ने विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों की संख १४ बताई है।

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों की विशेषतायें—(१) जन्म-जात होती हैं (२) सभी मनुष्यों में सामान्य मूल प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। (३) सभी मूल प्रवृत्ति एक साथ प्रकट नहीं होतीं। (४) इनका वेग प्रकट होने के समय तीव्र होता है (५) इनके अनुसार बालक को चलाना सरल है पर विपरीत चलाना कठिन है (६) इनका दमन नहीं किया जा सकता।

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन—

मूल प्रवृत्ति के व्यवहार को सामाजिक व्यवहार में बदलने की क्रिया परिवर्तन या रूपान्तर कहते हैं। यह चार प्रकार से सम्भव है :—

(१) दमन—पारितोषिक आदि देकर किसी प्रवृत्ति को सबल बनाया सकता है और भिड़कने, दण्ड देने, धिक्कारने से उसे निर्बल बनाया जा सकता है पर इसके अनिष्टकारी फल प्राप्त होते हैं।

(२) विलयन—जिस प्रवृत्ति को बदलना चाहते हैं उसके ठीक प्रतिकू प्रवृत्ति को उभारना विलयन कहलाता है।

(३) मार्गान्तरीकरण—उपयोगी कार्य में लगाने को मार्गान्तरीकरण कहते हैं।

(४) उत्कर्षण—किसी मूल-प्रवृत्ति का समाजोपयोगी कार्य में रूपान्त उत्कर्षण कहलाता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) मूल-प्रवृत्तियाँ किसे कहते हैं? विशिष्ट मूल-प्रवृत्तियों और सामान्य मूल-प्रवृत्तियों क्या अन्तर है?

(२) विशिष्ट मूल-प्रवृत्तियाँ कितने प्रकार की होती हैं? उनके रूपान्तर के लिए कौन-कौ से प्रयोग काम में लाये जा सकते हैं?

—:०:—

अध्याय

२८

कतिपय विशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ एवं उनका बुनियादी शिक्षा द्वारा विकास

मूल प्रवृत्तियों को यद्यपि शिक्षा द्वारा आमूलचूल परिवर्तित नहीं किया जा सकता पर उनके आधार पर शिक्षा प्रदान की जा सकती है। इन्हीं के आधार पर बालक का विकास किया जा सकता है। विभिन्न मूल प्रवृत्तियों के विकास के लिए बुनियादी शिक्षा सचेष्ट है। यह सर्वमान्य है कि बालक के विकास में मूल प्रवृत्तियों का सुन्दर ढंग से उपयोग किया जाना चाहिये। तभी बालक का सम्यक विकास हो सकता है। बालक की कुछ मूल प्रवृत्तियों के रूपान्तर के विषय मे यहाँ सुझाव दिये जाते हैं।

उत्सुकता

उत्सुकता का स्वरूप—बालक प्रत्येक नई बात जानने को उत्सुक रहता है। नवीन वस्तु देखकर वह उसे छूने का प्रयत्न करता है। उसे देखकर प्रसन्न होता है, यदि बालक बोलने लग गया हो तो उसके विषय में प्रश्नों की झड़ी लगा देता है। वह अपने ज्ञान को विस्तृत करने के लिए बड़ा उत्सुक रहता है। बालक की उत्सुकता की प्रवृत्ति ही उसके ज्ञान प्राप्ति मे सहायक होती है।

उत्सुकता की प्रवृत्ति के दमन के दुष्परिणाम—जब बालक प्रश्नों की झड़ी लगा देता है तो माता-पिता या अभिभावक डाँट-डपट कर उसे चुप कर देते हैं। समझते हैं कि बालक व्यर्थ ही उन्हें तंग करता है। अतः वे उसे डाँट देते हैं। प्रकार उसकी उत्सुकता का दमन बालक के लिये अनिष्टकारी है। ऐसे अवसर पर धैर्य से कार्य लेना चाहिये। हमें दमन की जगह विलयन का प्रयोग करना चाहिए। बिना समझे-बूझे जिज्ञासा प्रवृत्ति के दमन के कारण बालक में अज्ञान भय दृढ़ स्थान जमा लेता है। ऐसा करने पर बालक उत्साह-हीन भी हो जाया करता है और शनैः शनैः जिद्दी व ढीठ बन जाता है।

उत्सुकता का बुनियादी शिक्षा में उपयोग—वैसे तो शिक्षा के क्षेत्र में उत्सुकता की महत्ता सभी स्वीकार करते हैं पर बुनियादी शिक्षा तो केवल ... को बढ़ाती है। उसका समाधान करती है और इसी प्रकार आगे बढ़ती है। रूढ़िवादी शिक्षा में पुस्तकों के आधार पर कक्षाध्ययन कराया जाता है जिसमें बालकों की उत्सुकता को न तो प्रोत्साहन ही मिलता है और न ही उसकी उत्सुकता का कोई समाधान ही उन्हें प्राप्त होता है। बालक तो कक्षा में गौण रूप ... केवल सुना करता है।

वस्तु-ज्ञान सम्बन्धी

से परिचय प्राप्त करना चाहता है। तत्पश्चात् उसकी जिज्ञासा-क्रिया ज्ञान सम्ब होती है जिसमें बालक दृष्टिगत होने वाले उपकरणों की क्रिया जानने को उत्सुक हो है जैसे चिड़िया बोलकर किसको बुला रही है ? और क्यों नाच रहा है ? इसके ब विशेषण-ज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जैसे यह वस्तु कैसी है ? और तब विशे त्यात्मक विचार-शक्ति उत्पन्न होकर तुलना करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। बाल सब पदार्थों के भूत और भावी रूपों और क्रियाओं को भी जानना चाहता है।

इस प्रकार के जिज्ञासा क्रम में शिक्षक बड़ी सहायता कर सकता है। उत्पन्न करना शिक्षक का प्रमुख कार्य है। किसी भी पाठ के पढ़ाने में यदि बालक जिज्ञासा-प्रवृत्ति को उत्तेजित न किया और उसके पढ़ने में यदि बालक की रुचि न रहे तो शिक्षक का पाठ पढ़ाना असफल रहेगा। ऐसे समय में अध्यापक को उत्सुकता संवेग आश्चर्य उत्पन्न करने का सहारा लेना पड़ेगा। आश्चर्य और कौतूहल पाठ की सफलता के प्रमुख अंग हैं। यह अवश्य है कि पढाये जाने वाले पाठ से बालक परिचित अवश्य हो। परिचित वस्तु के विषय में अधिकाधिक जिज्ञासापूर्ण अज्ञात बातों को जानने की उत्सुकता बालकों में अधिक होती है। अतः बालक के पूर्वज्ञान से अध्यापक का परिचित होना आवश्यक है।

उत्सुकता के लिए यह आवश्यक है कि पाठ का समय इतना ही निश्चित हो कि जितने समय में पाठ समाप्त भी हो जाय और बालक समय से पहले न उब जाएँ, क्योंकि बालकों की रुचि पाठ में अधिक समय तक नहीं रहती। बालकों के पूर्वज्ञान का प्रयोग नवीन ज्ञान की प्राप्ति हेतु करते हुए निश्चित समय में ही पाठ को समाप्त [illegible] ही यह पाठ सफल हो सकता है।

ध्वंसात्मक और दूसरा रचनात्मक। बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति एक वर्ष क
से ही अपने लक्षण दिखाने लगती है। बालक घुटनों के बल अथवा खड़ा होकर
उधर घूमता है और वस्तुओं के पास जाकर उन्हें उलट-पलट कर उन्हीं से न
निर्माण करना चाहता है। चाहे उसे नई वस्तु के निर्माण के लिए उस वस्तु के
ही क्यों न करने पड़ें। इस प्रकार के टुकड़े करने की प्रवृत्ति प्रौढ़ों की दृष्टि
ध्वंसकारी है पर उस अबोध शिशु की दृष्टि में तो वह निर्माणकारी है। किसी
के हाथ में एक छोटी-सी पुस्तक पड़ते ही वह उसे फाड़कर दो कर देगा औ
प्रसन्नता से पिता या माता के पास जाकर बोलेगा—"लो देखो मैंने इसकी दो क
हमारी दृष्टि से तो बालक ने पुस्तिका को फाड़ डाला पर वस्तुतः बालक ने तो रच
कार्य किया है। उसे पुस्तक फाड़ने का रंज नहीं पर एक की दो पुस्तकें बना
प्रसन्नता है। अतः रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रथम रूप ध्वंसात्मक है और दूसरा
त्मक। प्रथम रूप दूसरे का अविकसित रूप मात्र है।

रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास की अवस्था—एक वर्ष की अवस्था से
मूल प्रवृत्ति विकास प्राप्त करना प्रारम्भ करती है। जब रचनात्मक प्रवृत्ति क
हो तब ही से बालक को खेलने के लिए अनेक पदार्थ देने चाहिएँ। खिलौने ऐसे
चाहिएँ जिनसे नई वस्तुओं की रचनायें सम्भव हों। जैसे लकड़ी के ऐसे खिलौने
बालक नया घर बना सके, नया कमरा, चूल्हा आदि बना सके। बालक धूल या
मिट्टी के अनेक खिलौने जैसे घर, मन्दिर, चूल्हे, मटके आदि बनाते हैं। कई मात
बच्चों की इस प्रकार की प्रवृत्ति का दमन करते हैं। उन्हें मैले-कुचैले न होने
लिए मिट्टी से खेलने से रोकते हैं। यह अनुपयुक्त है। अभिभावकों, माता-पित
शिक्षकों को चाहिये कि बालकों की इस प्रवृत्ति के विकास के लिए कागज
खिलौने स्वयं उनके समाने बनावें ताकि बालक नकल कर स्वयं खिलौने बनाना
आवश्यकतानुसार बालकों को खिलौने बनाना सिखाना चाहिये। जापान के
बालकों की रचनात्मक प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर सदुपयोग कर रहा है। वहाँ के
ऐसे सुन्दर खिलौने बनाते हैं जो हमारे देश तथा अन्य देशों में भी बिकने के लि
जाते हैं। रचनात्मक प्रवृत्ति को उपयुक्त विकास-क्षेत्र न मिलने पर बालक
विश्वासहीन तथा परावलम्बी बन जाता है।

रचनात्मक प्रवृत्ति और कल्पना का विकास—रचनात्मक प्रवृत्ति कल्प
विकास का सुन्दर साधन है। वस्तु को मूर्त रूप देने के पूर्व उसकी रूपरेखा
के रूप में मस्तिष्क में विद्यमान होती है। बालक घर बनाना चाहता है। जैस
बनाने की उसकी इच्छा है वैसे घर की आकृति, रूपरेखा, ढाँचा अपने मस्तिष्क
कल्पित कर लेता है। इस प्रकार रचनात्मक प्रवृत्ति बालक की कल्पना श
विकास करती है।

इस उद्देश्य का अभाव है जिसके कारण वर्तमान छात्र में समाज की रचनात्मक प्र
का विकास बिल्कुल ही नहीं होता। यही कारण है कि हमारे समाज में स्कू
निकलने के पश्चात् युवक अपने आपको अयोग्य पाता है। बुनियादी शिक्षा
आवश्यक अंग दस्तकारी है। *बुनियादी शिक्षा की दस्तकारियाँ कताई, बुनाई,*
मिट्टी का काम, कुट्टी का काम, कला का काम, सुनारी, लोहारी, पुस्तक-कला
सभी रचनात्मक मूल प्रवृत्ति के आधार पर निश्चित हैं। बुनियादी शिक्षा ही रचना
मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का पूरा अवसर प्रदान करती है। यही नहीं बालक
इस प्रवृत्ति को पाठशाला में पूर्ण विकास मिलता है और घर पर भी वह चुप ब
बेकार नहीं रहता वरन् उसकी यह प्रवृत्ति घर पर भी कार्यरत रहती है।

यों तो किंडर गार्टन, मांटेसरी पद्धतियाँ तथा प्रोजेक्ट व डाल्टन पद्धति
भी बालक की रचनात्मक मूल प्रवृत्ति के विकास को अवसर प्राप्त होता है।
बालकों के घरेलू व्यवसाय पर आधारित रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास का सर्वो
क्षेत्र बुनियादी शिक्षा ही में उपलब्ध हो सकता है।

संग्रह-प्रवृत्ति

संग्रह की प्रवृत्ति का रूप—थोड़ा बोध होते ही बालक में यह प्रवृति जा
हो जाती है। प्रारम्भ में यह प्रवृत्ति थोड़े समय के लिए ही रहती है। शिशु ने
वस्तु ले ली, यदि उससे उसी समय वापिस लेने का प्रयत्न किया जाए तो वह
देगा, पर थोड़ी ही देर में उस वस्तु से ध्यान हटने पर आप उससे वह वस्तु ले सकें

आयु के बढ़ने के साथ यह प्रवृत्ति दृढ़ होती जाती है और बालक घर के कि
कोने में तथा किसी डिब्बे या किसी पुरानी सन्दूकची में अपना कोष संग्रहीत कर
है। यह कोष बना है कांच के टुकड़ों से, इमली के बीजों से, चित्रों से, चमक
कागजों, सुन्दर कंकड़ों-पत्थरों आदि से। इस प्रवृत्ति के कारण ही बालक युवक
कर जीवन में धन संचय करता है, उसकी रक्षा करता है।

संग्रह की प्रवृत्ति का विकास—संग्रह की प्रवृत्ति का जब विकास प्रारम्भ हो
है तब बालक आवश्यक-अनावश्यक सभी वस्तुओं के संचय में तल्लीन हो जाता है
इस समय बालक पर बड़ा ध्यान रखने की आवश्यकता है क्योंकि इस प्रवृत्ति के कार
ही बालक चोरी करना, झूठ बोलना, कंजूसी करना, वस्तुओं को छिपाना आदि दुर्गु
को सीख लेता है। अतः इस प्रवृत्ति को अनियन्त्रित अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिये
पर साथ ही यदि इस प्रवृत्ति को उपयुक्त विकास न मिले तो बालक भावी जीवन
वस्तुओं का, धन का *संग्रह नहीं कर सकता और न ही किसी वस्तु को भली-भाँ*
रख सकता है। अतः जब तक यह प्रवृत्ति सामान्य मात्रा में रहती है तभी तक मनुष्
सफलता से जीवन व्यतीत कर सकता है।

बालक की संग्रह की प्रवृत्ति का माता-पिता, शिक्षक, *अभिभावक सभी को*
सदुपयोग करना चाहिये। बालक को देश-देश के डाक के टिकटों का संग्रह, चित्रों क
, सिक्कों का संग्रह आदि करना सिखाना चाहिये। बालक को दिये गये पैसों का

संग्रह कराकर बचत का स्वभाव डालने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही इस
का ध्यान रखना आवश्यक है कि बालको में ऐसी भावना भरी जाय कि उनका
न केवल उनके स्वयं के लिये ही है वरन् अन्य पुरुषो के लिये भी उसका उपयोग
अतः वह स्वार्थी न बने। इस प्रकार की भावना उसको संग्रहीत वस्तुओं को प्रद
अजायबघरों में रखवा कर उत्पन्न की जा सकती है।

संग्रह की प्रवृत्ति एवं बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा में संग्रह की प्र
के विकास का अत्यधिक क्षेत्र विद्यमान है। अपनी दस्तकारी सम्बन्धी विभिन्न
बालकों से कराये जाने चाहियें, जैसे कृषि की दस्तकारी सीखने वाले छात्रों से वि
फूल, पत्तियों का संग्रह कराया जा सकता है, फसल को नष्ट करने वाले विभिन्न
का संग्रह कराया जा सकता है, विभिन्न प्रकार के खादों का व मिट्टी का संग्रह क
जा सकता है। कताई, बुनाई, दस्तकारी वाले छात्रो से विभिन्न प्रकार के कपास,
बिनौले, तकली आदि का संग्रह कराया जा सकता है। विभिन्न अंकों के सूत का
विभिन्न कपड़ों का संग्रह आदि कई संग्रह कराये जा सकते हैं। इसी प्रकार
दस्तकारियों की विभिन्न वस्तुओं का संग्रह कराया जाना सम्भव है।

इस प्रकार संग्रह का क्षेत्र बुनियादी शिक्षा ही मे अधिक है, रूढ़िवादी
में कम। वैसे रूढ़िवादी शिक्षा के आधार पर भी संग्रह किये जाते हैं पर वे
के सीधे प्रयोग मे न आने के कारण छात्र उनके प्रति उपेक्षित ही रहते हैं, पर बुनि
शिक्षा प्राप्त करने वाले बालकों के लिये ये संग्रह उनके बड़े काम के होते हैं।
इस प्रकार के संग्रह करने में उन्हे आनन्द मिलता है। बुनियादी शिक्षा संग्रह-प्र
के लिए उपयुक्त क्षेत्र तैयार करती है। बालकों द्वारा संग्रहीत वस्तुओं का प्र
अध्यापक को अपने अध्यापन के समय करना चाहिए ताकि बालक अपने संग्रह
मूल्य समझ सकें।

यही नहीं बुनियादी शिक्षा में दस्तकारी सम्बन्धी सामग्रियों का संग्रह
भी छात्रों की अपनी व्यवस्था का एक अंग होता है जिससे बालक ठीक ढंग से
तकली आदि सामग्रियों को संग्रह करके रखते हैं। बुनियादी शिक्षा प्राप्त करते
छात्र योग्य शिक्षक के हाथों सुव्यवस्थित विकास प्राप्त करता है।

समूह-प्रवृत्ति

समूह-प्रवृत्ति का रूप—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अकेला कभी
रहता। किसी निर्जन स्थान में मनुष्य को यदि अकेला रहना पड़े तब वह उस अव
को एक प्रकार से दुखद मानता है। वैरागी तपस्वी ही वनों में अकेले रहते हैं।

बालक तो प्रारम्भ ही से आश्रित प्राणी है। वह प्रारम्भ मे माता-पिता
आश्रित रहता है और तत्पश्चात् समाज पर। समाज के बिना उसका कार्य
चलता। यदि किसी बालक को दण्ड देना हो तो उसे अकेला बैठा दीजिये। उस ब
को अत्यन्त दुःख होगा। इसका कारण उसकी समूह-प्रवृत्तियाँ ही हैं। समाज

समूह-प्रवृत्ति का विकास—वैसे तो यह प्रवृत्ति बालक के बोलना सीखने के साथ ही उदय हो जाती है पर इसका वास्तविक रूप बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था में ही लक्षित होता है। इस अवस्था में बालक समूह में रहना पसन्द करता है। इनका अपना समूह या समाज हो जाता है। इसी अवस्था में बालकों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, नेतृत्व तथा आज्ञाकारिता एवं लगन की भावनाएं गतिशील होती हैं।

ऐसे समय में बालक के विकास का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। समूह-प्रवृत्ति के द्वारा बालक अपने समूह में सम्मिलित होकर बगीचों में घुस कर चोरियाँ करने लग जाते हैं। कभी-कभी खोंमचे वाले को लूट लेते है। किसी भिखारी के पीछे पड़ जाते हैं। इस प्रकार अनैतिक कार्य करने लग जाते हैं।

अभिभावकों, माता-पिताओं और शिक्षकों को चाहिए कि बालकों की इस प्रवृत्ति का विकास सुन्दर ढंग से होने दें जिसके कारण बालक व्यवस्थित व्यक्ति बन सके। इस प्रवृत्ति के विकास के लिए सुविधाएँ दी जानी चाहिएं। समूह में होने वाले कार्यों में बालकों को भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए। स्काउटिंग, एन० सी० सी०, रेड क्रास, फर्स्ट एड, वन भ्रमण, खेल आदि के द्वारा बालकों में मिलकर काम करने और दूसरों की सहायता करने का ढंग सिखलाया जाता है। इस प्रकार बालकों की इस प्रवृत्ति से सुन्दर ढग का विकास किया जा सकता है।

समूह-प्रवृत्ति एवं बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा समूह-प्रवृत्ति के विकास के लिये अत्युत्तम क्षेत्र तैयार करती है। बालक अपनी पाठशाला में मिल-जुलकर दस्तकारी का काम करते हैं। कक्षा के बालकों को ३ या ४ टोलियों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक टोली की अपनी क्यारी होती है। उस क्यारी में सभी मिल-जुलकर कार्य करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक दस्तकारी में बालक समूह में रहकर कार्य करता है। वे एक दूसरे के सन्निकट आते हैं और साथ ही नेतृत्व सीखते हैं। टोली-नायक की आज्ञा का पालन करने से उनमें आज्ञाकारिता की भावना सुन्दर ढंग से गतिशील होती है।

पाठशाला में बच्चों की छोटी-छोटी सभायें बनाई जा सकती हैं। बालक स्वयं अपने नेता चुन सकते हैं। ये सभायें, नाटक, ग्राम-सुधार, संगीत, साप्ताहिक सभा आदि आयोजन कर अपनी समूह प्रवृत्ति को एक सुव्यवस्थित प्रवाह दे सकती हैं। बुनियादी शिक्षा का शिक्षक इन बालकों के लिए सुन्दर वातावरण उपस्थित कर उनका पथ-प्रदर्शन कर सकता है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा बालकों की समूह प्रवृत्ति के प्रवाह को ठीक दिशा में बहाती है।

स्वस्थापन अथवा आत्मगौरव

आत्मगौरव का ढंग—यह एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति समूह से सम्बन्धित है। यह अपने से निम्न साथियों को देखकर जाग्रत होती है। इसका रूप होता है आत्म-प्रदर्शन, बल का प्रदर्शन अथवा अपना बड़प्पन दिखाना। यह एक

सामाजिक प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि दूसरे उसका सम्मान करें, उसकी ओर ध्यान दें।

बालक प्रारम्भ ही से दूसरे व्यक्तियों के ध्यान का आकर्षण बनना चाहता है। वह चाहता है कि सब उसकी प्रशंसा किया करें। उसी की ओर ध्यान लगाए रहें। कभी-कभी इस दृष्टि से बालक ऐसे कार्य करता है कि बैठे हुये व्यक्तियों का ध्यान एकायक उसकी ओर आकृष्ट होता है। यही प्रवृत्ति आगे जाकर मनुष्य से ऐसे कार्य कराती है कि जिससे मृत्यु के पश्चात् भी उसकी स्मृति बनी रहे।

आत्मगौरव का विकास—बालक में बहुत छोटी अवस्था से ही यह प्रवृत्ति कार्य करने लग जाती है। हर बालक यह चाहता है कि लोग उसके कार्यों को देखें और उसकी प्रशंसा करें। बालकों का संगीत गाना, कविता बोलना, कहानी कहना, भाषण देना आदि सभी इसी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। जिस बालक में इस प्रवृत्ति की कमी होती है वह कभी आगे बढ़ने की चेष्टा नहीं करता।

जब यह प्रवृत्ति विकासोन्मुख होती है और इसे उपयुक्त नियन्त्रण न मिले तो यह अनुचित मार्ग ग्रहण कर लेती है। इसके फलस्वरूप बालक नटखट, चुगलखोर, निन्दनीय कार्य करने वाला बन जाता है। इस प्रकार अनुचित तथा अनैतिक कार्यों द्वारा ही कुख्याति प्राप्त करने लग जाता है।

इस प्रवृत्ति का यदि दमन कर दिया जाए तो व्यक्तित्व का उत्तम विकास नहीं हो पाता। वह अपना आत्म-विश्वास खो बैठता है। वह शिथिल और शक्ति-हीन दिखाई देने लगता है।

आत्मगौरव एवं बुनियादी शिक्षा—रूढ़िवादी शिक्षा बालकों की आत्मगौरव प्रवृत्ति का इतना विकास नहीं कर पाती जितना बुनियादी-शिक्षा। बुनियादी शिक्षा बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति, समूह प्रवृत्ति और आत्मगौरव प्रवृत्ति का सुसमन्वय करती है। बुनियादी शिक्षा में रचनात्मक प्रवृत्ति के अनुसार वस्तु के रचने की, उत्पन्न करने की प्रसन्नता के साथ आत्मगौरव की प्रवृत्ति के लिये उचित विकास प्राप्त होता है। बालक आत्मविश्वास के साथ यह कहता है, यह सूत मैंने काता है। यह तरकारी मैंने उत्पन्न की है। यह आत्म-प्रदर्शन तथा आत्मगौरव बालक के विकास का अच्छा ढंग है। इससे बालक में न तो झूठा अभिमान ही उत्पन्न होता है और न द्वेष और न ईर्ष्या की भावना ही। बुनियादी-शिक्षा का शिक्षक बालकों का सम्यक् पथ-प्रदर्शन कर उनके साहस का वर्धन करता है जिससे बालक के व्यक्तित्व का सुसंगठित विकास हो जाता है।

युयुत्सा या द्वन्द्व-प्रवृत्ति

द्वन्द्व-प्रवृत्ति का रूप—द्वन्द्व-प्रवृत्ति आत्मरक्षा का रूप है। अपने अधिकारों का हनन किसे सहन हो सकता है। चाहे वह बालक हो अथवा प्रौढ़। बालक के भी अपने अधिकार हैं और उन अधिकारों पर किसी प्रकार के आक्षेप पर उसकी झगड़ने की, कलह की प्रवृत्ति उत्तेजित हो जाती है। ज्यों-ज्यों बालक को अपने बल का अनु-

भव बढ़ता प्रतीत होता है त्यों-त्यों उसकी द्वन्द्व-प्रवृत्ति भी उसे अपने विरोधियों से लड़ने को प्रेरित करती है।

द्वन्द्व-प्रवृत्ति का विकास—द्वन्द्व-प्रवृत्ति ध्वंसात्मक है और अनियंत्रित अवस्था में समाज-विरोधी है। द्वन्द्व-प्रवृत्ति की उग्रता जीवन को दुखद बना डालती है। अनेक लोग उसके शत्रु बन जाते हैं।

बालक में बोध होते ही अपने अधिकार के लिए कलह करने की प्रवृत्ति जागरूक हो जाती है। पहले तो यह परिवार तक ही सीमित रहती है। भाई-बहन से झगड़ा तथा माता-पिता से रूठना आदि। पर ज्यों-ज्यों बालक का क्षेत्र व बल बढ़ता जाता है उसकी द्वन्द्व प्रवृत्ति भी दृढ़ होती जाती है और फिर वह न पटने वाले मित्रों से कलह करता है। इस प्रकार यह प्रवृत्ति शनैः-शनैः दृढ़ होती जाती है। जिस बालक की द्वन्द्व-प्रवृत्ति का रूपान्तर नहीं हुआ हो उस बालक की द्वन्द्व प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है और फिर वह नियंत्रित नहीं हो सकती। ऐसा बालक भावी जीवन में अपने को समाजोपयोगी कार्यों में प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

द्वन्द्व-प्रवृत्ति स्वतः अनुचित नहीं है यदि उसका उपयोग ठीक ढंग से हो। जिस राष्ट्र में लड़ाकू जाति की कमी होती है वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में लिखा है कि लड़ाकू लोगों का वही कार्य है जो भेड़ों के रक्षक कुत्तों का। अतः द्वन्द्व प्रवृत्ति का अस्तित्व और उसका सदुपयोग दोनों ही बालक के सम्यक् विकास और राष्ट्र की रक्षा व उन्नति के लिए आवश्यक हैं। द्वन्द्व बुद्धि, विचारशक्ति से नियमित होकर मनुष्य को प्रगति की ओर उन्मुख करती है। इसी द्वन्द्व प्रवृत्ति के आधार पर संगठन-शक्ति का अस्तित्व स्थिर रह सकता है।

द्वन्द्व-प्रवृत्ति एवं बुनियादी शिक्षा—सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाली बुनियादी शिक्षा द्वन्द्व प्रवृत्ति की विरोधी नहीं वरन् मार्गान्तरीकरण या रूपान्तर द्वारा वह इस प्रवृत्ति को लाभकारी बनाने का प्रयत्न करती है। प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न कर रचनात्मक कार्यों में द्वन्द्व प्रवृत्ति का बड़ा अनूठा उपयोग किया जा सकता है।

महात्मा गांधी ने सदा ही अन्याय का विरोध किया था। बुनियादी शिक्षा भी बालकों में अन्याय के विरोध की भावना भरती है। शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी है कि शिक्षित व्यक्ति अन्याय का विरोध करे। बुनियादी शिक्षा इसी भावना को भरकर समाज के अन्याय से लड़ने के लिये बालक को प्रेरित करती है। यह बालक को निर्बल नहीं बनाती।

बुनियादी शिक्षा बालक के भावी जीवन को सफल बनाने का कार्य करती है। उसके व्यक्तित्व को सुदृढ़ और सुडौल बनाती है।

सारांश

मूल प्रवृत्तियों में आमूल परिवर्तन संभव नहीं है, परन्तु वे शिक्षा कार्य में सहायक हो सकती हैं। कुछेक मूल प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं :—

उत्सुकता—यह प्रवृत्ति ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होती है। इसके दमन से दुष्परिणाम निकलते हैं। पुस्तकों द्वारा ज्ञान की बजाय उद्योग द्वारा ज्ञान देने से बुनियादी-शिक्षा इस प्रवृत्ति का पूरा-पूरा लाभ लेती है।

रचनात्मक प्रवृत्ति—बालक का निर्माण-कार्य कभी-कभी ध्वंसकारी दीखने पर भी रचनात्मक ही होता है। बुनियादी-शिक्षा का आधार निर्माण-कार्य, इस प्रवृत्ति का उपयुक्त लाभ लेता है।

संग्रह प्रवृत्ति—बालक की, एक वस्तु को लेकर उसे वापस नहीं लौटाने की भावना, संग्रह-प्रवृत्ति की द्योतक है। इस प्रवृत्ति का शिक्षा-लाभ लेने की दृष्टि से ही शालाओं में टिकटों, चित्रों, सिक्कों, व अन्य वस्तुओं का संग्रह कर शाला-संग्रहालय के निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाता है।

समूह प्रवृत्ति—मानव समूह में रहना चाहता है। शाला में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ शुरू होनी चाहियें। इसीलिए स्काउटिंग, एन० सी० सी०, रेड क्रास आदि का श्रीगणेश हुआ।

आत्मगौरव-प्रवृत्ति—व्यक्ति अपने गुणों का प्रदर्शन कर सुख का अनुभव करता है। बुनियादी तालीम में उद्योग के कारण इस प्रवृत्ति का पूरा-पूरा लाभ लिया जाता है। वस्तु का निर्माण कर बालक अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है।

द्वन्द्व प्रवृत्ति—यह ध्वंसात्मक प्रवृत्ति है। इसे नियंत्रण में रखना जरूरी है। बुनियादी तालीम में समाज की बुराइयों को नाश करने, एवं सद्गुणों की स्थापना के प्रयत्न में, इस प्रवृत्ति को लगा कर, इसका पूरा-पूरा लाभ लिया जा सकता है।

इस प्रकार बुनियादी-शिक्षा में उपरोक्त सभी प्रवृत्तियों का लाभ लेते हुए शिक्षण प्रकिया का संचालन होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) जिज्ञासा या रचना की मूल प्रवृत्ति के विकास के लिए बुनियादी शिक्षा किस प्रकार समर्थ है?

(२) बुनियादी शिक्षा युयुत्सा अर्थात् कलह जैसी मूल प्रवृत्ति का सदुपयोग कैसे करती है? उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये।

—:०:—

सामान्य मूल प्रवृत्तियाँ (संकेत एवं सहानुभूति)

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों के साथ-साथ मनुष्य में सामान्य मूल प्रवृत्तियाँ भी होती हैं। विशिष्ट मूल प्रवृत्तियो के साथ सम्बन्धित संवेग जुड़े होते हैं पर सामान्य मूल प्रवृत्तियों के साथ संवेग नही होते। इन सामान्य प्रवृत्तियों को विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि विशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ तो विशेष परिस्थिति में कार्य के विशेष ढंग को निश्चित् करती हैं पर सामान्य मूल प्रवृत्तियाँ व्यवहार की सामान्य रीतियों के रूप हैं जिनमें विविध मूल प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। इस प्रकार सामान्य प्रवृत्तियों का अपना अलग अस्तित्व है।

सामान्य मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण—बालकों मे पाई जाने वाली सामान्य प्रवृत्तियों के विषय में मेकडूगल महाशय ने लिखा है कि निम्नलिखित चार प्रकार की सामान्य प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं:—

(१) संकेत।
(२) सहानुभूति।
(३) अनुकरण।
(४) खेल।

इन सामान्य प्रवृत्तियों का भी बालक के विकास में बहुत बड़ा सहयोग रहता है।

संकेत

संकेत का रूप—संकेत से तात्पर्य है दूसरों की कही हुई या लिखी हुई बात को बिना सोचे-समझे यथावत् शीघ्र मान लेना। यह एक अज्ञात प्रक्रिया है। मेकडूगल ने संकेत की परिभाषा इस प्रकार दी है "आशय वितरण की एक प्रक्रिया जिसका परिणाम वितरित विषय में विश्वास की स्वीकृति के यथेष्ट तार्किक कारण न हों।" अर्थात् जिस व्यक्ति के सम्मुख संकेत किया जाय वह बिना ज्ञान का प्रयोग किये, बिना तर्क-वितर्क किये तत्काल उसे मान लेता है यद्यपि संकेत देने वाला व्यक्ति सोच-समझकर ज्ञान और बुद्धि का प्रयोग करके बात कहता है। जिस व्यक्ति को विचारों का संकेत किया जाता है, सुझाव दिये जाते हैं उन्हें वह अपना ही मानकर चलता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि यह बाहर से उत्पन्न किये हुए हैं। प्रायः सभी थोड़े-बहुत एक-दूसरे के विचारों से प्रभावित होते हैं। ये विचार अनजाने हमारे मन में प्रवेश कर जाते हैं।

संकेत का प्रभाव—संकेत का प्रभाव व्यक्ति की अवस्था, बुद्धि और चरित्र बल पर निर्भर रहता है। छोटी उम्र का व्यक्ति बड़ी उम्र के व्यक्ति से प्रभावित रहता

है। अल्प बुद्धि वाला व्यक्ति तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति से प्रभावित रहता है। इसी प्रकार निर्बल मनःशक्ति तथा आत्मशक्तिहीन व्यक्ति सबल मन शक्ति वाले तथा प्रबल आत्मशक्ति वाले व्यक्ति से प्रभावित रहता है। एक दूसरे से प्रभावित होने की प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक भी है, अन्यथा संकेतों का कोई प्रभाव न पड़ेगा।

संकेत या निर्देश का प्रभाव शारीरिक अवस्था के कारण भी पड़ता है। शारीरिक निर्बलता वाला व्यक्ति शारीरिक सबलता वाले व्यक्ति से प्रभावित होता है। इसी प्रकार थका हुआ व्यक्ति या रोगी अधिक बातें करना पसन्द नहीं करता और उससे कही हुई बातों का वह बिना तर्क के स्वीकारात्मक उत्तर दे देता है। तन्द्रा या निद्रावस्था में भी व्यक्ति संकेतों को बिना तर्क के मान लेता है। एक छात्रालय के कुछ शरारती बड़े लड़कों को छोटे बालकों के प्रति शरारत सूझी। रात्रि को उन्होंने सोये हुए छोटे बालकों को उठा-उठा कर बिस्तर पर ही कहना शुरू किया "अच्छा पिशाब कर लो" जैसे कि बच्चों की माता-पिता रात को जगा-जगा कर साधारणतया कहा करते हैं। छोटे बालक उन बड़े बालकों के कहने के अनुसार निद्रावस्था में रहने के कारण बिस्तर पर ही पिशाब कर दिया करते थे। शरारती लड़के इस पर बहुत प्रसन्न होते तथा हँसते थे।

संकेत का प्रभाव संख्या पर भी आधारित होता है। यदि कोई किसी एक विचार से एक बहुत बड़ा समूह प्रभावित हुआ देखता है तो उससे वह स्वयं भी स्वतः प्रभावित हो जाता है। किसी भी समारोह, जनसमुदाय या समूह में प्रविष्ट होने पर व्यक्ति का अपना मानसिक बल क्षीण हो जाता है और वह सुगमता से प्रभावित हो जाता है।

सम्मोहन क्रिया तथा इन्द्रजाल (जादू) की क्रिया द्वारा भी व्यक्ति शीघ्र प्रभावित हो जाता है। जादूगर दर्शकों को जैसा सुझाता है वे भी वैसा ही अनुभव करने लगते हैं।

संकेत के प्रकार—मनोवैज्ञानिकों ने संकेत के निम्नलिखित चार प्रकार माने हैं—

(१) श्रद्धा संकेत।
(२) सामूहिक संकेत।
(३) आत्म संकेत।
(४) विरुद्ध संकेत।

(१) श्रद्धा संकेत—जिस व्यक्ति . . . श्रद्धा होती है उसके विचारों, कथन एवं क्रियाओं से बालक . . . अपने जीवन में उनका अनुकरण करने . . . से वयोवृद्ध, अनुभव-वृद्ध एवं [illegible] . . . जाती है। शिक्षक . . . पर उनका प्रभाव सरलता . . . करें जिनसे बालकों को

उन पर से श्रद्धा हट जाय। शिक्षकों को अपनी प्रतिष्ठा सदा बनाये रखना चाहिए। प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा के अभाव में शिक्षक बालकों का सुधार व उचित विकास नहीं कर पाता।

(२) सामूहिक संकेत—समूह में प्रत्येक बालक संख्या से प्रभावित होकर समूह की बात मानने लग जाता है। चाहे व्यक्तिगत रूप से वह उससे सहमत भले ही न हो। यदि एक समूह किसी दुकान को लूटने लग जाता है तो उस समूह की प्रत्येक इकाई उससे सहमत होकर उसमें भाग लेने को दौड़ती है। पर यदि उस समूह की प्रत्येक इकाई से अलग-अलग पूछा जाय कि क्या दुकान का लूटना ठीक था? तो कुछ इससे सहमत न होंगे।

इस प्रकार के सामूहिक संकेत मानने की प्रवृत्ति से हम बालकों को नियमितता का अभ्यास करा सकते हैं। कक्षा के अधिकतर बालक जब किसी एक नियम को मानते हैं तो शेष बालक भी उसी निर्णय के अनुसार कार्य करने लग जाते हैं।

इस प्रवृत्ति से बालकों में समाज-सेवा, देश-भक्ति, परोपकार आदि का प्रचार किया जा सकता है।

(३) आत्म-संकेत अपने ही विचारों से स्वयं प्रभावित होना आत्म-संकेत कहलाता है। बालक के मन मे जब कोई विचार दृढ़ता से बैठ जाता है तो उसे पुनः पुनः वही सूझता है। आत्म-संकेत वास्तव में महत्वपूर्ण संकेत है। मनुष्य जैसा सोचता है वह वैसा ही बनता है। उन्नति के विषय में सोचने वाला बालक अवश्य उन्नति करेगा। बालक के मन को दृढ़ बनाये जाने पर वह बुरे विचारों से दूर रहेगा और अपनी उन्नत अवस्था के बारे में सोचता रहेगा।

(४) विरुद्ध संकेत—कभी-कभी सुझाई गई बात के विरुद्ध कार्य करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। बालकों में यह अधिक पाई जाती है। बालकों के सम्मुख यदि कोई ऐसी वस्तु पड़ी हुई है जिसे बालक को न छूने को कहा जाय तो बालक उसे अवश्य छुएगा। इस प्रकार कथन का विपरीत प्रभाव बालक पर पड़ता है।

इस प्रकार की प्रवृत्ति का बढ़ना न तो बालक के लिए लाभकारी है और न शिक्षक, अभिभावक या माता-पिता के लिए ही। बालकों को इस प्रकार की प्रवृत्ति से बचाया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

संकेत-प्रवृत्ति एवं बुनियादी शिक्षा—संकेत-प्रवृत्ति का समीचीन विकास शिक्षा के द्वारा ही किया जा सकता है क्योंकि "अध्यापक अधिक उम्र वाला होता है और अधिक अनुभव वाला होता है, अतएव अपने छात्रों में विचार भरने की शक्ति उसमें बहुत होती है।"

बुनियादी शिक्षा बालक में वह योग्यता भरने का प्रयत्न करती है जिससे बालक कतिपय संकेतों के आधार पर स्वयं कार्य करना प्रारम्भ कर देता है और उसे बार-बार किसी बात को समझने की आवश्यकता नहीं होती। बुनियादी शिक्षा ही बालक में 'आत्म-क्रियाशीलता' की भावना भरकर उसकी आत्म-संकेत प्रवृत्ति को

प्त दिशा की ओर उन्मुख करती है। विचारों की स्वतन्त्रता रखकर, उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति को कार्यरत रखकर बुद्धि का विकास कराती है। बुनियादी शिक्षा र अध्यापक, यह ठीक नहीं, ऐसा मत करो, आदि नकारात्मक आदेश न देकर बालक आत्म-संकेतों की जागृति इस प्रकार करता है कि बालक को स्वयं अपना मार्ग सूझ ता है और उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का पूर्ण ज्ञान होने लगता है।

बुनियादी शिक्षा विरुद्ध संकेत का भी शोधन करने की क्षमता रखती है र इसीलिए बालक का समीचीन विकास होता है। कक्षा में बालकों का एक समूह ता है और शिक्षक इस प्रकार के सामूहिक संकेत उपस्थित करता है कि प्रत्येक लक अपनी दस्तकारी तथा पठन में दत्तचित्त दृष्टिगोचर होता है। रूढ़िवादी शिक्षा आत्म-संकेत एवं सामूहिक संकेतों के लिए अध्यापक बहुत प्रयत्न करने पर भी फल रहता है। पर बुनियादी शिक्षा स्वतः ऐसी पद्धति का अनुसरण करती है कि लक स्वयं अपने विकास का मार्ग बनाता चलता है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा कों में संकेत प्रवृत्ति का सम्यक् विकास करती है।

सहानुभूति

सहानुभूति का रूप—किसी दूसरे व्यक्ति की मानसिक अवस्था को देखकर ी मानसिक दशा भी उसी के समक्ष बना लेना ही सहानुभूति है। जेम्स एस० ने लिखा है "सहानुभूति का शाब्दिक अर्थ दूसरे के प्रति संवेदना है।" दूसरे क की दुःखद अनुभूति से प्रभावित होना ही सहानुभूति है। दूसरे व्यक्ति के दुःख खकर स्वयं भी वैसे ही दुःख का अनुभव करना ही सहानुभूति प्रदर्शित करना ता है। एक मन प्रत्यक्ष रूप में दूसरे मन में अपने समान ही चेतना उत्पन्न कर है। उसी को सहानुभूति कहते हैं।

सहानुभूति की व्यापकता—प्रत्येक अपने वर्ग के प्रत्येक प्राणी के प्रति भूति का भाव रखता है। एक कुत्ते के रोने-भौंकने से सभी कुत्ते रोते-भौंकते क गधे के चिल्लाने से दूसरा गधा, एक कौवे के चिल्लाने से दूसरा कौवा चिल्लाने है।

सहानुभूति छूत के रोग के समान है जो एक व्यक्ति से दूसरे में तत्काल प्रविष्ट ती है। यहाँ तक कि अज्ञानी अबोध बालक भी इससे वंचित नहीं। ४ या के दो बालक पास-पास खेल रहे हों, उनमें से यदि एक रोने लगता है तो भी सहानुभूति प्रदर्शित करता हुआ रोने लग जाता है।

सहानुभूति सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है और लघु या बृहद् में यह सभी व्यक्तियों में पाई जाती है। कोई भी व्यक्ति सहानुभूतिशून्य नहीं ाहे उसमें न्यूनतम मात्रा में भले ही हो। सामुदायिक जीवन में सहानुभूति का महत्व है। समुदाय में उसका प्रभाव एकत्र रूप में लक्षित होता है।

सहानुभूति के प्रकार—महाशय मेकडूगल के अनुसार सहानुभूति दो प्रकार की

(१) निष्क्रिय सहानुभूति।

(२) सक्रिय सहानुभूति।

(१) निष्क्रिय सहानुभूति—निष्क्रिय सहानुभूति उसे कहते हैं जो किसी दूसरे व्यक्ति की अवस्था देखकर उससे प्रभावित होने पर उत्पन्न हो। इस प्रकार की सहानुभूति अन्तःस्थल उद्भूत होती है। पर इसमें दुःखी व्यक्ति के दुःख के लिए केवल सहानुभूतिपूर्ण शब्द ही कहे जाते है, उसकी विपत्ति में हाथ प्रायः नहीं बटाया जाता।

(२) सक्रिय सहानुभूति—सक्रिय सहानुभूति उसे कहते हैं जिसे किन्हीं प्रयत्नों द्वारा उत्पन्न किया जाय। अर्थात् विपत्ति में फँसे व्यक्ति को स्वयं अपनी दशा का वर्णन कर अथवा दूसरों से कराकर सहानुभूति की भावना जागृत करनी पड़ती है। सक्रिय सहानुभूति आजकल एक व्यापार भी बन गया है। कोई भी साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए व्यक्ति किसी के सम्मुख जाकर बनावटी विपत्ति का वर्णन कर उससे सहायता माँग बैठता है।

सक्रिय सहानुभूति समाज-सेवा के लिए उपयोगी बनती है। बाढ़-पीड़ितों की दशा का वर्णन कर समाज-सेवी सक्रिय सहानुभूति उत्पन्न कर श्रोताओं से उन बाढ़-पीड़ितों के लिए दान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सक्रिय सहानुभूति भाषाओं, चित्रों, प्रदर्शनियों द्वारा उत्पन्न की जा सकती है।

सहानुभूति एवं बुनियादी शिक्षा—सहानुभूति द्वारा बालकों में सामाजिक सद्गुणों का सफल विकास किया जा सकता है। बुनियादी शिक्षा की रचनात्मक कार्यप्रणाली समूह की भावना उत्पन्न कर सहानुभूति की प्रवृत्ति को व्यवस्थित धारा में प्रवाहित करती है। महात्मा गाँधी की ग्राम सेवा की भावना सहानुभूति की प्रवृत्ति से ओतप्रोत है। यही ग्रामसेवा बुनियादी शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति बालक स्वतः कार्यरत रहकर करते हैं। बुनियादी शिक्षा का अध्यापक सहानुभूति का आदर्श-रूप होकर बालकों में भी इस भावना को दृढ़तापूर्वक जमा सकता है। सहानुभूति के द्वारा ही बालक में नैतिकता का विकास किया जा सकता है। बुनियादी शिक्षा कक्षा के कमरे के बाहर भी छात्रों में परस्पर मिल-जुलकर काम करने व एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति प्रदर्शित करने का विस्तृत क्षेत्र प्रदान करती है। इस प्रकार इससे बालक के चरित्र का निर्माण होता है और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है।

सारांश

विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों के साथ-साथ सामान्य मूल प्रवृत्तियों का भी अस्तित्व है। सामान्य मूल प्रवृत्तियों का संवेगों से सम्बन्ध नहीं होता। सामान्य मूल प्रवृत्तियाँ व्यवहार की सामान्य रीतियाँ हैं जिनमें विविध मूल प्रवृत्तियाँ चलती हैं।

सामान्य मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण—महाशय मैक्डूगल के अनुसार चार सामान्य प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—(१) संकेत, (२) सहानुभूति, (३) अनुकरण, (४) खेल।

संकेत का रूप—दूसरों की कही हुई या लिखी हुई बात को बिना सोचे-समझे यथावत् शीघ्र मान लेना ही संकेत का रूप है।

संकेतों का प्रभाव—व्यक्ति की आयु, बुद्धि, चरित्र और समाज में स्थान पर संकेतों का प्रभाव आधारित है। इसी प्रकार शारीरिक अवस्था एवं संख्या भी संकेतों को प्रभावित करती है।

संकेतों के प्रकार—संकेत चार प्रकार के होते हैं—(१) श्रद्धा संकेत, (२) सामूहिक संकेत, (३) आत्म संकेत, (४) विरुद्ध संकेत।

श्रद्धा संकेत—जिस व्यक्ति पर बालकों की श्रद्धा होती है, उस व्यक्ति के विचारों, कथनों एवं क्रियाओं का बालकों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, अतः अध्यापक को अपने प्रति बालकों में श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिए।

सामूहिक संकेत—बालक समूह की बात प्रायः मानते चले आये हैं। अतः इस प्रवृत्ति द्वारा बालकों में समाज-सेवा, देश-भक्ति, परोपकार आदि का प्रचार किया जा सकता है।

आत्म-संकेत—अपने ही विचारों से स्वयं प्रभावित होना आत्म-संकेत कहलाता है। मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बनता है।

विरुद्ध संकेत—सुझाई गई बात के विरुद्ध भी कार्य करने की प्रवृत्ति बालकों में देखी गई है। इस प्रकार की प्रवृत्ति बालकों के लिए अनुपयोगी है।

संकेत प्रवृति एवं बुनियादी-शिक्षा—बुनियादी-शिक्षा बालक में ऐसी योग्यता उत्पन्न करती है जिससे बालक कतिपय संकेतों के आधार पर स्वयं कार्य करना प्रारम्भ कर देता है।

सहानुभूति

सहानुभूति का रूप—किसी दूसरे व्यक्ति की मानसिक अवस्था देखकर अपनी-अपनी मानसिक दशा भी उसी के समकक्ष बना लेना सहानुभूति है।

सहानुभूति की व्यापकता—एक वर्ग के प्रत्येक प्राणी में दूसरे प्राणी के प्रति सहानुभूति का भाव रहता है। यह सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

सहानुभूति के प्रकार—(१) निष्क्रिय सहानुभूति—किसी दूसरे व्यक्ति की अवस्था देखकर उससे प्रभावित होने पर उत्पन्न होती है। (२) सक्रिय सहानुभूति किन्हीं प्रयत्नों द्वारा उत्पन्न की जाती है।

सहानुभूति एवं बुनियादी-शिक्षा—बुनियादी-शिक्षा की रचनात्मक कार्य-प्रणाली समूह की भावना उत्पन्न कर सहानुभूति की प्रवृत्ति को व्यवस्थित धारा में बहाती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

✓(१) सामान्य प्रवृत्तियाँ कितने प्रकार की होती हैं? शिक्षा की दृष्टि से उनका क्या महत्व है?

(२) सहानुभूति सामान्य प्रवृत्ति का बुनियादी-शिक्षा का अध्यापक किस प्रकार उपयोग कर सकता है?

(३) निर्देश या संकेत सामान्य प्रवृत्ति का क्या अर्थ है? माता-पिता तथा अध्यापक को इससे पूरा लाभ उठाने के लिए क्या सावधानी प्रयोग में लानी चाहिए?

—:o:—

सामान्य मूल प्रवृत्ति—अनुकरण

अनुकरण का रूप—अनुकृति अथवा अनुकरण का अर्थ है नकल करना। दूसरों को जैसा कार्य करते, बोलते, पहनते, खाते-पीते देखें उसी के अनुसार कार्य करना नकल करना कहलाता है। अनुकरण वह मूल प्रवृत्ति है जिसमें एक दूसरे के कार्य और चेष्टाओं की नकल की जाती है। संकेत और सहानुभूति भी एक प्रकार से अनुकरण प्रवृत्ति के ही अंग माने गये हैं। दूसरे के विचारों को ग्रहण करना संकेत-प्रवृत्ति है, दूसरे के भावों को ग्रहण करना सहानुभूति है और दूसरे के कार्यों की तथा चेष्टाओं की नकल करना अनुकृति या अनुकरण है। विलियम जेम्स ने लिखा है—"नकल करना और आविष्कार, ये मानव जाति के दो पैर हैं जिन पर वह सदा चलती आई है।"

अनुकरण का प्रभाव—प्रत्येक क्रियाशील प्राणी इस अनुकरण प्रवृत्ति से प्रभावित है। अनुकृति के द्वारा सभी पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े एक दूसरे की चेष्टायें सीखते हैं। बन्दर की नकल प्रसिद्ध है। सभी प्राणियों के जीवन में अनुकृति का स्थान बड़े महत्व का है। कई पशुओं की अनुकरण प्रवृत्ति से मनुष्य अपनी जीविका कमाते हैं जैसे मदारी रीछ, बन्दर आदि से।

मनुष्य के जीवन-विकास में भी अनुकृति का बहुत बड़ा महत्व है। पशु-पक्षियों की अपेक्षा मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति बड़ी ही प्रबल हुआ करती है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर सभी बालक चलना, बोलना आदि सीखते हैं। इसी अनुकरण प्रवृत्ति के आधार पर सभ्यता और संस्कृति उत्तरोत्तर अग्रसर होती है। अनुकरण प्रवृत्ति का प्रभाव सभी प्राणियों पर और विशेष रूप से मानव पर असाधारण रूप से छाया हुआ है।

मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मत—अनुकरण प्रवृत्ति को स्वतन्त्र रूप से सामान्य मूल प्रवृत्ति मानने में भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक अनुकरण प्रवृत्ति को नहीं मानते। उनका कथन है कि बालक अनुकरण से नहीं सीखता। वरन् यह कार्य तो सहज क्रिया के अंग हैं अर्थात् मनुष्य में अपने आप हो जाने वाले कार्य हैं।

इस मत का खण्डन करने वाले मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि सहज क्रियायें तो मनुष्यमात्र में समान पायी जाती हैं जैसे पलक गिरना, छींक आना आदि क्रियायें प्रत्येक देश में सर्वत्र एक सी हैं। पर बोलना अनुकरण-प्रवृत्ति मूलक है, सहज क्रिया नहीं। यदि बोलने को सहज क्रिया मान लिया जाय तो सम्पूर्ण संसार में एक ही भाषा होनी चाहिये, जिस प्रकार कि पलक गिरना सम्पूर्ण संसार में एक सा है। फिर

लोगों की अलग-अलग भाषायें क्यों होती हैं ? यदि बालक बोलने का अनुकरण करना प्रारम्भ न करे तो वह बोलना नहीं सीख सकता। अतः यह स्पष्ट ही है कि अनुकरण प्रवृत्ति सहज क्रिया का ही अंग नहीं, वरन् उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और बालक के विकास में उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

अनुकरण के प्रकार—इस प्रवृत्ति को स्वीकार करने वाले भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण के वर्गीकरण भी भिन्न-भिन्न किये हैं। कलपात्रिक और मेकडूगल ने अनुकरण के निम्नलिखित प्रकार बतलाए हैं :—

(१) सहज अनुकरण।
(२) स्वाभाविक अनुकरण।
(३) अभिनयानुकरण।
(४) विचारजन्य या प्रयोजनपूर्ण अनुकरण।
(५) आदर्शानुकरण।

(१) **सहज अनुकरण**—किसी साथी को एक कार्य करते देखकर स्वयं तत्काल कार्य करना शुरू करना जैसे साथी को पेशाब करते देखकर स्वयं पेशाब करना, जम्हाई लेते देखकर जम्हाई लेना आदि।

(२) **स्वाभाविक अनुकरण**—स्वाभाविक अनुकरण बालक की सुख की चाह-मूलक है। बालक को कोई बात पसन्द आ जाती है तो वह उसकी नकल करना प्रारम्भ कर देता है—जैसे किसी फैशन को ग्रहण करना। बोलचाल, रहन-सहन स्वाभाविक अनुकरण से सीखे जाते हैं।

(३) **अभिनयानुकरण**—किसी कार्य को देखकर उससे प्रभावित होकर उसकी नकल करना। रामलीला या किसी नाटक को देखकर घर पर आकर बालक उसके पात्रों का अनुकरण करता है। घर में बालिकायें गुड़ियों को खिलाने-पिलाने, कपड़े पहनाने आदि का अभिनयानुकरण करती हैं।

(४) **विचारजन्य अनुकरण**—किसी बात का, समझ-बूझकर सीखने की दृष्टि से, अभ्यास करना प्रयोजन-पूर्ण अनुकरण है। इसे हम सप्रयत्न अनुकरण भी कह सकते हैं—जैसे लिखना-पढ़ना सीखना, चित्र की नकल करना, आदि।

(५) **आदर्शानुकरण**—अपने से बड़ों के जीवन के आदर्शों का अनुकरण करना भी बालक के लिए स्वाभाविक है। इसी के आधार पर वह अपने आदर्शों का निर्माण करता है।

ड्रेवर का वर्गीकरण—महाशय ड्रेवर ने अनुकरण के केवल चार भेद बताए हैं :—

(१) अचेतन अनुकरण।
(२) चेतन अनुकरण।
(३) दृश्यानुकरण।
(४) विचारानुकरण।

(१) अचेतन अनुकरण—मनुष्य अपने आप स्वाभाविक रूप से प्रयासहीन होकर कार्यों का अनुकरण करता है, उसे अचेतन अनुकरण कहते हैं। समाज के रहन-सहन कार्यों आदि को इसी प्रवृत्ति के आधार पर सीखा जाता है।

(२) चेतन अनुकरण—मनुष्य के प्रयत्न कर सीखने की प्रवृत्ति को चेतन या ऐच्छिक अनुकरण कहते हैं। कक्षा में पढ़ाई जाने वाली बातें चेतन अनुकरण के अन्तर्गत आती हैं।

(३) दृश्यानुकरण—इस प्रकार के अनुकरण की माध्यम दृष्टि है। आंखों से देखकर अनुकरण किया जाता है, उसे दृश्यानुकरण कहते हैं।

(४) विचारानुकरण—मन द्वारा केवल विचारों का ग्रहण करना विचारानुकरण है। मन ही मन अनुकरण करने का प्रयत्न इसका आधार है।

जेम्स एस० रौस का वर्गीकरण—महाशय रौस ने ड्रेवर के वर्गीकरण को इस रूप मे स्वीकार किया है :—

(१) समुचित अनुकरण।
(२) अचेतन अनुकरण।
(३) चेतन अनुकरण।

(१) समुचित अनुकरण—जेम्स एस० रौस ने लिखा है—"समुचित अनुकरण सामुदायिकता की 'करने' की प्रवृत्ति, वह प्रक्रिया है जिसके कारण एक समुदाय के सभी सदस्य मिलकर कार्य करते हैं। जो मनुष्यों तक में यह हो सकता है, परन्तु इसके प्रभाव समूह में अत्यधिक स्पष्ट होते हैं। जहाँ इनको अनुकरण करने के लिए एक नेता मिल जाता है।"

(२) अचेतन अनुकरण—अनुकरण कर्ता जब अनुकरणीय पुरुष मे अपने अनुकूल प्रवृत्ति पाता है तो उसे वह अनुकरण कर लेता है। "अचेतन अनुकरण में प्रवृत्ति मूलक कार्य अनुकरण-कर्ता करता है जिसके लिए उत्तेजक अनुकरणीय मनुष्य मे समान प्रवृत्ति-मूलक कार्य है।" पर यह परोक्ष रूप से होता है, अचेतन रूप से होता है, चेतन या प्रत्यक्ष रूप से नहीं।

(३) चेतन अनुकरण—जो अनुकरण अचेतन नहीं है उसमे अवश्य ही कोई विचार व समीक्षण निहित होता है। "चेतन अथवा विचारपूर्वक अनुकरण मे 'क' कोई बात 'ख' के व्यवहार मे मालूम करता है जिसे वह वांछनीय समझता है, तो वह अपने 'ख' के कार्य का अनुकरण उत्पन्न करने लगता है।" पर इस कार्य में उसे परीक्षण और भूल के आधार पर सफलता मिलती है।

अनुकरण के दो पक्ष—अनुकरण के प्रकार और वर्गीकरण के पश्चात् यह आवश्यक है कि अनुकरण की अच्छाई और बुराई की ओर ध्यान दिया जाय। प्रत्येक अनुकरण उत्तम नहीं है तथा साथ ही साथ अनुकरण प्रवृत्ति का मूल्य किसी विशेष भावनामूलक होने पर घट या बढ़ जाता है। अनुकरण के इसी अच्छे या बुरे पक्षों को निम्नलिखित नाम से भी पुकारा जाता है :—

(१) स्पर्धा।

(२) ईर्ष्या।

स्पर्धा-ईर्ष्या के स्वरूप—"स्पर्धा वह मानसिक प्रवृत्ति है जिसके कारण ए
व्यक्ति दूसरे से अपने आप को अच्छा बनाना चाहता है।" एक बालक जब दूसरे
किसी एक व्यवहार का अनुकरण कर रहा है तो उसके मन में उससे भी बढ़कर का
करने की प्रवृत्ति होती है। उसी को स्पर्धा कहते है। स्पर्धा सब बालकों में पा
जाती है। इस तरह साधारण द्वन्द्व प्रवृत्ति के साथ अनुकरण का नाम ही स्पर्धा है।

पर जब अनुकरण के साथ द्वन्द्व प्रवृत्ति की मात्रा साधारण, न्यून या लघु
रह कर असाधारण, अधिक या वृहद् हो जाती है तो उसे ईर्ष्या या डाह कहते हैं
यह अनुकरण-कर्त्ता एवं अनुकरणीय दोनों ही में अमंगल की भावना उत्पन्न करती
है। ईर्ष्या के कारण दूसरों की उन्नति नहीं देखी जाती। इस तरह स्पर्धा कल्याण की
भावना लिए हुए है और वांछनीय है। ईर्ष्या अकल्याण की भावना लिए हुए
अवांछनीय है।

स्पर्धा के प्रकार—स्पर्धा तीन प्रकार की होती है :—

(१) आत्म स्पर्धा।

(२) व्यक्तिगत स्पर्धा।

(३) सामूहिक स्पर्धा।

(१) आत्म स्पर्धा—एक ही व्यक्ति अपने स्वयं के जीवन में वर्तमान और
अतीत के कार्यों की तुलना किया करता है और प्रतिदिन पहले से अच्छा बनने की
चेष्टा किया करता है उसे आत्म स्पर्धा कहते हैं। इसमें दूसरों के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न
करने का कोई स्थान नहीं। आत्म स्पर्धा रखने वाले व्यक्ति के जीवन में आत्म-
निरीक्षण, परिश्रम और जीवन को सफल बनाने की भावना आ जाती है।

(२) व्यक्तिगत स्पर्धा—इस प्रकार की स्पर्धा केवल दो व्यक्तियों ही के मध्य
होती है। एक व्यक्ति दूसरे की सफलता कर उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है।
इस प्रकार की व्यक्तिगत स्पर्धा का सम्बन्ध केवल दो ही पुरुषों से होता है। इसमें
स्वार्थ-बुद्धि कार्य करती है।

(३) सामूहिक स्पर्धा—सामूहिक स्पर्धा दो समूहों के मध्य होती है। इसमें
समूह के एक व्यक्ति का स्वार्थ अपने समूह की भलाई प्राप्त करने तक ही सीमित
रहता है। इस प्रकार की समूह स्पर्धा बालक को त्याग की भावना सिखाती है। यह
स्पर्धा सामाजिक जीवन का एक अंग है।

स्पर्धा का बालक पर प्रभाव—बालक जब दूसरे बालकों को उन्नति करते
देखता है तो उसकी स्पर्धा-प्रवृत्ति जागृत हो उठती है। यह आवश्यक भी होती है।
स्पर्धा के विकास किये के कारण उसमें आत्म-गौरव पैदा होता है और इसी आत्मगौरव के
सहारे वह वह उन्नति करता रहता है।

अनियन्त्रित स्पर्धा प्रायः ईर्ष्या में परिणत हो जाया करती है। पर सामूहिक

स्पर्धा बालक में त्याग एवं स्वार्थहीनता की भावना भरती है। अतः शिक्षकों को बालकों की आत्म-स्पर्धा एवं सामूहिक स्पर्धा को बढ़ावा देना चाहिए। पर इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि स्पर्धा प्रवृत्ति को आवश्यकता से अधिक उत्तेजित करने पर उनमें ईर्ष्या और कलह प्रवृत्ति जागृत हो जाती है और कक्षा का वातावरण दूषित हो जाता है। अतः ऐसा न होने दें।

अनुकरण प्रवृत्ति और बुनियादी-शिक्षा—अनुकरण मात्र ही शिक्षा नहीं है। यद्यपि अनुकरण प्रवृत्ति बालक की स्वाभाविक जन्मजात सामान्य प्रवृत्ति है तदापि इस प्रवृत्ति का बुनियादी शिक्षा द्वारा उचित प्रयोग बालक के जीवन को अधिक विकसित करेगा।

बालक अपने शिक्षक और सहपाठियों की आदतो का, गुणो का तथा अवगुणो का अनुकरण करता है। अतः शिक्षक का कार्य न केवल अपने ही को अनुकरणीय आदर्शों से समन्वित करना है वरन् कक्षा के सभी छात्रों पर इस दृष्टि से ध्यान रखना है कि उनमें परस्पर अनुकरण न करने योग्य आदत उत्पन्न न हो जाय। अध्यापक को बालकों में अच्छी आदतें एवं विचार उत्पन्न करने चाहियें।

बुनियादी-शिक्षा का अध्यापक इस दृष्टि से अधिक सफल हो सकता है। वह अपनी जीवन-पद्धति को ऐसे ढाचे मे ढालता है कि बुनियादी-शिक्षा उसका अपना स्वयं का जीवन-क्रम बन जाती है और इस प्रकार बालक के सामने वह अपने स्वयं का एक आदर्श उपस्थित करता है।

बुनियादी शिक्षा आत्म-स्पर्धा एवं सामूहिक-स्पर्धा उत्पन्न कर बालक के जीवन का विकास करती है। रचनात्मक कार्य में आज और कल के किये गये कार्य के आधार में स्वतः एक तुलनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न होता है और यदि आज का कार्य कल से अधिक हुआ है तो वह आत्मोत्साह एवं हर्षातिरेक से आप्लावित हो जाता है और यदि आज का कार्य कल से कम हुआ है तो कल अधिक करने की दृढ प्रतिज्ञा बनती है।

सामूहिक स्पर्धा में भी बालकों का एक समूह सदा दूसरे समूह से स्पर्धा कर प्रत्येक बालक में समूह की सामाजिक भावना एवं त्याग की भावना का विकास करता है। स्पर्धा के विषय में महात्मा गांधी ने भी लिखा है—"सबसे अच्छे कातने वाले लड़के या लड़की को इनाम दिलाना चाहिये। इस स्पर्धा से सब नहीं तो अधिकांश इसमें भाग लेने के लिए प्रेरित होंगे।"

इस प्रकार बुनियादी-शिक्षा चेतन-अचेतन रूप से सहज अनुकरण और सयत्न अनुकरण दोनों का ही बालकों मे क्रमिक विकास करती है।

सारांश

अनुकरण का रूप—अनुकरण का अर्थ है नकल करना। एक दूसरे के कार्य एवं चेष्टाओं की नकल की जाती है।

अनुकरण का प्रभाव—प्रत्येक क्रियाशील प्राणी में अनुकरण की प्रवृत्ति

प्रगाढ़ रूप से विद्यमान होती है। पर मानव पर इसका प्रभाव असाधारण रूप से छाया हुआ है।

मनोवैज्ञानिकों के भिन्न मत—महाशय थार्न डाइक अनुकरण प्रवृत्ति को न मानकर नकल द्वारा सीखने को सहज क्रिया का प्रभाव मानते हैं। पर इसका खण्डन करने वाले मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बोलना अनुकरण प्रवृत्ति का फल है, सहज क्रिया का नहीं अन्यथा सम्पूर्ण संसार में एक ही भाषा होनी चाहिए थी।

अनुकरण के प्रकार—कलपात्रिक एवं मेकडूगल महाशय ने अनुकरण को पाँच भागों में विभाजित किया है—(१) सहज अनुकरण, (२) स्वाभाविक अनुकरण, (३) अभिनयानुकरण, (४) विचारजन्य या प्रयोजन पूर्ण अनुकरण, (५) आदर्शानुकरण।

महाशय ड्रेवर का वर्गीकरण—(१) अचेतन अनुकरण, (२) चेतन अनुकरण, (३) दृश्यानुकरण, (४) विचारानुकरण।

जेम्स एस० रौस का वर्गीकरण—(१) समुचित अनुकरण, (२) अचेतन अनुकरण, (३) चेतन अनुकरण।

अनुकरण के दो पक्ष—(१) स्पर्धा और (२) ईर्ष्या। स्पर्धा वह मानसिक प्रवृत्ति है जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे से अपने आपको अच्छा बनाना चाहता है। जब अनुकरण में द्वन्द्व प्रवृत्ति की मात्रा बढ़ जाती है तो वह ईर्ष्या बन जाती है।

स्पर्धा के प्रकार—(१) आत्म-स्पर्धा, (२) व्यक्तिगत स्पर्धा, (३) सामूहिक स्पर्धा।

स्पर्धा का बालक पर प्रभाव—दूसरे की उन्नति करते देख बालक में स्पर्धा जागृत हो जाती है। पर असफल रहने पर यह व्यक्तिगत-स्पर्धा ईर्ष्या में परिणत हो जाती है। सामूहिक-स्पर्धा को बढ़ावा देना चाहिए।

अनुकरण प्रवृति एवं बुनियादी-शिक्षा—बुनियादी-शिक्षा अनुकरण प्रवृति का विकास कर बालक के लिये सीखने का क्षेत्र प्रदान करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) मनुष्य के जीवन में अनुकरण की क्या महत्ता है?

(२) अनुकरण कितने प्रकार का होता है? प्रत्येक का विवेचन कीजिये।

(३) बुनियादी शिक्षा-पद्धति बालक की अनुकरण सामान्य प्रवृत्ति का उपयोग किस प्रकार करती है?

(४) अनुकरण सामान्य प्रवृत्ति को ठीक दिशा में न लगाने पर बालक किस प्रकार बिगड़ सकता है?

—:०:—

सामान्य मूल प्रवृत्ति—खेल

खेल का रूप—खेलना बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह एक स्फूर्तियुक्त क्रिया है, जो सभी बच्चों में पाई जाती है। सभी बच्चे खेलना पसन्द करते हैं। भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं। इनमे से कुछ इस प्रकार हैं :—

"जिस बात को व्यक्ति स्वेच्छा से, स्वाधीनतापूर्वक तथा अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए करता है वह खेल है तथा जिसको किसी लालच से, किसी के भय से तथा बन्धन में रहकर करता वह काम है।"

"खेल एक स्वतन्त्र और स्वलक्ष्य कार्य है। खेल में नियम अवश्य होते हैं, किन्तु उन नियमों का पालन स्वेच्छा से किया जाता है।"—महाशय स्टर्न।

"खेल आनन्ददायक, स्वेच्छा-मूलक, उत्पादन क्रिया है, जिसमे मनुष्य को पूर्ण आत्म-व्यंजना प्राप्त होती है।"—महाशय रौस।

इसके साथ ही कई मनोवैज्ञानिक तो खेल को स्वतन्त्र सामान्य मूल प्रवृत्ति नही मानते। उनका कथन है कि उत्सुकता, रचना और अनुकरण आदि का विकास खेल के रूप में होता है। इस प्रकार खेल के विषय में मतमतान्तर विद्यमान हैं और प्रत्येक मत अपना स्वतः सिद्धान्त रखता है। इनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं —

खेल के सिद्धान्त

(१) अतिरिक्त ऊर्जा का सिद्धान्त (Surplus Energy Theory)—शिलर और स्पेंसर महाशयों का सिद्धान्त है कि खेल अतिरिक्त ऊर्जा या चेतनाशक्ति की व्यंजना है। बालक अपने में पालन तथा विकास के लिए आवश्यकता से अधिक ऊर्जा (Energy) रखता है। यही अतिरिक्त ऊर्जा खेल के रूप मे व्यय होती है। जिस प्रकार इंजिन की बढ़ी हुई भाप की शक्ति को सेफ्टी वाल्व द्वारा निकाल दिया जाता है उसी प्रकार बालक बढ़ी हुई ऊर्जा शक्ति को खेल के रूप में व्यय कर देता है।

इस सिद्धान्त का खंडन करने वाले मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि खेल अतिरिक्त ऊर्जा के व्यय का साधन नही है क्योंकि एक तो रोगियों, निर्बलों और थके मारे व्यक्तियों में ऊर्जा का अभाव होता है फिर भी उन्हें खेलने में आनन्द मिलता है। दूसरा इन्जिन की अतिरिक्त भाप व्यर्थ निकलती है पर बालक के खेल व्यर्थ नहीं होते वरन् उन खेलों से अगों की सुदृढ़ता, शारीरिक गठन, अनुभव और मन के विकास में वृद्धि होती है।

(२) पुनरावर्तन का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक स्टेनले हाल का

कथन है कि—"खेल की समस्त क्रियाओं की कुञ्जियाँ भूतकाल में रक्षित हैं। खेल का पूरा विकास जातिगत इतिहास का पुनरावर्तन है, हम तुरन्त विश्वास कर सकते हैं कि बालक अपने खेल में आदिम मनुष्य की कुछ क्रियाओं की पुनरावृत्ति करता है।" इस कथन के अनुसार यह प्रतीत होता है कि बालक युवावस्था तक आदिकाल से पूर्वजों द्वारा किये गये विकास को अपने जीवन में दुहराता है। आदिकाल के मनुष्य का जंगली जीवन, शिकार करना, गुफाओं में रहना आदि को बालक आँख मिचौनी, पीछा करना, शिकार करना, पत्थर फेंकना, मिट्टी के घर आदि बनाने के रूप में खेलकर पुनरावृत्ति करता है। इस प्रकार खेल बालक की वह चेष्टा है जिसके द्वारा वह अपने पूर्वजों के कार्यों की पुनरावृत्ति करता है।

(३) परिष्कृति का सिद्धान्त—उपरोक्त आवृत्ति के सिद्धान्त से सम्बन्धित परिष्कृति का सिद्धान्त है। पुनरावर्तन के सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजों के क्रमिक विकास की पुनरावृत्ति बालक अपने खेल में करता है। पर इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्वजों की उन जंगली प्रवृत्तियों को खेल द्वारा परिष्कृत करता है और इस प्रकार की परिष्कृति से बालक सभ्य बनता है। उदाहरणार्थ—पूर्वजों की युद्ध-प्रिय प्रवृत्ति को सभ्यता में स्थान नहीं पर मनुष्य में जन्मजात लड़ने का स्वभाव है। इसलिए सभ्य मनुष्य खेल में लड़ता है। खेल परिष्कृति का सफल और सरल साधन है।

(४) पुनः प्राप्ति का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रवर्तक लेजरस महोदय के अनुसार बालक थक जाने पर खेल द्वारा पुनः शक्ति प्राप्त करता है। यह अतिरिक्त ऊर्जा के सिद्धान्त के विपरीत है। इस सिद्धान्त के अनुसार बालक केवल इसलिए खेलता है कि वह कार्यों में की गई शक्ति को पुनः प्राप्त करले।

(५) भावी जीवन का पूर्वाभिनय सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रवर्तक मेलाब्राश और समर्थक कार्लग्रूस महाशयों के अनुसार बालकों में खेल की प्रवृत्ति इसलिए पाई जाती है कि प्रकृति बालकों को बाल्यावस्था में ही भावी जीवन के कार्यों का बोध करा देना चाहती है। उदाहरणार्थ बालकों का सिपाही, डाक्टर, शिक्षक बनकर खेलना, बच्चियों का गुड़ियों का खेल। बालकों का खेल में बाबू जी (पिता) बनना तथा बालिकाओं का माँ बनना भावी जीवन के वास्तविक पिता और माता बनने की पूर्व कल्पना है। इस प्रकार बालक खेल ही खेल में भावी जीवन की तैयारी करता है।

इन पाँचों सिद्धान्तों के लिए सर पर्सी नन का मत है कि ये सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं माने जाने चाहियें वरन् ये एक दूसरे के पूरक ही प्रतीत होते हैं। अधिकांश मनोवैज्ञानिक "भावी जीवन का पूर्वाभिनय" सिद्धान्त ही को खेलों का कारण मानते हैं।

खेलों के भेद

(१) खेलों के भेद के कारण—यद्यपि सभी बालक खेल खेलते हैं पर उनके खेल एक से नहीं होते हैं। उनमें भिन्नता होती है। यह भिन्नता निम्नलिखित कारणों से पाई जाती है :—

(क) वातावरण के कारण।
(ख) शारीरिक गठन के कारण।
(ग) मानसिक अवस्था, स्फूर्ति, रुचि के कारण।
(घ) वय के कारण।
(ङ) लिंग भेद के कारण।

(क) वातावरण के कारण—जो बालक जिस वातावरण में रहते हैं वे उसी के अनुरूप खेल खेलते हैं। जैसे गाँव के वातावरण का लड़का हल जोतना, गाड़ी हाँकना, पानी पिलाना या लोहारी, बढ़ईगीरी के खेल खेलता है और नगर के वातावरण का लड़का तांगा चलाना, सिपाही, न्यायाधीश, डाक्टर और शिक्षक आदि के खेल खेलता है।

(ख) शारीरिक गठन के कारण—खेलों का खेलना शारीरिक गठन पर भी आधारित है। सबल बालक भागने-दौड़ने के खेल में आनन्द प्राप्त करता है पर निर्बल बालक बैठे-बैठे खेलना चाहता है।

(ग) मानसिक अवस्था, स्फूर्ति और रुचि के कारण—बालक यदि प्रसन्न-चित्त होगा तो उसे खेलने में आनन्द आता है और अप्रसन्नता होने के कारण वह उछलने-कूदने का खेल नहीं खेलेगा। बालक में जितनी ऊर्जा शक्ति होगी उसी के अनुसार वह स्फूर्तिदायक खेल खेलेगा। साथ ही रुचि भी बालकों के खेल निर्धारित करती है। इसी प्रकार बालक का जन्मजात स्वभाव भी उसके खेलों पर प्रभाव डालता है तभी तो एक ही वातावरण के होते हुए भी भिन्न-भिन्न रुचि के बालक भिन्न-भिन्न खेल खेलते हैं।

(घ) वय के कारण—बालक की अवस्था के अनुसार भी खेलों में परिवर्तन होते हैं। एक वर्ष का बालक वस्तु को उठाकर उसे उलटने-पलटने के रूप में ही खेलता है। ३ वर्ष के बालक और ५ वर्ष के बालक के खेलों में भिन्नता होती है। प्रारम्भ में खेल वैयक्तिक होते हैं बाद में बड़े होने पर बालक सामाजिक खेल खेलता है। इसी प्रकार प्रारम्भिक अवस्थाओं में बालकों के खेल अनुकरणात्मक होते हैं और बड़ी अवस्था के खेल स्पर्धात्मक होते हैं।

(ङ) लिंग भेद के कारण—बालकों और बालिकाओं के खेलों में भिन्नता होती है। गुड़ियों के खेल को खेलना लड़के पसन्द नहीं करते और सिपाही बनना लड़कियाँ पसन्द नहीं करतीं। प्रत्येक लिंग की भावी जीवन की जिम्मेदारियाँ ही उनके खेलों का निर्धारण करती हैं।

खेलों की भिन्नता के कारणों का विवेचन करने के पश्चात् खेलों के भेद का निर्धारण करना आवश्यक है।

(२) खेलों के भेद—कार्लग्रूस महाशय ने निम्नलिखित पाँच भेद बताये हैं:—

(क) परीक्षणात्मक खेल।
(ख) धावन खेल।

(ग) रचनात्मक खेल ।

(घ) लड़ाई के खेल ।

(ङ) मानसिक खेल ।

खेलों के भेद को वैयक्तिक एवं सामूहिक दृष्टि से निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है :—
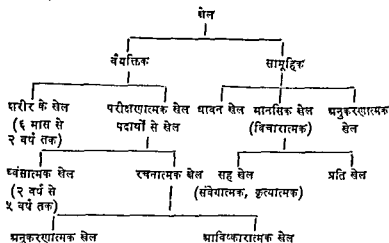
(क) परीक्षणात्मक खेल—बालक का वस्तुओं को उठाना, इधर-उधर पलटना आदि परीक्षणात्मक खेल हैं। इनसे बालक इन्द्रियों का विकास प्राप्त करता है। वस्तुओं से परिचय प्राप्त करता है। इस प्रकार के खेल उद्देश्यहीन होते हैं।

(ख) धावन खेल—भागने, दौड़ने, छिपने, पकड़ने के खेलों को धावन खेल कहा जाता है। इस प्रकार के खेल सामूहिक होते हैं। इनसे शरीर सुगठित होता है।

(ग) रचनात्मक खेल—मिट्टी के घरोंदे बनाना, खिलौने बनाना, चित्र बनाना आदि रचनात्मक खेल हैं। इस प्रकार के खेलों में हाथ का काम अधिक होता है। ये खेल कल्पना के विकास में सहायता देते हैं। बालक की आविष्कार की प्रवृत्ति का भी विकास होता है।

(घ) लड़ाई के खेल—फुटबाल, हाकी, कबड्डी, कुश्ती आदि खेल लड़ाई के खेल हैं जिनमें लड़ाई की भावना निहित होती है। इस प्रकार के खेल प्रायः सामूहिक होते हैं। इनसे बालक संगठन की भावना तथा समूह के लिए कार्य करना सीखता है।

(ङ) मानसिक खेल—विचारपूर्वक तथा बुद्धि को अत्यधिक प्रयोग कर खेले जाने वाले खेल मानसिक खेल कहलाते हैं। कार्लग्रूस ने मानसिक खेल तीन प्रकार के बताये हैं:—

(१) विचारात्मक खेल—जिसमें मस्तिष्क का पूरा काम हो जैसे शतरंज, चौपड़, ताश आदि।

(२) संवेगात्मक खेल—भावनाओं की अभिव्यक्ति वाले खेल जैसे नाटक आदि।

(३) कृत्यात्मक खेल—जैसे हँसी की बात पर भी न हँसने का प्रयत्न करना, म्यूजिकल चेयर, रेस आदि खेल जिनमें किसी प्रकार की प्रतियोगितायें हों।

खेल और काम में अन्तर—खेल और काम का घनिष्ट सम्बन्ध है। एक व्यक्ति का काम दूसरे के लिए खेल हो सकता है। बागवानी माली के लिये काम है और मालिक यदि उसमे कभी-कभी प्रसन्नता से हाथ बटाए तो वह खेल है। मल्लाही नाविक के लिए काम है और दूसरों के लिए खेल है। इस प्रकार—

(१) खेल का उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है और काम का उद्देश्य पैसे कमाना।

(२) खेल में समय का बन्धन नहीं होता और काम मे समय का बन्धन होता है।

(३) खेल मे रुचि और प्रसन्नता होती है पर काम मे प्रसन्नता का होना अनिवार्य नहीं।

(४) खेल में भय और लालच नही होता काम मे समय पर पूर्ण न करने का भय और लालच होता है।

बालकों के लिए खेलों का प्रबन्ध—बालक प्रायः उद्देश्यहीन खेल खेला करते हैं उनसे कोई लाभ नहीं होता। अतः बालकों को अच्छे खेल सिखलाये जाने चाहियें और उनके लिए प्रबन्ध करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(१) बालकों की आयु का ध्यान रखकर खेल निश्चित किये जाने चाहियें।

(२) बालकों के खेलने के स्थान नियत होने चाहियें। घर के आगन में भी उनके लिए अलग से स्थान सुरक्षित होना चाहिए।

(३) खेलने की वस्तुयें ऐसी होनी चाहियें जिनको बच्चे पसन्द करते हों और उनसे बालकों को चोट न लग जाय।

(४) खेलने का समय भी निश्चित होना चाहिए। काम के बाद खेल और खेल के बाद काम करने से दोनों में नवीनता आती है।

(५) बालकों के खेल जहां तक हो सके सामूहिक होने चाहियें।

(६) खेलों में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(७) खेल ऐसे होने चाहियें जिनमे बालकों को हाथ-पाँव हिलाने का बहुत अवसर मिले।

(८) माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षकों को भी बालकों के खेलों में भाग लेते रहना चाहिए तथा बालकों के खेलों का पूर्ण निरीक्षण करते रहना चाहिए।

(६) अपने नेता का पालन, सहयोग, सहन-शक्ति, त्याग आदि की भावना बच्चों में खेलों द्वारा उत्पन्न होनी चाहिए।

खेल और बुनियादी शिक्षा—यदि बालक शिक्षा को एक काम समझता है तो यह निश्चित है कि वह काम के सभी प्रतिबन्ध शिक्षा के क्षेत्र में ले आता है। अतः शिक्षा में खेल को स्थान देने का उद्देश्य ही केवल इसीलिए है कि बालक शिक्षा को खेल ही समझे। महाशय रौस ने लिखा है कि—"समस्त शिक्षा खेल-मूलक ही होनी चाहिए।" शिक्षा में खेल-वृत्ति का बहुत बड़ा स्थान है। आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों में खेल अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। किंडर गार्टन, मांटेसरी, डाल्टन प्लान, प्रोजेक्ट प्रणाली आदि में वह प्रवृत्ति विद्यमान है जो शिक्षा की समस्त प्रक्रिया को बालक के आनन्द, उत्साह और खेल के दृष्टिकोण से देखती है।

"परिस्थिति व वातावरण के उपयोजन के आशय में खेल प्रकृति की शिक्षा की रीति है।" इस कथन की सत्यता बुनियादी शिक्षा की प्रणाली में विद्यमान है। बुनियादी शिक्षा के विषयों के अध्ययन का अनुबन्ध (Co-relation), एकायन (Concentration), आदि की नवीन वृत्ति की समस्त क्रियाओं में आनन्ददायक, स्वेच्छा मूलक प्रक्रिया के रूप में खेल वृत्ति ही विद्यमान है। रूढ़िवादी शिक्षा का निराशाजनक परिणाम उसमें खेल-वृत्ति के अभाव के कारण ही है।

बुनियादी शिक्षा जगत की सार्वलौकिक रीति होने का प्रयत्न करती है क्योंकि यह समस्त बच्चों और समस्त विषयों पर लागू की जा सकती है। शिक्षा की इस सार्वलौकिक रीति की एक विशेषता, उसका खेल-वृत्ति मूलक होना है और यही बुनियादी शिक्षा की भी विशेषता है। बुनियादी शिक्षा में स्वायत्त शासन प्रणाली, बालनायकों का चुनाव, आदर्श प्रजातन्त्र रूप में संगठन, स्वस्थान, आत्म-सत्कार्य की सामाजिक महत्ता आदि सभी खेलों के ही विभिन्न स्वरूप हैं। खेल ही खेल में बालक रचनात्मक कार्य सीखता है। खेल ही खेल में अकों की गणना सीखता है। खेल ही खेल में वनभ्रमण कर पर्वतों, नदियों, घाटियों से भूगोल सीखता है। गढ़, मन्दिर तथा प्राचीन भग्नावशेषों से इतिहास की जानकारी करता है। ये सब विशेषताएँ बुनियादी शिक्षा में भरपूर विद्यमान हैं।

इस प्रकार बुनियादी शिक्षा खेल-वृत्ति के आधार पर बालक की इन्द्रियों का संवर्धन करती है, उसके ज्ञान का विकास करती है, उसके चरित्र का विकास करती है, उन्हें आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी बनाती है। बुनियादी शिक्षा की प्रणाली खेल और शिक्षा का समन्वय कर शिक्षण-पद्धति के सभी दोषों को दूर करने का प्रयास करती है।

सारांश

खेल का रूप—खेल एक स्वतःस्फूर्त क्रिया है जो सभी बालकों में पाई जाती है।

खेल के सिद्धान्त—(१) अतिरिक्त ऊर्जा का सिद्धांत—खेल अतिरिक्त ऊर्जा

चेतन शक्ति की व्यंजना है। (२) पुनरावर्तन का सिद्धांत—मानव के विकास की ...ी अवस्थाओं की आवृत्ति बालक खेलों में करता है। (३) परिष्कृति का सिद्धांत– ...ओं को जंगली प्रवृत्तियों का खेल द्वारा परिष्कृत करता है। (४) पुनः प्राप्ति का ...द्धांत—बालक थक जाने पर खेल द्वारा पुन: शक्ति प्राप्त करता है। (५) भावी ...वन का पूर्वाभिनय सिद्धांत—भावी जीवन की पूर्व कल्पना है।

खेलों के भेद—१. खेलों के भेद के कारण—(क) वातावरण के कारण, ...) शारीरिक गठन के कारण, (ग) मानसिक अवस्था, रुचि स्फूर्ति के कारण, (घ) ... के कारण, (ङ) लिंग भेद के कारण।

खेलों के भेद—२. (क) परीक्षणात्मक खेल, (ख) धावन खेल, (ग) रचना- ...खेल, (घ) लड़ाई के खेल, (ङ) मानसिक खेल,

खेल और काम में अन्तर—एक व्यक्ति का काम दूसरे के लिए खेल हो ...ा है।

बालकों के लिए खेलों का प्रबन्ध—बालक प्रायः उद्देश्यहीन खेल खेलते हैं ...अच्छे खेलों का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

खेल और बुनियादी शिक्षा—बालक को शिक्षा प्राप्त करना काम प्रतीत ...ा चाहिये। समस्त शिक्षा खेल-मूलक ही होनी चाहिये। बुनियादी शिक्षा खेल ...शिक्षा देने का प्रयत्न करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) खेल का बच्चे के जीवन में कितना महत्व है? यदि बालक खेल न खेलता हो तो ...आप समझेंगे या बुरा और क्यों?

(२) खेल और काम में क्या अन्तर है? खेल कब काम बन जाता है और काम कब खेल ...ा है?

(३) बच्चों के खेल सम्बन्धी विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा निरूपित सिद्धान्तों को स्पष्ट लिखिए कि आप कौन से सिद्धान्त को उपयुक्त समझते हैं और क्यों?

(४) बुनियादी शाला में बालकों की खेल व्यवस्था आप किस प्रकार करेंगे और आप के ...ई खेल-व्यवस्था का लक्ष्य बालक में किन-किन गुणों का विकास करना होगा?

—:o:—

संवेग

संवेगों का स्वरूप—संवेगों का सम्बन्ध मनुष्य की मानसिक क्रिया से है। हम नित्य प्रति देखते हैं कि बालक, युवक, वृद्ध, सभी भय, क्रोध, सुख, दुःख, दया, घृणा का अनुभव करते हैं। व्यक्ति के इस प्रकार के भय, क्रोध, सुख, दुःख, के अनुभव को संवेदन कहा जाता है। लेकिन सभी संवेदन एक ही प्रकार के नहीं होते। शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले संवेदन को इन्द्रिय संवेदन कहते हैं। जैसे ठोकर लग जाने, चाकू से लग जाने के कारण दुःख का संवेदन होता है। किसी घाव के उत्तरोत्तर आराम होने पर सुख का संवेदन होता है। यह शरीर की बाह्य वृत्ति है।

किसी की कड़वी बात सुनकर, गाली सुनकर, अथवा किसी के द्वारा स्वयं की प्रशंसा सुनकर जो दुःख अथवा सुख का अनुभव होता है उसे भाव संवेदन कहते हैं। इसका सम्बन्ध अनुभव-कर्त्ता के विचारों तथा भावों से है। यह शरीर की आभ्यान्तरिक वृत्ति है।

इसी भाव संवेदन का दूसरा नाम संवेग है। संवेग चेतनता की वह दशा है जिसमें अनुभूति का तत्व प्रधान है। जेम्स एस० रौस ने संवेग के लिए लिखा है कि—"संवेग किसी विशेष गुण की केवल अनुभूति-चेष्टा या अनुभव का भावनात्मक छद्म-वेशी रूप है जिसे हम अंतःप्रेक्षण द्वारा प्राप्त करते हैं।" वस्तुतः संवेग बालकों की प्रवृत्तियों की क्रियात्मक-वृत्ति अथवा भावनात्मक-रूप है।

बालक की प्रारम्भिक अवस्था में इन्द्रिय संवेदन की प्रधानता रहती है जैसे बालक भूख लगने पर रोने लगता है और माता के दूध पिला देने पर चुप हो जाता है। खिलौने की आवश्यकता होने पर बालक मचलता है और मिलने पर सतुष्ट हो जाता है। पर ज्यों-ज्यों बालक की आयु बढ़ती जाती है उसमें भाव संवेदन अर्थात् संवेग या उद्वेग की भावना की अनुभूति बढ़ती जाती है। भाव संवेदन के फलस्वरूप उसके व्यवहारों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। बालक की क्रियायें भावना-मूलक हो जाती हैं।

मूल प्रवृत्तियाँ और संवेग—पूर्व वर्णित मूल प्रवृत्तियों और संवेगों में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ विशेष प्रकार का संवेग रहता है। पूर्व वर्णित चौदह मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्धित संवेग निम्नलिखित है:—

मूल प्रवृति	सम्बंधित संवेग
१. भोजन ढूंढना	भूख
२. भागना	भय

३. लड़ना	क्रोध
४. उत्सुकता	आश्चर्य
५. रचना	रचनात्मक आनन्द
६. संग्रह	संग्रह भाव
७. विकर्षण	घृणा
८. शरणागत होना	करुणा
९. काम प्रवृत्ति	कामुकता
१०. शिशु-रक्षा	स्नेह
११. दूसरों की चाह	अकेलापन
१२. आत्म-प्रकाशन	उत्साह
१३. विनीत भाव	आत्महीनता
१४. हँसना	प्रसन्नता

इस प्रकार प्रत्येक मूल प्रवृत्ति से सम्बन्धित संवेग विद्यमान है। जब कोई मूल प्रवृत्ति कार्य करने लगती है तो उसमें सुविधा मिलती रहने पर आनन्ददायक संवेग उत्पन्न होता है और बाधा पड़ने पर दुःखदायक संवेग उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ एक गाय अपने बछड़े को दुलार रही है। उसकी शिशुरक्षा प्रवृत्ति कार्य कर रही है; उससे सम्बन्धित संवेग स्नेह की उत्पत्ति हो गई है जिससे उसे आनन्द मिल रहा है। उस समय यदि बछड़े को छेड़ा जाए तो गाय की शिशुरक्षा प्रवृत्ति की क्रिया में बाधा उपस्थित होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। अप्रिय संवेग की उत्पत्ति हो जाती है।

संवेग और शारीरिक व्यवस्था—संवेगों का शरीर के विकारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भय में शरीर की शिथिलता, क्रोध में आँख लाल होना, दांत पीसना, काँपने लगना, घृणा में नाक भौंह सिकोड़ना, आदि अनुभव प्रकट होते हैं। संवेग के उत्पन्न हो जाने पर हमारे शरीर के स्नायु जगत में विशेष प्रकार की चेतना और क्रियाशीलता आ जाती है। क्रोध की दशा में शरीर में एक विशेष प्रकार के रस की उत्पत्ति होकर शरीर के रुधिर में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, जो सम्पूर्ण शरीर को परिस्थिति का सामना करने को उद्यत करता है।

संवेगों का शरीर की पाचन क्रिया पर भी प्रभाव पड़ता है। महाशय कैनन ने एक बिल्ली पर इसका प्रयोग किया है। बिल्ली को भोजन कराने के बाद महाशय कैनन इसकी पाचनक्रिया का 'एक्सरे' द्वारा अध्ययन कर रहे थे कि अकस्मात् उनका कुत्ता आ गया। भय के कारण बिल्ली की पाचनक्रिया रुक गई। कुत्ते के चले जाने के बाद भय के दूर हो जाने पर पाचनक्रिया पुनः प्रारम्भ हो गई।

इस प्रकार संवेग का स्वास्थ्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। आनन्द और स्नेह के संवेग मनुष्य की आयु का वर्धन करते हैं और भय और क्रोध के संवेग उसे क्षीण बनाते हैं। भय के कारण उत्पन्न चिन्ता मनुष्य को क्षीण बनाने का कार्य अति शीघ्रता से करती है। चिता से बढ़कर चिन्ता की महत्ता बताई गई है क्योंकि "चिता दहति

निर्जीव को चिन्ता जीव समेत।' अतः संवेगों की उचित व्यवस्था के अभाव में मनुष्य चिड़चिड़ा, अहंकारी, खिन्न चित्त, और दुर्बल बन जाता है।

बालक के संवेगों को उचित प्रवाह न मिलने पर उनके मनोवेग भीतर ही भीतर षड़यन्त्र किया करते हैं और वे कभी-कभी अनर्थ कर डालते हैं। उनके विकास में बड़ी हानि होती है।

संवेगों की विशेषतायें—(१) सवेगों के साथ शारीरिक परिवर्तन होते हैं। इनमें से पहले कौन होता है ? इसका उत्तर देना कठिन है। क्रोध और उस समय के शरीर के लक्षण जैसे आँखें लाल होना, भृकुटी तनना में से पहले कौन होता है ? एक धारणा तो यह है कि पहले संवेग होता है फिर शारीरिक परिवर्तन। पर जैम्स लैंग का सिद्धांत यह बताता है कि पहले शारीरिक परिवर्तन होता है, जैसे साँप को देखते ही रोंगटे खड़े होना और फिर भय लगना। अधिकतर विद्वान् यह मानते हैं कि संवेग और शारीरिक परिवर्तन साथ-साथ होते हैं।

(२) जब मनुष्य किसी संवेग के वशीभूत होता है तो उसमें सोचने-समझने की विचार-शक्ति का अभाव हो जाता है। वह आवेश में आकर कार्य कर डालना चाहता है। फल की ओर उसका ध्यान नहीं जाता चाहे बाद मे उसे पश्चाताप ही क्यों न करना पड़े।

(३) संवेग के समाप्त हो जाने पर भी मनुष्य पर कुछ समय तक उसका प्रभाव रहता है। जैसे भय के मिट जाने पर दिल का धड़कना। महाशय केनन ने देखा कि बिल्ली की पाचनक्रिया कुत्ते के अदृश्य हो जाने पर भी बहुत देर बाद पुनः प्रारम्भ हुई।

(४) प्रवृत्ति और सवेग का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

(५) संवेग प्रवृत्तियों को बढ़ाते हैं और प्रवृत्तियां संवेगों को। पर सवेग के अत्यधिक बढ़ जाने पर प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं।

(६) संवेग की जागृति के लिये संवेदनात्मक स्थिति आवश्यक है, जैसे अपने प्रेमी का पत्र पाते ही प्रेमिका सवेग से भर जाती है।

संवेगों का वर्गीकरण—संवेगों से सम्बन्धित कार्यों की दृष्टि से उनको ५ वर्गों में विभाजित किया जाता है:—

१. **सामाजिक संवेग**—प्रेम, सम्मान, सहानुभूति आदि।

२. **स्वार्थी संवेग**—भय, क्रोध, अहंकार आदि।

३. **नैतिक संवेग**—करुणा, दया, कर्तव्य-पालन आदि।

४. **ललित संवेग**—संगीत, कला, सौन्दर्यानुभूति आदि।

५. **जिज्ञासु संवेग**—विद्या-प्रेम, ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा आदि।

संवेगों का मोटे रूप से दो ही वर्गों में विभाजन किया जा सकता है। यह ... प्रिय और अप्रिय की दृष्टि से होता है; इनमें से प्रथम है राग और दूसरा है

य। उपरोक्त स्वार्थी संवेगों का समावेश द्वेष के अन्तर्गत किया जा सकता है और शेष सभी प्रिय संवेग होकर राग के अन्तर्गत समाविष्ट किये जा सकते हैं।

संवेगों का रूपान्तर—मनोविकास में संवेगों का सदुपयोग अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार मूल प्रवृत्तियों का सदुपयोग किया जा सकता है उसी तरह संवेगों का भी सदुपयोग किया जा सकता है। संवेगों के सदुपयोग के लिये निम्नलिखित साधन प्रयोग में आते हैं:—

(१) निरोध।
(२) मार्गान्तरीकरण।
(३) शोध या उत्कर्षण।
(४) अध्यवसाय।
(५) रेचन।

(१) निरोध—अनुपयोगी संवेगों को उत्पन्न न होने देना ही निरोध कहलाता है। बालकों के लिये ऐसा वातावरण कभी उत्पन्न न होने देना चाहिये जिससे उनमें अनुचित संवेग उत्पन्न हों। पाठशाला का वातावरण उचित संवेग उत्पन्न करने वाला होना चाहिये।

अनुचित संवेग न उत्पन्न होने देने के लिये दूसरा साधन उपयोगी संवेगों का वहां प्राबल्य है। उदाहरणार्थ—यदि बालक में प्रेम का संवेग प्रबल होगा तो घृणा को स्थान न होगा। पर साथ ही यह ध्यान भी रखना चाहिये कि संवेग अत्यधिक न उभाड़े जायें अन्यथा मन स्वभावतः निर्बल हो जाता है। अत्यधिक भावुकता अनुचित सिद्ध होती है।

(२) मार्गान्तरीकरण—संवेग के प्रवाह को आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न स्रोतों में बहाया जा सकता है। उसके प्रवाह को परिवर्तित किया जा सकता है। इसे मार्गान्तरीकरण कहते हैं। जैसे मित्रों के साथ उत्पन्न होने वाले क्रोध के संवेग को द्वेष रखने वाले अथवा दुराचारी लोगों की ओर प्रवाहित किया जा सकता है।

(३) शोध अथवा उत्कर्षण—जब किसी संवेग का रूप इस प्रकार बदल जाता है कि मूल संवेग का रूप ही नहीं पहचाना जाता तो उसे उत्कर्षण कहते हैं। जैसे तुलसीदास जी का पत्नी-प्रेम हरिभक्ति में परिणत हो गया तो वह प्रेम का शोध हो गया। इसी प्रकार वासना का शोध, संगीत, कविता के रूप में किया जा सकता है। संवेगों के इसी शोध-साधन से मानव समाज की उन्नति होती है। संवेग के दमन से बालक के मन का विकास रुक जाता है।

(४) अध्यवसाय—संवेगों को अत्यधिक न उभड़ने देने के लिए तथा उन पर नियंत्रण रखने के लिए बौद्धिक कार्यों में दत्तचित्त रहना ही अध्यवसाय कहलाता है। कार्लाइल के इस कथन में मनोवैज्ञानिक सत्यता है कि "निकम्मे आदमी को ही सब प्रकार के बुरे भाव सताते हैं," अतः अत्यधिक संवेगों के प्रभाव से बचाने के लिए बालकों को अध्यवसाय में लगाये रखना [illegible]

रोकने का उपाय ही मध्यवसाय है अतः बालकों को अध्ययन, विचार आदि बौद्धिक कार्यों में लगाये रखना चाहिये ।

(५) रेचन—समाज की दृष्टि से अनुपयोगी एवं असामाजिक संवेगों को रोकने का प्रयत्न मनुष्य करता है। पर ये दबे हुए संवेग अवसर पाकर कभी-कभी उमड पड़ते हैं। इसी क्रिया को रेचन कहा जाता है। विकास की दृष्टि से समय-समय पर यह रेचन क्रिया आवश्यक भी है। रुके हुए संवेगों को यद्यपि निरोध, शोध आदि साधनों से प्रयोग में लाना चाहिए तदापि समय-समय पर हास-परिहास के रूप में इन अवरुद्ध संवेगों को उभड़ने का अवसर प्राप्त होता ही है। होली के त्योहार पर हिन्दू लोग तरह-तरह की गालियाँ देते हैं। यह उनकी अवरुद्ध काम वासना का रेचन है। प्रत्येक देश में इस प्रकार से नैतिकता से दबे हुए संवेगों को रेचन के लिए अवसर देने हेतु ऐसे एक न एक त्योहार अवश्य मनाये जाते हैं। अतः बालकों को भी हास-परिहास का पूर्ण अवसर देना चाहिये जिससे उनके मन में दबे हुए संवेगों को रेचन का अवसर मिलता रहे और उनके चरित्र का विकास होता रहे।

संवेग और बुनियादी शिक्षा—मानव जीवन में संवेगों का बड़ा महत्त्व है। संवेगों का समीचीन विकास यदि नहीं होता है तो व्यक्तित्व का विकास भी पूर्ण नहीं हो पाता। अतः शिक्षकों को तथा माता-पिताओं को चाहिये कि बालकों के हृदय में अनुचित संवेगों को उत्पन्न न होने दें, शोध क्रिया द्वारा तथा मार्गान्तरीकरण द्वारा संवेगों को उचित स्रोत में प्रवाहित करें। तथा रेचन क्रिया द्वारा दबे हुए संवेगों को भी विकसित होने का अवसर देवें।

बुनियादी शिक्षा का शिक्षक बालक में संवेगों की दृष्टि से कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होने देता है। समय-समय पर उपयोगी संवेगों को प्रस्फुटन का अवसर प्रदान करने का प्रयत्न करता है। रचना की विशिष्ट मूल प्रवृत्ति के आधार पर रचनात्मक आनन्द, संवेग की उत्पत्ति, बालकों की दस्तकारी के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी जा सकती है।

इसी रचनात्मक कार्य के द्वारा प्रेम और आत्माभिमान संवेग का शोध तथा मार्गान्तरीकरण, देश-प्रेम, आत्म-गौरव एवं देशाभिमान के रूप में किया जा सकता है। इसी प्रकार बुनियादी शिक्षा भय और क्रोध आदि अनुपयोगी संवेगों का प्रयोग देशद्रोहियों, दुराचारियों के प्रति कराती है। यह मार्गान्तरीकरण द्वारा किया जा सकता है।

भोजनान्वेषण मूल प्रवृत्ति से सम्बन्धित संवेग भूख है। इसके आधार पर बालकों को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है। संग्रह प्रवृत्ति के आधार पर उनके स्वत्व के संवेग की जागृति की जा सकती है। इसके आधार पर बुनियादी शिक्षा उपयोगी वस्तुओं को संभालना सिखाती है।

तात्पर्य यह है कि संवेगों के सम्यक् विकास के लिए बुनियादी शिक्षा में पूर्ण क्षेत्र विद्यमान है। इसके विपरीत रूढ़िवादी शिक्षा में न रचनात्मक आनन्द संवेग ही

को, न स्वावलम्बन को, न स्वस्थ संवेग ही को विकास के लिए कोई उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त होता है। रूढ़िवादी शिक्षा तो बालकों के कई संवेगों का दमन कर उन्हें आवारा, असभ्य और आलसी बनाती है। इसके विपरीत बुनियादी शिक्षा बालक को बौद्धिक कार्य प्रदान करती है, अध्यवसायी बनाती है, कार्यरत रखती है। इससे बालक स्वयं को बेकार नहीं प्रतीत करता और जिससे बुरे भाव उसके हृदय मे स्थान ग्रहण नही कर पाते। बुनियादी शिक्षा ही बालकों का स्वस्थ मानसिक विकास करती है। बुनियादी शिक्षा के शिक्षक को चाहिये कि वह कर्त्तव्य-पालन और परस्पर सहयोग की भावना सम्बन्धी संवेगों द्वारा बालक का पूर्ण नैतिक विकास करे।

सारांश

संवेगों का स्वरूप—संवेग का सम्बन्ध मनुष्य की मानसिक क्रिया से है। भय, क्रोध, सुख-दुःख, दया, घृणा की अनुभूति का नाम संवेदन है। संवेदन दो प्रकार के होते हैं—इन्द्रिय संवेदन जो शरीर व इन्द्रियों के बाह्य प्रेक्षण से सम्बन्ध रखता है। दूसरा भाव संवेदन जिसका सम्बन्ध मनुष्य के भावों और विचारों से है। इसी भाव संवेदन का नाम संवेग है।

मूल प्रवृत्तियाँ और संवेग—प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ संवेग का सम्बन्ध है। जब मूल प्रवृत्ति को कार्यान्वित होने में सुविधा मिलती है तो आनन्ददायक संवेग उत्पन्न होता है और मूल प्रवृत्ति के कार्यान्वित होने में बाधा उत्पन्न होने पर दुःखदायी संवेग उत्पन्न होता है।

संवेग और शारीरिक व्यवस्था—संवेग का प्रभाव शरीर पर तत्काल-लक्षित होता है। आकृति में अन्तर पड़ जाता है। संवेगों का शरीर की पाचनक्रिया तक प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।

संवेग की विशेषतायें—

(१) संवेगों के साथ शारीरिक परिवर्तन होते हैं।

(२) संवेग के वशीभूत होने पर विचार शक्ति का ह्रास हो जाता है।

(३) संवेग के समाप्त हो जाने पर भी उसका प्रभाव कुछ समय तक और रहता है।

(४) प्रवृत्ति और संवेग का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(५) संवेग के अत्यधिक बढ़ने पर प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है।

(६) संवेग की जागृति के लिए संवेदात्मक सम्बन्ध आवश्यक है।

संवेगों का वर्गीकरण—मोटे रूप से दो ही वर्गीकरण सम्भव हैं:—

(१) राग।

(२) द्वेष।

कतिपय मनोवैज्ञानिकों ने ५ वर्गीकरण किए हैं:—

(१) सामाजिक संवेग।

(२) स्वार्थी संवेग।

(३) नैतिक संवेग।
(४) ललित संवेग।
(५) जिज्ञासु संवेग।

संवेग का रूपान्तर—संवेग का रूपान्तर पाँच प्रकार से किया जा सकता है।

(क) **निरोध**—अनुपयोगी संवेगों को उत्पन्न न होने देना तथा उपयोगी संवेगों को प्रधानता देना निरोध कहलाता है।

(ख) **मार्गान्तरीकरण**—आवश्यकतानुसार भिन्न स्रोत में संवेगों को प्रवाहित करना मार्गान्तरीकरण कहलाता है।

(ग) **शोध**—संवेग का पूर्णतया उन्नयन शोध कहलाता है।

(घ) **अध्यवसाय**—संवेगों को उमड़ने का अवसर न प्रदान करने के लिए बालक को बौद्धिक कार्यरत रखना अध्यवसाय कहलाता है।

(ङ) **रेचन**—अनुपयोगी एवं सामाजिक संवेगों को समय-समय पर उमड़ने का अवसर देना रेचन कहलाता है। शारीरिक और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है।

संवेग और बुनियादी शिक्षा—*बुनियादी शिक्षा सुअवसर पर उपयोगी संवेग* का वांछित परिवर्धन करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) संवेग किसे कहते हैं? संवेग और संवेदन में क्या अन्तर है?
(२) संवेग की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
(३) संवेगों का मूल प्रवृत्तियों से क्या सम्बन्ध है?
(४) जेम्स लैंग के सिद्धांत का शिक्षा सम्बन्धी महत्त्व क्या है?
(५) बुनियादी शिक्षा द्वारा संवेगों का उचित संवर्धन किस प्रकार किया जा सकता है?

—:०:—

स्थायी भाव

स्थायी भाव का रूप—किसी भी संवेग की जागृति किसी वस्तु, स्थान, व्यक्ति या भाव के आधार पर होती है। वही संवेग जब बार-बार उस वस्तु से सम्बन्धित होकर भड़कता है तो उसकी आवृत्ति के कारण वह संवेग उस वस्तु के साथ जुड़ जाता है और मन के अन्दर स्थायी रूप ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ माता बच्चे को दूध पिलाती है। बालक को भूख लगने पर उसके रोने-चिल्लाने पर माता उसे दूध पिलाती है जिससे उसे तृप्ति होती है। धीरे-धीरे यह सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि भूख लगने पर बालक रोता-चिल्लाता है और माता के पास आकर दूध पिलाना आरम्भ करने से पूर्व ही बालक शान्त होता दिखाई देता है। माता को देखते ही दूध मिलने की आशा बँधते ही उसे भूख की तृप्ति का सा अनुभव होने लगता है। माता के प्रति उसका स्थायी भाव बन जाता है। अत स्थायी भाव की परिभाषा इस प्रकार बन सकती है कि—किसी वस्तु, स्थान, व्यक्ति, भाव आदि के प्रति एक या अनेक संवेगों की पुनरावृत्ति के कारण जो स्थायी प्रभाव जम जाता है उसी को स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव की उत्पत्ति—स्थायी भाव की उत्पत्ति दो बातों पर निर्भर है—

(१) जिसके प्रति स्थायी भाव उत्पन्न हो उसका पूरा ज्ञान व्यक्ति को होना आवश्यक है। उससे उसका प्रगाढ़ सम्पर्क होना चाहिये। सम्पर्क जितना प्रगाढ़ होगा उतना ही स्थायी भाव भी दृढ़ होगा। स्थायी भाव उस समय तक कदापि उत्पन्न न होगा जब तक कि वस्तु, व्यक्ति, स्थान, भाव आदि का उसे पूरा-पूरा ज्ञान न हो। एक व्यक्ति का अपनी जन्मभूमि के प्रति स्थायी भाव अवश्य होगा पर अपरिचित शहर के प्रति नहीं। बालक का सर्व प्रथम माँ के प्रति स्थायी भाव होता है क्योंकि उसके लिए वही सर्वस्व है।

(२) दूसरी आवश्यक बात है संवेगों का संगठन। वस्तु, व्यक्ति, स्थान या भाव से परिचय और सम्पर्क होने पर उसके प्रति संवेग संगठित होते हैं। साधारण परिचय पर संवेग संगठित नहीं होते पर सम्पर्क बढ़ने पर ही संवेग संगठित होते हैं। लड़कपन के साथी को देखते ही कई संवेग उमड़ पड़ेंगे पर साधारण परिचित व्यक्ति के प्रति उतना स्थायी भाव जमा नहीं होता।

अतः स्थायी भाव किसी वस्तु के प्रति तभी बन सकते हैं जब प्रथम तो हमें उस वस्तु का परिपक्व ज्ञान एवं उससे सम्पर्क हो तथा दूसरे उसके साथ हमारे दुःख-सुख का सम्बन्ध रहा हो—

स्थायी भाव के निर्माण की अवस्थायें—स्थायी भाव के निर्माण की
अवस्थायें होती हैं—

(१) विशेषावस्था।
(२) सामान्यावस्था।
(३) सूक्ष्मावस्था।

(१) विशेषावस्था—सर्वप्रथम बालक में व्यक्ति विशेष के प्रति स्थायी भा
की उत्पत्ति होती है जैसे बालक की स्वयं की माता के प्रति दूसरे की माता के प्र
नहीं।

(२) सामान्यावस्था—बालक के बड़े होने तथा अनुभव बढ़ने पर स्थायी भाव
का क्षेत्र विस्तृत होता है। यह क्षेत्र व्यक्ति विशेष तक ही सीमित नहीं रहता, उसकी
सामान्यावस्था आती है। जैसे बालक का अनुभव बढ़ने पर अपनी माता के प्रति बना
स्थायी भाव प्रत्येक माता के प्रति हो जाता है क्योंकि वह अपनी ही माता के सदृश
दूसरी माताओं को व्यवहार करते देखता है। इसी प्रकार वीर विशेष से वीरों के
प्रति, नेता विशेष से नेताओं के प्रति, गाँव के आनन्दों से ग्राम्य जीवन के प्रति
आदि।

(३) सूक्ष्मावस्था—तीसरी अवस्था सूक्ष्मावस्था है। इस अवस्था में किसी
सत्य, भाव या आदर्श के प्रति स्थायी भाव बनता है, जैसे सर्वप्रथम माता विशेष के
प्रति, फिर सभी माताओं के प्रति और तीसरी अवस्था में माता के गुणों के प्रति
स्थायी भाव उत्पन्न होता है, जैसे माता की कष्ट सहिष्णुता, वात्सल्य आदि के
प्रति।

अतः उपरोक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि बालक में सर्व-
प्रथम व्यक्ति विशेष के प्रति तथा तत्पश्चात् क्रमशः सामान्य के प्रति और अन्त में
भाव तथा आदर्श के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं।

स्थायी भाव और बुनियादी शिक्षा—समाज की प्रत्येक इकाई व्यक्ति के स्वयं
के स्थायी भावों के आधार पर समाज अथवा राष्ट्र के स्थायी भावों का निर्णय कर
राष्ट्रवासियों का चरित्र आंका जाता है। जैसे भारतवासियों के सत्य, अहिंसा के
स्थायी भावों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक भारतवासी सत्य
और अहिंसाप्रिय है। अतः न केवल व्यक्तिगत दृष्टि से ही अपितु राष्ट्र की दृष्टि से
भी इन स्थायी भावों का व्यक्ति के जीवन में बड़ा महत्व है। अच्छे स्थायी भावों के
निर्माण से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान में वृद्धि होती है।

इसी को दृष्टि में रखते हुए महात्मा गाँधी ने सत्य और अहिंसा आधार-
भूत तथा स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाने वाली बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा
घोषित करने का विचार रखा। यही शिक्षा वास्तविक रूप से बालक में उपयुक्त स्थायी
भावों के निर्माण में सहायक होती है। बुनियादी शिक्षा का एक उद्देश्य भारत में
समाजवादी संगठन की स्थापना है अतः उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह बालक में

आत्म-सम्मान, सहिष्णुता एवं स्वावलम्बन उत्पन्न करती है। बुनियादी शिक्षा रंग, जाति के वर्ण-भेद और वर्ग-भेद को मिटाने के लिए बन्धुत्व का स्थायी भाव उत्पन्न करती है।

सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बुनियादी शिक्षा स्थायी-भाव के शिरोमणि आत्मसम्मान स्थायी भाव को उत्पन्न करने मे अत्यन्त सफल है। रूढ़िवादी शिक्षा बालक में आत्मसम्मान के स्थायी भाव को उचित रूप से उत्पन्न नहीं कर सकती क्योकि शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी जीविका उपार्जन हेतु उसे अन्य पुरुषों के सन्मुख अपना आत्मसम्मान खोना ही पड़ता है, दर-दर भटकना ही पड़ता है। हर बुनियादी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को दर-दर भटकने की आवश्यकता नहीं।

बुनियादी शिक्षा का शिक्षक स्थायी भाव की जागृति क्रमशः विशेष, सामान्य और सूक्ष्म की ओर करता है। वह स्वयं अपने जीवन में ऐसे गुण उत्पन्न करता है कि बालक अध्यापक के प्रति प्रथम स्थायी भाव, तत्पश्चात् अध्यापक समाज के प्रति और अन्त में अध्यापक के गुणों के प्रति स्थायी भाव दृढ़ रूप से जमाए और इसी के आधार पर अध्यापकों के सम्मान का प्रश्न भी हल हो सकता है।

इस प्रकार बुनियादी शिक्षा वांछित स्थायी भावों का क्रमशः निर्माण करने में अत्यन्त सफल सिद्ध हुई।

सारांश

वस्तु, व्यक्ति, स्थान या भाव के संवेग की पुनः आवृत्ति पर उसके प्रति स्थायी भाव उत्पन्न हो जाता है।

स्थायी भाव की उत्पत्ति—दो बातों पर निर्भर है प्रथम वस्तु का ज्ञान और सम्पर्क, द्वितीय संवेगों का संगठन।

स्थायी भाव के निर्माण की अवस्थायें—

(१) विशेषावस्था—सर्वप्रथम अवस्था है और व्यक्ति विशेष के प्रति होती है।

(२) सामान्यावस्था—दूसरी अवस्था है और उसी स्तर के सभी व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति होती है।

(३) सूक्ष्मावस्था—तीसरी अवस्था है और व्यक्ति या वस्तुओं के गुण और आदर्श के प्रति होती है।

स्थायी भाव और बुनियादी शिक्षा—लोकतन्त्र की भावना स्वावलम्बन, सत्य और अहिंसा के स्थायी भाव के साथ-साथ सर्वोत्कृष्ट आत्मसम्मान के स्थायी भाव को उत्पन्न करने में बुनियादी-शिक्षा अत्यन्त सफल पद्धति है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) स्थायी भाव किसे कहते हैं? किस प्रकार बनते हैं? इनकी जीवन में क्या विशेषतायें हैं?

(२) आत्मसम्मान का स्थायी भाव क्या होता है और यह बालक में किस प्रकार बनता है ?

(३) पाठशाला, अध्यापक, देश और समाज के प्रति उत्तम स्थायी भाव किस प्रकार उत्पन्न किए जा सकते हैं ?

(४) बुनियादी शिक्षा बालकों में उत्तम स्थायी भाव उत्पन्न करने के लिए कहाँ तक व किस प्रकार समर्थ है ?

—:o:—

अध्याय ३४

सीखना

मनुष्य के जीवन में सीखना महत्वपूर्ण क्रिया है। मनुष्य की जन्मजात मूल प्रवृत्तियों के आधार पर वह वातावरण से कुछ न कुछ सीखता रहता है। मनुष्य जन्म से लगाकर मृत्यु के क्षण तक ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से सीखता ही रहता है। वैसे तो संसार के सभी प्राणी सीखते हैं। पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े सभी में सीखने की क्षमता है। पर सीखने की सर्वाधिक क्षमता मानव में ही है क्योंकि उसमें बुद्धि है तथा स्मरण शक्ति विद्यमान है। बुद्धि एवं स्मृति न होती तो सीखने की कृति का कोई मूल्य नहीं रहता। एक बालक आग से एक बार हाथ जल जाने पर पुनः आग देख कर डरता है। अतः सीखना मानव-जीवन की अभिन्न कृति है।

सिखाने की आवश्यकता—मनोवैज्ञानिकों में इस बात के लिए अलग-अलग मत हैं कि बालक को सिखाया जाना चाहिये अथवा नहीं। एक धारणा तो यह है कि बालक को स्वयं स्वतः अनुभव कर सीखना चाहिए। यदि बालक आग छूकर उससे जल जाता है तो उसे पुनः उसे न छूने का तथा गर्मी का ज्ञान प्राप्त होता है। बालक की प्रवृत्ति ही ऐसी होती है कि वह प्रत्येक कार्य को करके देखे। उसे दूसरे के द्वारा दिये गये ज्ञान से संतोष नहीं होता। वह सबका अनुभव स्वयं करना चाहता है। अतः उसे किसी प्रकार का ज्ञान न देकर उसे अनुभव से सीखने देना चाहिये।

पर दूसरी धारणा इससे विपरीत है जो बालक को सिखाने की आवश्यकता पर प्रकाश डालती है। यह धारणा सिखाने की महत्ता निम्नलिखित आधारों पर स्वीकार करती है :—

(१) अब तक के अनुभवों को सिखाने की प्रथा—प्रत्येक मनुष्य को अपने सगे सम्बन्धियों, मित्रों आदि को अपने अनुभव कहने में आनन्द आता है। वह कहे बिना रह नहीं सकता, और इस प्रकार सुनने वाले उससे सीखते ही हैं।

(२) अनुभवित कष्टों से बचाना—मनुष्य के लिए स्वाभाविक है कि वह अपने द्वारा झेले गए कष्टों से अपने साथियों को, सम्बन्धियों को, सन्तानों को बचाने का प्रयत्न करता है। मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह आवश्यक भी है।

(३) भूतकाल के अनुभवों से लाभ—समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए यह आवश्यक भी है कि जो अनुभव अब तक प्राप्त कर लिए गए हैं उनसे आगे के अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाए। इस प्रकार भूतकाल के अनुभव यदि न सिखाए जायें तो मनुष्य को प्रारम्भ से ही अनुभव प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति का अनावश्यक व्यय करना होगा।

(४) समय की बचत—मानव जीवन की सीमा संकुचित है। यदि प्रत्येक मनुष्य भूतकाल के अनुभवों को न सीखकर प्रारम्भ से ही स्वयं अनुभव करने लगे तो प्रगति होना संभव नहीं। साथ ही प्रत्येक मानव दूसरे के अनुभव के आस-पास के स्तर तक पहुँचते-पहुंचते जीवन-लीला समाप्त कर बैठेगा। इस प्रकार अनुभवों के अग्रसर होने व प्रगति के बढ़ने में गति धीमी रहेगी।

अतः बालक को प्रारम्भ से ही भूतकाल के अनुभव सिखाकर उसे भविष्य के आविष्कारों के लिए तैयार कर देना बहुत जरूरी है।

सीखने का स्वरूप—समस्या तथा अवस्था के उत्पन्न होने पर मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिक्रिया करता है। जैसे भूख लगने पर भोजन प्राप्त करना प्रवृत्ति की क्रिया है। पर यह प्रतिक्रिया अच्छी अथवा बुरी हो सकती है। सिखाने की महत्ता यही है कि मनुष्य अच्छी प्रतिक्रिया करना सीखे। भूख लगने पर भोजन प्राप्त करने की बुरी क्रिया छीनना, झपटना, बिना पूछे उठा लेना अथवा भोजन की चोरी कर डालना आदि है। पर इसकी अच्छी प्रतिक्रिया भोजन को नैतिक तरीकों से प्राप्त करना है। अतः सिखाने की विशेषता ही यह है कि सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से उचित प्रतिक्रियायें सिखाई जावें। अतः सीखने की परिभाषा इस प्रकार बनाई जा सकती है कि मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित प्रतिक्रियाओं को उचित एवं नैतिक प्रतिक्रिया का रूप देना ही सीखना है।

सीखने की स्थिति—यह सीखना ५ बातों पर आधारित है :—

(१) कार्य की सरलता व कठिनता—कार्य जितना सरल होगा उतना ही शीघ्र सीखा जा सकेगा।

(२) आयु के अनुकूल कार्य का होना—छोटे बालक को अंकगणित के बड़े-बड़े सवाल नहीं सिखाए जा सकते।

(३) शरीर की क्षमता—थका हुआ, रोगी, निर्बल व्यक्ति शीघ्रता से नहीं सीख सकता।

(४) सीखी जाने वाली वस्तु की व्यवस्था—प्रत्येक बात क्रम से पुराने अनुभवों पर आधारित कर उसमें तारतम्य बांधती हुई सीखी जा सकती है। बालक को पहले एक अंक के योग सिखाने पर ही वह योग के बड़े सवाल कर सकेगा।

(५) सीखने वाले से परिश्रम की चाह—सीखने वाले बालक को सीखने का परिश्रम करने के लिए तैयार होना चाहिये अन्यथा सीखने का कार्य ठीक प्रकार से न हो सकेगा।

सीखने के नियम

मनोवैज्ञानिकों ने इस बात पर विचार किया है कि अनुभव प्राप्त करने तथा सीखने के कितने तरीके हैं। प्रत्येक तरीके को उन्होंने एक नियम का रूप दे दिया है। इस प्रकार सीखने के चार नियम हैं :—

(१) प्रयत्न और भूल से सीखना।

(२) अनुकरण से सीखना।
(३) सूझ से सीखना।
(४) सम्बद्ध सहज क्रिया से सीखना।

(१) प्रयत्न और भूल से सीखना—महाशय थार्न डाइक ने इस ओर बहुत अध्ययन किया। उनका कथन है कि प्राणी बार-बार प्रयत्न करता है और त्रुटि करता है और इसी क्रम से वह सीखता है। थार्न डाइक ने पशुओं पर प्रयोग कर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रयत्न और भूल से सफलता प्राप्त करना तीन नियमों पर आधारित है—

(क) परिणाम का नियम।
(ख) अभ्यास का नियम।
(ग) तत्परता का नियम।

(क) परिणाम का नियम—किसी भी कार्य को एक बार कर लेने के बाद उससे कटु या प्रिय परिणाम के आधार पर कर्त्ता को असंतोष या संतोष होता है। जिस कार्य से कर्त्ता को संतोष होता है वह उसे पुनः करना सीख जाता है। जिससे असन्तोष होता है उसे दुहराना छोड़ देता है। सीखने वाला सुखद् क्रिया को जारी रखता है और दुःखद को छोड़ देता है। जैसे आग से हाथ जलने पर आग को न छूना सीख जाता है। इस प्रकार परिणाम के सुखकर या दुखकर होने के आधार पर कर्त्ता उसको करना या न करना सीखता है। बालक को जिस कार्य के करने से पुरस्कार मिले उसे वह पुनः करेगा और दण्ड मिलने पर उसे छोड़ देगा।

(ख) अभ्यास का नियम—सुखकर एवं संतोषजनक कार्य को दुहराने से कार्य को सरलतापूर्वक करना सीखा जाता है। कार्यों को बार-बार करने से उनमें कुशलता प्राप्त हो जाती है। संगीत, नृत्य कला, आदि अभ्यास द्वारा ही सीखी जाती हैं। कहा भी है "करत-करत अभ्यास से जड़ मति होत सुजान।" अभ्यास गलत न होना चाहिए जैसे भाषा के गलत अभ्यास से भाषा-ज्ञानी नहीं बन सकता।

(ग) तत्परता का नियम—सीखने वाले का मन यदि कार्य को सीखने को तैयार है तभी वह सीख सकता है; अन्यथा नहीं। इच्छा के विरुद्ध कार्य करने पर उसका करना शीघ्र नहीं सीखा जा सकता। जैसे बिल्ली का यदि पेट भरा हुआ हो तो वह पिंजरे से निकलने में तत्परता न दिखलायेगी पर भूखी बिल्ली जल्दी निकलने का मार्ग ढूंढेगी।

विवेचन—इस प्रयत्न और भूल के नियम से सीखने में सीखने वाला असफल प्रतिक्रियाओं को छोड़कर सफल प्रतिक्रियाओं को करता है। इस प्रकार सफल प्रतिक्रियायें आगे की प्रतिक्रियाओं का आधार बनती जाती हैं। इसी क्रम से प्रयत्न और भूल से सीखा जाता है।

इस नियम के अनुसार अध्यापक का कर्तव्य—सबसे सरल नियम प्रयत्न और भूल का नियम है। इसमें कार्य को करने का रचनात्मक आनन्द विद्यमान है। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों को 'करके सीखने' के इस नियम के अनुसार ही

(४) समय की बचत—मानव जीवन की सीमा संकुचित है। यदि प्रत्येक मनुष्य भूतकाल के अनुभवों को न सीखकर प्रारम्भ से ही स्वयं अनुभव करने लगे तो प्रगति होना संभव नहीं। साथ ही प्रत्येक मानव दूसरे के अनुभव के पास-पास के स्तर तक पहुँचते-पहुंचते जीवन-लीला समाप्त कर बैठेगा। इस प्रकार अनुभवों के अग्रसर होने व प्रगति के बढ़ने में गति धीमी रहेगी।

अतः बालक को प्रारम्भ से ही भूतकाल के अनुभव सिखाकर उसे भविष्य के आविष्कारों के लिए तैयार कर देना बहुत जरूरी है।

सीखने का स्वरूप—समस्या तथा अवस्था के उत्पन्न होने पर मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिक्रिया करता है। जैसे भूख लगने पर भोजन प्राप्त करना प्रवृत्ति की क्रिया है। पर यह प्रतिक्रिया अच्छी अथवा बुरी हो सकती है। सिखाने की महत्ता यही है कि मनुष्य अच्छी प्रतिक्रिया करना सीखे। भूख लगने पर भोजन प्राप्त करने की बुरी क्रिया छीनना, झपटना, बिना पूछे उठा लेना अथवा भोजन की चोरी कर डालना आदि है। पर इसकी अच्छी प्रतिक्रिया भोजन को नैतिक तरीको से प्राप्त करना है। अतः सिखाने की विशेषता ही यह है कि सामाजिक *एवं नैतिक दृष्टि से उचित प्रतिक्रियायें सिखाई जायें। अतः सीखने की परिभाषा* इस प्रकार बनाई जा सकती है कि मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित प्रतिक्रियाओं को उचित एवं नैतिक प्रतिक्रिया का रूप देना ही सीखना है।

सीखने की स्थिति—यह सीखना ५ बातों पर आधारित है :—

(१) कार्य की सरलता व कठिनता—कार्य जितना सरल होगा उतना ही शीघ्र सीखा जा सकेगा।

(२) आयु के अनुकूल कार्य का होना—छोटे बालक को अंकगणित के बड़े-बड़े सवाल नहीं सिखाए जा सकते।

(३) शरीर की क्षमता—थका हुआ, रोगी, निर्बल व्यक्ति शीघ्रता से नहीं सीख सकता।

(४) सीखी जाने वाली वस्तु की व्यवस्था—प्रत्येक बात क्रम से पुराने अनुभवों पर आधारित कर उससे तारतम्य बाँधती हुई सीखी जा सकती है। बालक को पहले एक अंक के योग सिखाने पर ही वह योग के बड़े सवाल कर सकेगा।

(५) सीखने वाले से परिश्रम की चाह—सीखने वाले बालक को सीखने का परिश्रम करने के लिए तैयार होना चाहिये अन्यथा सीखने का कार्य ठीक प्रकार से न हो सकेगा।

सीखने के नियम

मनोवैज्ञानिकों ने इस बात पर विचार किया है कि अनुभव प्राप्त करने तथा सीखने के कितने तरीके हैं। प्रत्येक तरीके को उन्होंने एक नियम का रूप दे दिया है। इस प्रकार सीखने के चार नियम हैं :—

(१) प्रयत्न और भूल से सीखना।

(२) अनुकरण से सीखना।

(३) सूझ से सीखना।

(४) सम्बद्ध सहज क्रिया से सीखना।

(१) प्रयत्न और भूल से सीखना—महाशय थार्न डाइक ने इस ओर बहुत अध्ययन किया। उनका कथन है कि प्राणी बार-बार प्रयत्न करता है और त्रुटि करता है और इसी क्रम से वह सीखता है। थार्न डाइक ने पशुओं पर प्रयोग कर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रयत्न और भूल से सफलता प्राप्त करना तीन नियमों पर आधारित है—

(क) परिणाम का नियम।

(ख) अभ्यास का नियम।

(ग) तत्परता का नियम।

(क) परिणाम का नियम—किसी भी कार्य को एक बार कर लेने के बाद उससे कटु या प्रिय परिणाम के आधार पर कर्ता को असंतोष या संतोष होता है। जिस कार्य से कर्ता को संतोष होता है वह उसे पुनः करना सीख जाता है। जिससे असन्तोष होता है उसे दुहराना छोड़ देता है। सीखने वाला सुखद् क्रिया को जारी रखता है और दुःखद को छोड़ देता है। जैसे आग से हाथ जलने पर आग को न छूना सीख जाता है। इस प्रकार परिणाम के सुखकर या दुखकर होने के आधार पर कर्ता उसको करना या न करना सीखता है। बालक को जिस कार्य के करने से पुरस्कार मिले उसे वह पुनः करेगा और दण्ड मिलने पर उसे छोड़ देगा।

(ख) अभ्यास का नियम—सुखकर एवं संतोषजनक कार्य को दुहराने से कार्य को सरलतापूर्वक करना सीखा जाता है। कार्यों को बार-बार करने से उनमें कुशलता प्राप्त हो जाती है। संगीत, नृत्य कला, आदि अभ्यास द्वारा ही सीखी जाती हैं। कहा भी है "करत-करत अभ्यास से जड़ मति होत सुजान।" अभ्यास गलत न होना चाहिए जैसे भाषा के गलत अभ्यास से भाषा-ज्ञानी नहीं बन सकता।

(ग) तत्परता का नियम—सीखने वाले का मन यदि कार्य को सीखने को तैयार है तभी वह सीख सकता है; अन्यथा नहीं। इच्छा के विरुद्ध कार्य करने पर उसका करना शीघ्र नहीं सीखा जा सकता। जैसे बिल्ली का यदि पेट भरा हुआ हो तो वह पिंजरे से निकलने में तत्परता न दिखलायेगी पर भूखी बिल्ली जल्दी निकलने का मार्ग ढूँढ़ेगी।

विवेचन—इस प्रयत्न और भूल के नियम से सीखने में सीखने वाला असफल प्रतिक्रियाओं को छोड़कर सफल प्रतिक्रियाओं को करता है। इस प्रकार सफल प्रतिक्रियायें आगे की प्रतिक्रियाओं का आधार बनती जाती हैं। इसी क्रम से प्रयत्न और भूल से सीखा जाता है।

इस नियम के अनुसार अध्यापक का कर्तव्य—सबसे सरल नियम प्रयत्न और भूल का नियम है। इसमें कार्य को करने का रचनात्मक आनन्द विद्यमान है। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों को 'करके सीखने' के इस नियम के अनुसार ही

सीखने का अवसर प्रदान करे। पर उसे साथ ही निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

(क) समस्यायें बालक की बुद्धि एवं आयु के अनुसार उपस्थित की जायें।

(ख) समस्या का हल पहले से ही बालक के सामने न रख दिया जा चाहिए।

(ग) समस्या पहले के अनुभव पर आधारित होनी चाहिए।

(घ) विद्यार्थियों को पाठ के लिए तत्पर कर फिर ही उनको पढ़ा चाहिए।

(ङ) दण्ड का सम्बन्ध पाठशाला के कार्य के साथ न जोड़ा जाये।

(च) बालकों को अभ्यास गलत न कराया जाना चाहिए।

(२) अनुकरण से सीखना—अनुकरण की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी में पाई जा है। तोता राम-राम कहकर मनुष्य की बोली का अनुकरण करता है। बन्दर अनुकर में प्रसिद्ध होते ही हैं। महाशय हेगार्टी ने बनमानुष के सीखने की शक्ति जानने के लि एक तंग खोखने में केले को रख दिया। बनमानुष ने अनेक प्रयत्नों के बाद लकड़ी उस केले को निकाल लिया। दूसरा बनमानुष इस क्रिया को देख रहा था। जब उ उस खोखले के पास लाया गया तो एक ही बार में उसने केला निकाल लिया।

मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति विशेष प्रकार से पाई जाती है। अनुकरण द प्रकार का होता है। जान-बूझ कर अनुकरण करना और अनजाने में अनुकरण होना बालक प्रारम्भ में सभी बातें अनुकरण द्वारा ही सीखता है। सुलेख लिखना, शुद्ध पढ़न व बोलना आदि जान-बूझ कर अनुकरण द्वारा ही सीखे जाते हैं। घर तथा स्कू दोनों ही स्थानों पर बालक अनेकों ऐसी बातें भी देखता है जो उसे अनजाने में ह बहुत कुछ सिखाती रहती है। इस अनजाने में अनुकरण होने से भी उसे हितकारी बातें ही सीखने को मिलें इस हेतु यह जरूरी है कि घर और स्कूल दोनों क वातावरण उसे ऐसा मिले जिससे वे प्रभाव भी उसके जीवन को उन्नत करने में ही सहायक हों।

अध्यापक का कर्त्तव्य—इस नियम के अनुसार अध्यापक को बालक के सिखाने में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

(क) बालकों के सम्मुख अनुकरणीय आदर्श रखे जायें।

(ख) गलत आदर्शों से बालक की रक्षा करनी चाहिये।

(ग) अनुकरण के दुरुपयोग से भी बालक को बचाना चाहिये।

(घ) बालकों में परस्पर अनुकरणीय गुण उत्पन्न करना चाहिये।

(ङ) अध्यापक को स्वयं को भी आगे में अनुकरणीय विशेषतायें रखनी चाहिये।

(३) भूल से सीखना—अनेक बातें भूल से सीखी जाती हैं। पशुओं तक में भूल से सीखने की प्रवृत्ति पाई गई है। एक प्रयोगकर्ता ने एक कमरे में बैठे [illegible]

पर बाँधकर तथा एक लकड़ी का खोखा रखकर एक वनमानुष को छोड़ दिया। पहले तो वनमानुष केले प्राप्त करने के लिये उछला, कूदा। पर न पा सका तब खोखा केले के नीचे खींच लाया। उस पर चढ़कर केले प्राप्त कर लिये। बालक भी बहुत से कार्य सूझ से करते हैं। मेरी तीन वर्षीया पुत्री ने कमरे में कुछ ऊँचाई पर लटके हुये शीशे में चेहरा देखने के लिये कमरे में रखी हुई टी-टेबुल को खींचकर शीशे के नीचे तक लाकर उस पर चढ़कर अपनी इच्छा पूरी की। भगवान् कृष्ण ऊँचे छीके पर लटकी हुई दूध-दही को प्राप्त करने के लिए दो ग्वाल बालों को एक दूसरे पर खड़ा कर तथा फिर दूसरे के कंधों पर चढ़कर स्वयं प्राप्त करते थे।

इस सूझ से सीखने का आधार बुद्धि है। सूझ से सीखने में पूर्व के अनुभवों का प्रयोग किया जाता है। जिस बालक ने हरे अंगूर चखकर खट्टेपन का अनुभव कर लिया है वह हरे अंगूर को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा न करेगा। सूझ से सीखना सोचने की शक्ति पर निर्भर है।

अध्यापक का कर्त्तव्य—सूझ से सीखने में बालक की बुद्धि को क्रियाशील रखा जाना चाहिये। सूझ का कार्य सम्पूर्ण स्थिति पर एक ही बार में दृष्टिपात करने पर होता है अतः अध्यापक को सम्पूर्ण परिस्थिति को पूर्ण रूप से एक ही बार में बालक के सम्मुख रख देना चाहिये न कि टुकड़ों में।

यदि समस्या में बालक की गति ठीक ढंग से संचरित न हो रही हो तो अध्यापक सहायता अवश्य कर सकता है पर उसे बालक को उस समस्या का न तो सम्पूर्ण हल ही बताना चाहिये और न उत्तर ही।

अध्यापक को बालक के सम्मुख समस्या इस प्रकार रखनी चाहिये कि वह सरल प्रतीत हो तभी तो बालक सोचने की शक्ति द्वारा उसमें रुचि लेगा अन्यथा नहीं।

(४) सम्बद्ध सहज क्रिया द्वारा सीखना—इस सीखने को अर्जित प्रतिक्रिया द्वारा सीखना भी कहते हैं। महाशय पावलोव ने पशुओं पर इसका प्रयोग किया घन्टी बजने पर कुत्ते के मुह में लार (रस) नहीं आती। पर उसने कुत्ते को भोजन देने के समय घन्टी बजाना शुरु किया। भोजन को देखते ही कुत्ते के मुँह में लार आ जाती थी। इस प्रकार कई दिनों तक करते रहने पर एक स्थिति ऐसी आई कि केवल घन्टी बजने पर ही कुत्ते के मुँह मे लार आ जाती थी। इसी प्रकार दूसरा प्रयोग भेड़ पर किया गया, एक भेड़ को एक टेबल पर बैठाकर, बाँधकर, घन्टी बजाकर बिजली का धक्का लगाया गया तो वह उछल पड़ी। इस क्रिया को बार-बार करने पर एक स्थिति ऐसी आई कि वह भेड़ घन्टी बजाते ही (बिजली का धक्का लगाए बिना ही) उछल पड़ी और क्रमशः टेबल पर बिठाकर बाँधते ही उछल पड़ी और तब केवल टेबल पर बिठाते ही उछल पड़ी। अर्थात् सम्प्र की सब क्रियाएँ शुरु हो गईं।

अतः अर्जित प्रतिक्रिया का तात्पर्य यह है कि अनुभव के आधार पर व्यक्ति किसी नई परिस्थिति के सम्बन्ध में एक निश्चित प्रकार का ऐसा व्यवहार दिखलाता है जो पहले उसके सम्बन्ध में उसने कभी नहीं दिखलाया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की

धारणा है कि सभी प्रकार का सीखना घटित प्रतिक्रिया या सम्बद्ध सहज क्रिया के आधार पर होता है। अन्य किसी प्रकार से नहीं।

घटित प्रतिक्रिया के आधार पर बालकों को नई बातें ही नहीं सिखाई जा सकती वरन् उनमें विद्यमान भय आदि अनुचित बातों को भी दूर किया जा सकता है। कुत्ते से डरने वाले बच्चे से कुत्ते को दूर रखा जाए फिर धीरे-धीरे क्रमशः कुत्ते को नजदीक लाना प्रारम्भ किया जाए। इस प्रकार एक दिन वह स्थिति आ जाएगी कि बच्चा कुत्ते से डरना भूल जाएगा।

अध्यापक का कर्त्तव्य—घटित प्रतिक्रिया या सहज सम्बद्ध क्रिया के आधार पर अध्यापक शब्दों का सम्यक् प्रयोग सिखा सकता है क्योंकि शब्दों का गलत प्रयोग अथवा उच्चारण होते रहने पर बालकों में गलत आदतें पड़ जाती हैं। इस नियम के आधार पर अध्यापक अनुशासन से रहना, कर्त्तव्याकर्त्तव्य और सहानुभूति, प्रेम आदि की प्रगाढ़ता बालक में अंकित कर सकता है। समय का मूल्य बालक इसी नियम के आधार पर सीख सकता है।

सारांश

सिखाने की आवश्यकता—

(१) अब तक के अनुभवों को सिखाने की प्रथा है।

(२) माता-पिता बालक को अनुभवित कष्टों से बचाना चाहते हैं।

(३) भूतकाल के अनुभवों से लाभ उठाना आवश्यक है।

(४) बीते अनुभवों को सीखने से समय को आगे के अनुभवों को सीखने में लगाया जा सकता है।

सीखने का स्वरूप—मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित प्रतिक्रियाओं को उचित एवं नैतिक प्रतिक्रिया का रूप देना ही सीखना है।

सीखने की स्थिति—(१) कार्य सरल होना चाहिए। (२) आयु के अनुकूल होना चाहिये। (३) शरीर की क्षमता सीखने के लिए होनी चाहिये। (४) सीखी जाने वाली वस्तु क्रम से सीखी जा सकती है। (५) सीखने वाले को परिश्रम करना पड़ेगा।

सीखने के नियम—(१) प्रयत्न और भूल से सीखना।

(अ) परिणाम का नियम—सीखने वाला सुखद क्रिया को जारी रखता है दुखद को छोड़ देता है।

(आ) अभ्यास का नियम—अनेक बार आवृत्ति द्वारा ही कार्य के करने में दक्षता प्राप्त की जा सकती है।

(इ) तत्परता का नियम—सीखने की लगन और तत्परता होने पर ही सीखा जा सकता है।

(२) अनुकरण से सीखना—देखकर सीखने में सफलता शीघ्र प्राप्त होती है।

(३) सूझ में सीखना—सूझ से सीखने के लिए सम्पूर्ण वातावरण एक साथ दृष्टिगोचर हो जाना चाहिए। फिर बुद्धि के प्रयोग से ही सीखा जा सकता है।

(४) सम्बद्ध सहज क्रिया द्वारा सीखना—अनुभव के आधार पर नई परिस्थिति के सम्बन्ध में निश्चित व्यवहार दिखाना ही घटित प्रतिक्रिया द्वारा सीखना है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) सीखने से क्या तात्पर्य है? बालकों को सिखाना क्यों आवश्यक है?

(२) सीखने की भिन्न-भिन्न विधियाँ कौन-कौन-सी हैं? अध्यापक का प्रत्येक अवस्था में क्या कर्तव्य है?

(३) सीखने के कौन-कौन से नियम हैं? प्रत्येक के लिए अध्यापक को क्या-क्या करना चाहिए?

—:o:—

सीखने को नियन्त्रित करने वाली परिस्थितियाँ

सीखने के नियमों का अध्ययन उन परिस्थितियों के अध्ययन बिना अपूर्ण है, जो सीखने को नियन्त्रित करती हैं। जब हम सीखने को नियन्त्रित करने परिस्थितियों पर विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि इनकी सारिणी काफी है। इन्हीं परिस्थितियों में से कुछेक पर इस अध्याय में चर्चा की जावेगी।

सीखने को नियन्त्रित करने वाली कुछेक परिस्थितियाँ—ये परिस्थि निम्नलिखित हैं :—

(१) उम्र—बालकों को सिखाने में प्रारम्भ से ही ध्यान देना चाहिए, ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों त्यों सीखना नियन्त्रित होता जाता है। बूढ़े कुत्ते क चालें सिखाना अत्यन्त कठिन है। उसी प्रकार जवानी तक बनी हुई आदतों को मु मिटाना या बदलना कठिन हो जाता है। अतः प्रारम्भ ही से बालक को वांछित बातें सिखाई जानी चाहिएँ। बाल्यावस्था मे सीखने की गति तेज होती है।

गाँवों की अपेक्षा शहर के बालक अधिक तेजी से सीखते हैं क्योंकि उ वातावरण ही ऐसा होता है। बालकों को कभी नकारात्मक उपदेश न देने चाहि बालकों को दबाकर यह कह देना उचित नहीं कि यह मत करो, वह मत करो आ

(२) पढ़ने के समय की अवधि—पढ़ने का समय अधिक लम्बा न चाहिए। बालकों में अपने ध्यान को एकाग्र करने की शक्ति बहुत थोड़ी होती अतः एक ही काम पर न लगाये रखना चाहिए। पढ़ाई के घण्टे बालकों की अवस्था नुसार छोटे व बड़े होने चाहिएँ। पढ़ाने के ऐसे विषय प्रारम्भ में रखे जाएँ जि गिनती कठिन विषयों में की जाती है। शाला में आते ही बालक का मस्तिष्क त और स्फूर्तियुक्त होता है।

(३) सीखने का वातावरण—विपरीत परिस्थितियों में पढ़ने में मन लगता। हल्ला, गुल्ला, शोर आदि होने पर पढ़ते समय एकाग्रता नहीं रहती। लिये प्राचीनकाल में ऋषियों के आश्रम शान्त वातावरण में होते थे।

(४) सम्पूर्ण अथवा भागों में सीखना—जहाँ तक हो सके सम्पूर्ण विधि ही सिखाया जाना चाहिए। कविताओं को कण्ठस्थ करने में सम्पूर्ण विधि अ उत्तम है। भागों में सिखाना सुविधाजनक हो सकता है यदि दो भागों का परस्प गहरा सम्बन्ध हो।

(५) शारीरिक अवस्था—शरीर स्वस्थ होने पर ही अच्छे ढंग से सीखा । भूख, प्यास, थकान, हवा का अभाव, बीमारी, नशीली वस्तुओं का प्रभा

जब तक शरीर पर रहेगा तब तक सीखने की ओर पूरा ध्यान नहीं लगाया जा सकता।

(६) सफलता-असफलता का ज्ञान कराना—बालकों को सीखने की निश्चित अवधि पर उनकी सफलता का ज्ञान कराने से उनकी सीखने की चाह में वृद्धि होती है। इस दृष्टि से परीक्षायें अत्यन्त आवश्यक हैं। बालक परीक्षा-फल मिलते ही बहुत प्रसन्न होता है और उसका आगे सीखने में उत्साह बढ़ता है।

(७) सीखने के कार्य की महत्ता और प्रणाली—बालक को क्रियाशील रहना चाहिये। उसे उपदेश कम देने चाहियें, नकारात्मक उपदेश कभी न देना चाहिए। सिखाने की पद्धति चुटकुले और कहानियों से परिपूर्ण होनी चाहिए, जिससे बालक को सीखने में रुचि उत्पन्न हो। बालकों को कभी डाँटना या धिक्कारना नहीं चाहिए। इससे उनमें आत्महीनता का भाव उत्पन्न होता है। उनके सीखने की आलोचना नहीं करनी चाहिए अन्यथा बालक धृष्ट बन जाएगा। पाठशाला का कार्य इस ढंग का न होना चाहिए कि बालक उसे बोझा हुआ समझे। पाठशाला के कार्य में मनोरंजन का पूर्ण स्थान होना चाहिए।

(८) बालकों की मुद्रा—बालकों को चिन्तामुक्त और प्रसन्न रखे जाने पर ही वे सीख सकेंगे।

(९) प्रोत्साहन—बालकों को समय-समय पर उनके सीखे हुए कार्य के लिये प्रोत्साहित करने पर वे तेजी से सीखेंगे। इस कार्य में पुरस्कार, पारितोषिक प्रदान करना भी सहायक हो सकता है।

(१०) व्यक्ति भेद—सभी बालकों की सीखने की प्रणाली एक ही नहीं हो सकती क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर होता है। अतः बालकों के व्यक्तिगत भेद पर ध्यान देते हुए उन्हें अनुकूल प्रणाली से सिखाना चाहिये।

(११) ज्ञान और क्रिया का सहयोग—बालकों को सिखाने में उन्हें मौन रूप से बिठाकर उनकी श्रवणेन्द्रियों ही से कार्य न लेना चाहिये वरन् भाषा के पाठ में उनसे लिखना, पढ़ना, भूगोल के पाठ में मानचित्र सिखाना, इतिहास में चार्ट बनवाना, आदि कार्य कराने चाहिये। इस प्रकार ज्ञान और कर्म का अथवा मस्तिष्क और हाथ का बराबर उपयोग कराया जाना चाहिये।

(१२) सीखे हुए कार्य का अभ्यास—आगे सिखलाने के साथ-साथ पीछे सिखाये गये कार्य का अभ्यास कराते रहना चाहिये। इस तरह बच्चे की सीखी बातें दृढ़ होती जाती हैं। नई बात तभी सिखलाई जानी चाहिये जब अध्यापक देखे कि बालक पिछली सीखी हुई क्रिया को अच्छे ढंग से करने लगा है।

सीखना और बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा में सीखने के सभी नियमों के विकास एवं प्रयोग के लिये क्षेत्र विद्यमान है। बालकों को अपनी क्रियाओं का ज्यों-ज्यों सुखद परिणाम मिलता जाता है त्यों-त्यों सीखने में दत्तचित्त होता जाता है। उसकी रचनात्मक क्रियाशीलता प्रयत्न और भूल के आधार पर, उसे अच्छा अभ्यास

करती ही है। बालक के हाथ से कार्य करने को हमेशा तत्पर रहता है। बुनियादी शिक्षा-पद्धति उसकी कार्य करने की तत्परता के लिये उपयुक्त क्षेत्र उपस्थित करती है। इस शिक्षा में बालक की आयु के अनुसार ही उसे ज्ञान दिया जाता है और वह भी उसके कार्यों द्वारा ही नहीं वरन् स्वतः अनुभव द्वारा।

बुनियादी शिक्षा का अध्यापक अपने स्वयं के गुणों को बालक के सम्मुख अनुकरणीय आदर्शों के रूप में रखेगा और इसी लिये बालक अध्यापक के सम्पर्क में आकर उन्हें अपनायेगा।

रचनात्मक कार्य में किसी वस्तु विशेष से अटक जाने पर बालक की सूझ की अच्छी परीक्षा की जा सकती है। सूझ से सीखने के लिये रूढ़िवादी शिक्षा में लघु क्षेत्र है। बुनियादी शिक्षा ही सूझ से सीखने के लिये उपयुक्त क्षेत्र उपस्थित करती है। सम्बद्ध सहज क्रिया के आधार पर बालक में अनुशासन की भावना दृढ़ करने के लिये भी बुनियादी शिक्षा निर्बल नहीं है।

बालकों का ध्यान अधिक लम्बे समय तक एक ही ओर नहीं रह सकता। बुनियादी शिक्षा के घंटों की अवधि यद्यपि लम्बी होती है पर उनका विभाजन इस प्रकार का होता है कि बालक को अखरता नहीं। प्रथम आध घंटे में रचनात्मक कार्य, दूसरे आध घंटे में तत्सम्बन्धी ज्ञान और तीसरे आध घंटे में तत्सम्बन्धित लिखित साहित्य, जैसे गद्य, पद्य, कहानी आदि के पढ़ने से बालक का समय की लम्बाई से मन नहीं ऊबता।

बुनियादी शिक्षा रचनात्मक कार्य कराकर बालक के स्वास्थ्य को भी ठीक रखती है। रूढ़िवादी शिक्षा की तरह बालक बैठा-बैठा ऊब नहीं जाता जिससे सीखने की क्रिया अबाध गति से चलती रहती है। इसी प्रकार बालक को किये गये कार्य की सफलता तथा असफलता का ज्ञान यथास्थान होता जाता है। यह शिक्षा प्रणाली बालक में स्वावलम्बन और आत्मसम्मान उत्पन्न करती है जिससे सीखने की ओर रुचि बनी रहती है।

बालकों को व्यक्तिगत भेद के अनुकूल ही शिक्षक प्रत्येक बालक के सीखने की ओर ध्यान देता है। प्रत्येक बालक अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही सीखता रहता है जिससे वह कार्य को थोपा हुआ नहीं समझता।

सबसे बड़ी महत्ता बुनियादी शिक्षा पद्धति द्वारा सीखने की यह है कि बालक का मस्तिष्क एवं हाथ दोनों ही काम में लगे रहते हैं। इसमें ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय है। इसी प्रकार सीखे हुए कार्य का अभ्यास भी बालक से कराया जाता है। यहाँ तक कि रचनात्मक कार्य में तो बालक इतनी रुचि लेते हैं कि घर पर ये स्वयं अभ्यासशील रहते हैं।

सारांश

सीखने को नियन्त्रित करने वाली अवस्थाओं में से खास-खास ये हैं :—

(१) उम्र के अनुकूल सीखने की गति तेज व धीमी होती जाती है। (२)

पढ़ने के समय की अवधि लम्बी न होनी चाहिए। (३) उपयुक्त वातावरण में अच्छे ढंग से सीखा जा सकता है। (४) सम्पूर्ण विधि से सीखना अधिक उत्तम होगा। (५) शारीरिक अवस्था ठीक होने पर ही सीखने का कार्य ठीक हो सकता है। (६) सफलता व असफलता के ज्ञान पर सीखने की गति तीव्र या क्षीण बन सकती है। (७) सिखाने की पद्धति मनोरंजक और सुगम होनी चाहिये। (८) बालकों को सीखते समय प्रसन्नचित्त और चिन्तामुक्त रखना चाहिए। (९) बालकों को सीखने के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। (१०) व्यक्तिगत भेद के अनुकूल सिखाना चाहिए। (११) सीखने में ज्ञान और क्रिया का समन्वय होना चाहिये। (१२) सीखे हुए कार्य का निरन्तर अभ्यास होना चाहिये।

सीखना और बुनियादी शिक्षा—इस पद्धति में सभी विषयों के विकास के लिये उचित क्षेत्र विद्यमान है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) बालक को सिखाने के पहिले अध्यापक को किन-किन बातों का ज्ञान आवश्यक है?

(२) सिखाना किन-किन परिस्थितियों में प्रभावोत्पादक हो सकता है और किस प्रकार?

(३) बुनियादी शिक्षा बालक के सीखने की प्रवृत्ति की कहाँ तक सहगामी हो सकती है? स्पष्ट कीजिये।

—:o:—

संवेदना एवं इन्द्रिय साधन
(Sensation and Sense Training)

संवेदना का स्वरूप—किसी भी मनुष्य का प्रत्यक्ष रूप से किसी अवस्था या वस्तु अनुभव संवेदना कहा जाता है। अर्थात् किसी वस्तु या अवस्था से उत्पन्न भय, य, सुख, दुःख, घृणा आदि के अनुभव को संवेदना कहा जाता है। लेकिन सभी दन एक ही प्रकार के नहीं होते। संवेगों (emotions) का स्पष्टीकरण करते हुये वतलाया गया है कि शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले संवेदन को इन्द्रिय दन कहते हैं जैसे ठोकर लग जाने, आग से जल जाने, गन्दी बू के आने से दुःख का दन होता है। फूल की सुगन्धि से अथवा घाव के उत्तरोत्तर आराम होने से सुख संवेदन होता है। यह शरीर की बाह्यवृत्ति है। यह अनुभूति अथवा ज्ञान शरीर इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। पर किसी की उचित, अनुचित बात, विचार, भाव वा मीठे या कडुवे शब्द सुन कर जो सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है उसे संवेदन कहते हैं। इसका सम्बन्ध अनुभव-कर्त्ता के भावों तथा विचारों से है। शरीर की आभ्यन्तरिक वृत्ति है। इसी भाव संवेदन का दूसरा नाम संवेग है। इस र संवेदन दो प्रकार के हुए—प्रथम इन्द्रिय संवेदन तथा दूसरा भाव संवेदन जिसे कहते हैं। भाव संवेदन अर्थात् संवेग का पहले वर्णन किया जा चुका है। यहाँ य संवेदन अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान के विषय में परिचय कराना मुख्य ध्येय है।

इन्द्रिय संवेदन की अवस्थायें—बालक को सर्वप्रथम इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान होता है। इस अवस्था में इन्द्रियाँ ही ज्ञान प्राप्ति का साधन बनी रहती हैं। इस संसार की वस्तुओं का ज्ञान हमारी इन्द्रियों द्वारा ही हमारे मानस पटल पर न होता है। मानव शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही ज्ञान के द्वार हैं। बालक की म्भिक अवस्था में इन्द्रिय संवेदन की प्रधानता रहती है। जैसे बालक भूख लगने रोने लगता है और माता के दूध पिला देने पर चुप हो जाता है। खिलौने की त्सुकता होने पर बालक मचलता है और मिलने पर संतुष्ट हो जाता है। परन्तु ज्यों-बालक की आयु बढ़ती जाती है उसमें भाव संवेदन अर्थात् संवेग की अनुभूति जाती है।

प्रश्न यह है कि कोई भी बालक, प्रौढ़ या वृद्ध, ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ज्ञान प्रकार प्राप्त करता है। बाह्य संसार में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा उनके नाम सुनने अथवा उनमें उत्पन्न ध्वनि सुनने का सम्बन्ध से है। मस्तिष्क से लगाकर इन इन्द्रियों तक ज्ञान वाहक वात नाड़ियाँ प्रभाव को मस्तिष्क तक पहुँचाने का कार्य करती हैं।

इन वात नाड़ियों के द्वारा किसी भी सूचना के मस्तिष्क में पहुँचते ही वात केन्द्र में संचालन उत्पन्न होता है। यही इन्द्रिय ज्ञान है।

यह इन्द्रिय ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहलाता है क्योंकि यह किसी भी पदार्थ के प्रत्यक्ष रूप सामने उपस्थित होने पर ही होता है। तथा उस पदार्थ का ज्ञान कराने में लगभग सभी ज्ञानेन्द्रियाँ संलग्न होती हैं। जैसे मोटर का ज्ञान मोटर की उपस्थिति आँखों से देखकर, उसकी आवाज कान से सुनकर, पेट्रोल की नाक से सूंघ कर तथा संभवतया मोटर को हाथ से छूकर किया जा सकता है। सभी ज्ञानेन्द्रियां मोटर का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में सहयोग देती हैं।

इस प्रत्यक्ष ज्ञान की दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था यह है कि जो ज्ञान बाह्य जगत् का प्रभाव इन्द्रियों द्वारा मन में अंकित करता है। अर्थात् जो किसी पूर्वानुभव से सम्बन्ध नहीं रखता और जो अस्पष्ट तथा धुन्धला होता है उसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान (Sensation) कहते हैं। इस ज्ञान में किसी प्रकार का सोच-विचार नहीं होता। यह शुद्ध इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है। पर जब इसी निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान का सम्बन्ध पिछले अनुभव से जोड़ा जाता है; उसके सम्बन्ध में सोच-विचार करता है; उसके उपयोग और अनुपयोग पर सोचने लग जाता है तब उसे सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) कहते हैं। अर्थात् किसी भी वस्तु का अस्पष्ट धुन्धला ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान है और जब वही ज्ञान स्पष्ट और शुद्ध रूप से हो जाता है तो सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार मात्र है।

बालक का निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना—प्रारम्भ में बालक में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है। छोटा बालक हाथ-पाँव हिलाकर वस्तुओं को पकड़ने की चेष्टा करता हुआ दिखाई देता है पर उसके हाथ इस कार्य के लिए सधे हुए नहीं हैं। ऐसे बालक को किसी वस्तु की ओर इशारा कर दिखाने का प्रयत्न किया जाए तो उसकी आँखें तत्काल उस ओर आकर्षित नहीं होंगी क्योंकि उसकी आँखें इसके लिए सधी हुई नहीं हैं। जब वह घुटनों के बल सरकने लगता है तो वह वस्तुओं को पकड़ता है और उन्हें मुंह में रखने का प्रयत्न करता है अथवा उलट-पलट कर देखता है। उसके इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की यह चेष्टा है। परन्तु यह सब निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस ज्ञान के प्राप्त करने में न समझ का प्रयोग है न किन्हीं विचारों का तथा न किसी प्रयोजन का।

परन्तु शनैः-शनैः वही गति चलने पर तथा एक ही वस्तु के बार-बार देखने के प्रयोग में आने पर बालक के मन में उस वस्तु का ज्ञान जमने लगता है। जैसे प्रथम बार बालक ने एक खिलौना देखा। पहली बार छूते ही वह न समझ पाया कि वह क्या है? उसके बार-बार प्रयोग में आने से उसने आँखों से उसे कई बार देखा। हाथों से कई बार छुआ, तथा आकार और वजन जाना। कानों से उसकी ध्वनि सुनी। उस खिलौने द्वारा खेलने के प्रयोजन को जाना। कई दिन तक संपर्क में आने पर उसका

चित्र स्मृति पटल पर भी जम गया। इस तरह प्रारम्भ में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बन-कर वह धीरे-धीरे सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बन गया।

यह प्रत्यक्ष ज्ञान ध्यान पर आधारित है। जिसका ध्यान जिस वस्तु पर जितना अधिक जमेगा उसका ज्ञान भी उसे उतना ही अधिक होता जायगा। प्रारम्भ में बालक का ध्यान किसी वस्तु पर अधिक नहीं टिक सकता। अतः उस वस्तु का ज्ञान भी उसे अधिक नहीं हो पाता। पर ज्यों-ज्यों बालक आयु में बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी एकाग्रता की अवधि भी बढ़ती जाती है, जिससे उसके प्रत्यक्ष ज्ञान की शक्ति भी बढ़ती जाती है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान एवं बुनियादी शिक्षा—ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही साधा-रणतया ज्ञान प्राप्त होता है अतः बुनियादी शाला के अध्यापक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह इन्द्रियों की साधना पर पूर्ण ध्यान दे। इन्द्रियों द्वारा निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान ही ज्ञान-प्राप्ति का आधार है। अतः बालक की ज्ञानेन्द्रियों का पूरा-पूरा ध्यान अध्यापक को रखना चाहिए।

बालकों को प्रत्यक्ष ज्ञान प्रारम्भ में वस्तु ज्ञान के रूप में होना चाहिए। केवल पुस्तक ज्ञान कराना पर्याप्त नहीं। सन्त विनोबा ने सत्य ज्ञान की ओर इंगित करते हुए लिखा है "अश्व माने घोड़ा। यह कोष मे लिखा है। लड़कों को लगता है कि 'अश्व' शब्द का अर्थ कोष में दिया है। पर यह सही नही है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोष के बाहर तबेले में बँधा खड़ा है। उसका कोष मे समाना सम्भव नही। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोष का वाक्य केवल इतना ही बतलाता है कि 'अश्व' शब्द का वही अर्थ है जो 'घोड़ा' शब्द का है। वह क्या है सो तबेले में जाकर देखो। कोष में सिर्फ पर्याय शब्द दिया जाता है। पुस्तक में अर्थ नही रहता, अर्थ तो सृष्टि में रहता है।" सन्त विनोबा जी का यह कथन बालक को प्रत्यक्ष ज्ञान देने पर बल देता है। बुनियादी शिक्षा के अध्यापक का यही कर्त्तव्य है कि वह बालक को रूढ़िवादी शिक्षा के अनुसार केवल पुस्तकीय ज्ञान ही न कराये वरन् इन्द्रिय ज्ञान दे। प्रत्येक वस्तु का अध्ययन बालक अपनी ही इन्द्रियों द्वारा करे। सन्त विनोबा जी ने कहा है कि यदि "अश्व माने घोड़ा बताया जाता है लेकिन घोड़ा नही देखा है तो क्या समझ में आवेगा ? आप बच्चों को पदार्थ नही बताते, सिर्फ पर्याय पद बताते हैं। जो सिर्फ पद ही देखते हैं, उनका ज्ञान भ्रान्त ज्ञान होता है।"

माटेसरी पद्धति भी बालक को निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान कराती है। बालक प्रत्येक वस्तु का अध्ययन अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा करता है। आँखों से वह रंग पहचानता है। हाथ से छूकर वह मुलायम, कठोर, खुरदरा आदि का अनुभव करता है। विभिन्न ध्वनियाँ सुनकर, संगीत, लय, ताल का प्रयोग कर वह कर्णेन्द्रिय साधना करता है। बुनियादी शिक्षा जीवन में प्रयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान कराती है। जिससे पदार्थ ज्ञान के साथ-साथ इन्द्रिय साधन भी होता रहता है। अर्थात् शिक्षा शब्द जाल न रह कर वास्तविक वस्तुओं द्वारा प्राप्त की जाती है।

इन्द्रिय साधन (sense training) बालक के लिये अत्यावश्यक है। इन्द्रिय साधन न हो सकने के कारण कई बालकों को रंग ज्ञान नहीं हो पाता। वे रंगांध (colour blind) कहे जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न गन्धों में अन्तर नहीं कर सकते। कई बालक प्रौढ़ बन जाने पर दो मुलायम वस्तुओं मे तुलना कर यह नहीं बता सकते कि कौन अधिक मुलायम है। यह सब ठीक ढंग से इन्द्रिय साधन न होने का ही दोष है। बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को भी देखना चाहिये कि बालकों में इस प्रकार की कमी न रह जाए। जिस प्रकार एक सर्राफ रत्ती भर धातु को हाथ में लेकर यह बता सकता है कि यह कितने रत्ती वजन है। पर अन्य साधारण व्यक्ति नहीं बता सकते। और जिस प्रकार इत्र बेचने वाला विभिन्न इत्रों की महक का अनुभव कर बता सकता है कि यह अमुक प्रकार का इत्र है पर अन्य व्यक्ति नहीं बता सकते। यही नहीं वरन् संगीतज्ञ एक साथ बज रहे कई वाद्यों के सुरों को भिन्न रूप से पहचान कर बता सकता है कि यह अमुक-अमुक वाद्यों का सुर है। उसी प्रकार बालक के इन्द्रिय साधन में अध्यापक को इतना बल देना चाहिए कि बालक अपनी इन्द्रियों द्वारा विभिन्न ज्ञान सम्यक् रूप से पूर्णतया प्राप्त कर सके। वह वजन, दूरी, ध्वनि, गन्ध आदि का अति उत्तम एवं सही अन्दाजा लगा सके।

यदि किसी बालक की किसी ज्ञानेन्द्री मे दोष है तो उसको सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये अथवा उसके लिए सुगमता देनी चाहिए। यदि किसी बालक की दृष्टि में कमजोरी है तो उसे आगे बिठाना चाहिए। कम सुनने वाले बालक को भी आगे बिठाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय साधन के लिए प्रत्येक कार्य बालक से स्वयं कराया जाना चाहिये। तभी निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बालक को ठीक ढंग से हो सकेगा।

बालक का सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना—ज्ञान की प्रथम सीढ़ी निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान है और दूसरी सीढ़ी सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें सोच-समझ का समावेश होता है और जो पिछले अनुभव से सम्बन्धित होता है। मान लीजिये कोई व्यक्ति किसी विचार में एकाग्र होकर किसी कमरे में बैठा है। बाहर से किसी के दरवाजे के खटखटाने की आवाज आते ही वह सोचता है कि यह आवाज अपने दरवाजे की है अथवा पड़ोसी का दरवाजा खटखटाने की आवाज है। उसके मस्तिष्क में पहले अपने दरवाजे के खटखटाने की आवाज विद्यमान है। उससे उसकी तुलना करता है और निर्णय निकालता है। अर्थात् इस समय उसका मस्तिष्क तीन कार्य करता है। प्रथम तो नये अनुभव को सुनना, द्वितीय उसकी तुलना पहले के अनुभव से करना और तृतीय कार्य उसका निर्णय निकालना कि यह कौन-सी आवाज है अर्थात् इस नये खटखटाने को पहचानना। इस प्रकार सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में बुद्धि सोचने, विचारने का कार्य कर ज्ञान प्राप्त करती है।

बालक प्रारम्भ में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। उसके बिना सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता। किसी भी वस्तु का प्रथम ज्ञान धुंधला

तथा अस्पष्ट होता है। धीरे-धीरे उसी का सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बनता जाता है। प्रथम बार का ज्ञान दूसरे ज्ञान का आधार बनता जाता है। मान लीजिये बालक ने प्रथम बार गाय देखी। उसका धुंधला ज्ञान उसके मस्तिष्क में जम गया। अब उसके सामने चार पैरों वाला प्रत्येक पशु गाय ही है। शनैः शनैः उनमें अन्तर प्रतीत होने लगता है। उसकी बुद्धि कार्य करती है। सोचती समझती है और उनका अलग-अलग ज्ञान तथा उनका अलग प्रयोग जानती है। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् बालक में सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कराने का प्रयत्न अध्यापक का होना चाहिये। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान भी बिना वस्तु को देखे प्राप्त नहीं किया जा सकता। वस्तु से अधिक सम्पर्क में आने पर उसकी कल्पना मस्तिष्क में जम जाती है और तब उस वस्तु को पहले जितनी भी बार देखा उनकी स्मृति मस्तिष्क में आ जाती है। अतः बालक को पहले वस्तु दिखाई जानी चाहिये। वस्तु को उसके सम्पर्क में लाना चाहिए ताकि बुद्धि का प्रयोग कर उसकी आकृति, उपयोगिता आदि मस्तिष्क में जमा सके और तब उस वस्तु के विद्यमान न होने पर उसकी कल्पना बालक से कराई जानी चाहिए।

सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान एवं बुनियादी शिक्षा—अध्यापक को चाहिए कि वह सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बालक में स्थायी रूप से अंकित करे। इसके कई साधन हैं। वैसे तो बुनियादी शिक्षा बालक को पदार्थों के निकट लाकर, उनका प्रयोग कराकर ज्ञान प्राप्त कराती है। यद्यपि उसके द्वारा सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान अच्छे ढंग से होना ही है तथापि निम्नलिखित बातों का ध्यान विशेषतया रखना चाहिए :—

(१) शाला में संग्रहालय होना चाहिये। जिसमें विभिन्न वस्तुएँ बालकों द्वारा संग्रहीत हों। अध्यापक उनका प्रयोग अपने अध्यापन में करते रहें। जिससे बालकों की संग्रह कार्य में रुचि हो। साथ ही साथ वस्तु के प्रति उनका सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बढ़े। ये संग्रह विभिन्न पत्थरों के, मिट्टी के पत्तों के, खादों के, नाजों के, रुई के, लकड़ी आदि कई वस्तुओं के हो सकते हैं।

(२) बालकों को निरीक्षण हेतु इधर-उधर शाला से बाहर ले जाना चाहिए। प्रारम्भ में तो उनको निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान ही होगा पर शनैः शनैः सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगेगा। इसके लिए वन भ्रमण, सन्ध्या भ्रमण, प्रातः भ्रमण, नदी, तालाब व जंगल आदि की सैर, खेतों की सैर, गांवों की सैर आदि आयोजन रखे जाने चाहिएँ।

(३) आस-पास यदि अजायबघर हो, कोई कलाभवन हो, कोई ऐतिहासिक स्थान हो तो बालकों को वहां ले जाना चाहिये। अध्यापक को उन्हें प्रत्येक वस्तु को ध्यान से दिखाना चाहिए। उन वस्तुओं के प्रति उनके मन में रुचि उत्पन्न करना चाहिए।

(४) बालक की देखी हुई वस्तुओं का कल्पना कर मालूम करते रहना चाहिए अर्थात् उनका चित्र अंकित कराना चाहिए और उनका वर्णन लिखवाना चाहिये।

(५) अध्यापन में चित्रों का अधिकाधिक प्रयोग करना चाहिए। चित्रों के प्रयोग से उनकी विचारशक्ति प्रयोग में आती है। उनकी कल्पना का विकास होता है। अर्थात् उनका सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बढ़ता है। चित्र अवस्थानुकूल होना चाहिए। समय पर उपस्थित किये जाने चाहिये। तथा चित्र इतना बड़ा होना चाहिए कि कक्षा के प्रत्येक छात्र को अच्छे ढंग से दिखाई दे सके।

(६) प्रत्येक वस्तु को बालक स्वयं देख सके, छू सके, उसका नाम या सम्बन्धित ध्वनि कान से सुन सके तथा आवश्यकता हो तो चख सके। इस प्रकार के प्रयोग कक्षा में जितने अधिक होंगे उतना ही बालकों को सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक होगा।

(७) बालकों को समय, दूरी, वजन, रंग, ध्वनि आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान कराते रहना चाहिए। इनके ज्ञान में जितनी निश्चितता बालक में लाई जा सकेगी बालक का अनुभव उतना ही उचित निकलेगा। ज्ञानेन्द्रियों का विकास कराया जाना चाहिए।

(८) ज्ञात से अज्ञातता की ओर तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर, सरल से कठिन की ओर आदि मनोवैज्ञानिक सूत्रों का प्रयोग अध्यापन समय में करते रहना चाहिए जिससे ज्ञानेन्द्रियों के विकास में सहायता मिलेगी।

सारांश

संवेदना का स्वरूप—किसी वस्तु या अवस्था से उत्पन्न भय, क्रोध, सुख, दुःख घृणा आदि से अनुभव को संवेदना कहा जाता है। इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले संवेदन को इन्द्रिय संवेदन कहते हैं। भावों से सम्बन्ध रखने वाले संवेदन को भाव संवेदन, संवेग या उद्वेग कहते हैं।

इन्द्रिय संवेदन की अवस्थाएं—बालक को सर्वप्रथम इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। आयु के बढ़ने के अनुसार भाव संवेदन अर्थात् संवेग की अनुभूति बढ़ती जाती है। इन्द्रिय ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहलाता है। इन्द्रिय ज्ञान कराने में सभी इन्द्रियां संलग्न होती हैं। इन्द्रिय ज्ञान की दो अवस्थायें होती हैं। प्रथम निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान (Sensation), द्वितीय सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception)। किसी भी वस्तु का अस्पष्ट धुन्धला ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। स्पष्ट और शुद्ध ज्ञान सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

बालक का निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना—बालक सर्वप्रथम निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्राप्त करता है। यही उसका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान एवं बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को इन्द्रियों की साधना (Sense training) पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। पदार्थ-ज्ञान ठीक ढंग से कराया जाना चाहिए।

बालक का सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना—निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान

के बाद सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान प्रारम्भ होता है जिसमें सोच-समझ का समावेश हि

सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान एवं बुनियादी शिक्षा—वैसे तो बुनियादी शि पदार्थों का प्रयोग कराकर सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान कराती ही है तथा इन साधनों द्व सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान स्थाई रूप से किया जा सकता है। (१) शाला में बाल द्वारा संग्रहालय तैयार कराना, (२) बालकों को निरीक्षण हेतु वन भ्रमण, सं भ्रमण आदि कराना, (३) आसपास के अजायबघर, कला भवन, ऐतिहासिक स्थ दिखाना, (४) देखी हुई वस्तुओं से कल्पना का विकास करना, (५) अध्यापन चित्रों का प्रयोग, (६) वस्तुओं का बालक से स्वय प्रयोग कराना, (७) समय, दू वजन, रंग, ध्वनि का प्रत्यक्ष ज्ञान कराना, (८) ज्ञान से अज्ञान, सरल से कठिन ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाना।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) संवेदना से क्या तात्पर्य है? संवेदना कितने प्रकार की होती है? प्रत्येक *विवरण दीजिए।*

(२) निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान एवं सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर को उदाहरण सहि स्पष्ट कीजिए। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान किस प्रकार सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान बन जाता है?

(३) बुनियादी शिक्षा में ज्ञानेन्द्रिय साधन कहाँ तक सफलता द्वारा किया जा सक है? यह किन-किन बातों पर आधारित है? स्पष्ट कीजिए।

—::—

ध्यान और रुचि
(Attention and Interest)

ध्यान का स्वरूप—आपने कौरवों और पाण्डवों की वह घटना सुनी होगी जबकि वे गुरु द्रोणाचार्य के यहाँ साथ-साथ युद्ध विद्या पाते थे। शिक्षा-समाप्ति पर गुरु ने उनकी परीक्षा के लिए एक पेड़ की टहनी पर मोम की चिड़िया बैठा दी और प्रत्येक परीक्षार्थी को बुला-बुलाकर यह कहते गये कि तुम्हें इस चिड़िया की आंख में तीर लगाना है। अतः तीर सधान कर तैयार हो जाओ पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। तत्पश्चात् मेरी आज्ञा पर ही तीर चलाना। इस प्रकार प्रत्येक परीक्षार्थी को अलग-अलग रूप से बुलाकर उन्होंने यह प्रश्न किया कि तुम्हें पेड़ पर कौन-सी वस्तु दीख रही है? सभी का उत्तर लगभग इसी आशय का था कि चिड़िया दिखाई दे रही है। दूसरा प्रश्न यह किया गया कि इस चिड़िया के सिवा तुमको और क्या-क्या नजर आ रहा है? और लगभग इस आशय के उत्तर गुरुजी को प्राप्त हुए कि पेड़ दिखाई दे रहा है, आकाश दिखाई दे रहा है, आप (गुरु) दिखाई दे रहे हैं, दूर खड़े अन्य साथी दिखाई दे रहे हैं आदि-आदि। इन उत्तरों से गुरुजी का मन बड़ा खिन्न हुआ। अन्त में सबसे पटु शिष्य अर्जुन की बारी आई। उससे भी यही प्रश्न किया गया। उसने उत्तर दिया "गुरुजी! मुझे तो केवल चिड़िया की आंख दीख रही है। मुझे इस समय और कुछ नहीं दिखाई दे रहा है।" गुरुजी यह उत्तर सुनकर गद्गद् हो गये और उन्होंने केवल अर्जुन को ही आदेश दिया कि तीर चलाओ। तीर चला और चिड़िया की केवल आंख के पार हो गया।

आपने इस घटना को और किसी रूप में तथा इससे संक्षेप या विस्तार में सुना होगा पर अन्य राजकुमारों के और अर्जुन के उत्तरों के अन्तर पर विचार करना आवश्यक है। अर्जुन का उत्तर सुनकर गुरु इसलिए प्रसन्न हो गये थे कि अर्जुन के उत्तर से उसकी एकाग्रता लक्षित हो रही थी। चिड़िया की आंख ही उसके ध्यान का केन्द्र था। पर साधारणतया आस-पास की वस्तुओं की चेतना सभी को रहती है जैसी कि अन्य परीक्षार्थियों को थी।

निद्रावस्था अथवा बेहोशी को छोड़कर जागृत अवस्था में मनुष्य को अपने इर्द-गिर्द वस्तुओं की चेतना रहती है। चाहे सभी वस्तुओं पर उसकी चेतना समान भले ही न हो। किसी वस्तु विशेष पर अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक चेतना रहती है। अन्य वस्तुओं पर कम। जो वस्तु हमारी चेतना का केन्द्र बनी हुई है उस पर हमारा ध्यान है। अन्य वस्तुएँ चेतना के घेरे में अवश्य आती हैं पर केन्द्र में नहीं। एक समय में एक ही वस्तु चेतना का केन्द्र अथवा ध्यान का केन्द्र बन सकती है।

जैसे मैं पत्र लिख रहा हूं। मेरे पास मेरा बच्चा खेल रहा है। एक कुर्सी व मेज पड़ी हुई है। बच्चे की माँ पास ही बैठी सीने-पिरोने का काम कर रही है। बाहर सड़क पर कुत्ता भौंक रहा है। ये सब मेरी चेतना के घेरे में आते हैं। पर मेरा ध्यान केवल पत्र लिखने में है। यद्यपि मुझे शेष इन सब वस्तुओं एवं प्राणियों की भी चेतना है। अर्थात् जब चेतना किसी एक केन्द्र पर आधारित हो जाती है और चेतना के घेरे की अन्य वस्तुएँ गौण रहती हैं तब वह उस केन्द्र पर ध्यान कहलाता है।

ध्यान की अवधि—किसी भी वस्तु पर ध्यान कितनी देर तक ठहरता है उसका उत्तर देना बड़ा कठिन है। यदि ध्यान हर समय बदलता रहता है तथापि यह न मान लेना चाहिये कि ध्यान एक विषय पर लम्बे समय तक ठहर ही नहीं सकता। कई मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षण के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि ध्यान किसी एक वस्तु पर ५-६ सेकण्ड से लगाकर १० या १२ सेकण्ड से अधिक नहीं ठहर सकता। पर हम देखते हैं कि कई लोग घण्टों बैठे एक ही वस्तु या विचार पर ध्यान केन्द्रित किए रहते हैं। यही नहीं आपने ऐसे उदाहरण भी सुने होंगे कि एक ही व्यक्ति एक साथ कई काम करता हुआ पाया गया है। बिना ध्यान के काम करना अथवा ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। मेरे एक मित्र हैं जो एक ही साथ पढ़ने का और रेडियो सुनने का कार्य पूर्ण सफलता से कर लेते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे समाचार आपने पढ़े होंगे कि एक व्यक्ति स्वय चिट्ठी लिखता रहता है और साथ ही दूसरे को भी दूसरी चिट्ठी का मजमून बोलकर लिखाता जाता है। डा० राजेन्द्रप्रसाद के विषय में भी कुछ ऐसा ही कहा जाता है। ऐसा कैसे सम्भव है ? एक ओर मनोवैज्ञानिक ५-६ सेकण्ड से १०-१२ सेकण्ड तक किसी भी केन्द्र पर ध्यान की अवधि बताते हैं। दूसरी ओर चित्रकार तूलिका लेकर दिन भर बिना खाये अथवा विश्राम किये चित्र बनाने में मग्न रहता है। तीसरी ओर कोई पढ़ने वाला उपन्यास के पढ़ने में इतना ध्यान लगाये हुए है कि कितना समय बीत गया उसे पता नहीं। चौथी ओर एक ही व्यक्ति एक साथ एक से अधिक कामों में ध्यान देकर अपने ध्यान की एकाग्रता की विशेषता बता रहा है। कई मनोवैज्ञानिक इसे ध्यान परिवर्तन की तीव्रता ही बताते हैं।

वस्तुतः इस विषय पर अभी तक परीक्षण की बहुत कुछ आवश्यकता है। तथापि यह मानना पड़ेगा कि ध्यान की अवधि निम्नलिखित बातों पर निर्भर है :—

(१) आयु—प्रौढ़ों की अपेक्षा बालक अधिक समय तक एक ही वस्तु पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है ध्यान की एकाग्रता की अवधि भी बढ़ती जाती है। मिस्टर महोदय ने बालकों की आयु के अनुसार ध्यान की एकाग्रता की अवधि निम्नलिखित बताई है :—

बालक की आयु	ध्यान एकाग्रता की अवधि
६ वर्ष	१५ मिनट
७ से १० वर्ष	२० मिनट

१० से १२ वर्ष २५ मिनट
१२ से १६ वर्ष ३० मिनट

इसलिए अध्यापक को यह बताया जाता है कि प्राइमरी स्कूलों में पीरियड की ३० मिनट से अधिक नहीं होनी चाहिये। बुनियादी शिक्षा में ३० मिनट का क कार्य, अगले ३० मिनट में एक समवायी विषय और उनसे अगले ३० ं दूसरा समवायी विषय पढ़ाया जाता है।

(२) शारीरिक अवस्था—ध्यान की अवधि शारीरिक अवस्था पर भी निर्भर ; शरीर मे किसी प्रकार का रोग है तो ध्यान अधिक देर तक लगा नहीं रह स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन निवास करता है और स्वस्थ मन अधिक समय पर रह सकता है।

(३) मानसिक अवस्था—मन में यदि किसी प्रकार की चिन्ता है तो उससे भी एकाग्रता मे अवरोध आता है।

(४) विषय में रुचि—यदि विषय में आनन्द आ रहा है तो ध्यान बना रहेगा। न्यास अथवा कहानी से शीघ्र जी ऊब जाता।

५) ध्यान को एकाग्र करने की साधना—ध्यान की अवधि को बढ़ाने का ौर साधना की जा सकती है। ध्यान को एकाग्र करने, उसे केन्द्रीभूत करने धन हैं जिनका प्रयोग कर ध्यान की अवधि को बढ़ाया जा सकता है। कोई गिनती को उल्टा गिनना अर्थात् १००, ९९, ९८ के क्रम से गिनने से ध्यान बढ़ाता है। कोई त्राटक सिद्ध करता है। तो कोई कुछ और। भगवत्भजन ौर उसकी चरम सीमा-समाधि का बड़ा महत्व है।

लक का ध्यान आकर्षित करने के तरीके—वैसे तो कई ऐसे कारण हैं ा स्वतः ध्यान आकर्षित हो जाता है। जैसे जोर की ध्वनि या धमाका होना, गड़गड़ाहट, बिजली का कौंधना, अत्यधिक प्रकाश, वातावरण में किसी रिवर्तन, वाद-विवाद, कलह, लड़ाई, झगड़ा, किसी वस्तु का गतिमान । तथापि कई बार आवश्यकतानुसार ध्यान को प्रयत्न-पूर्वक आकर्षित है। विशेषतया अध्यापन के समय को आकर्षित करना और उसे बनाये त आवश्यक है। अन्यथा अध्यापन का कोई महत्व नहीं रहता। इसके क को निम्नलिखित बातों पर विशेष महत्व देना चाहिये।

अध्यापक को कक्षा में अपनी वाणी को इस प्रकार नियंत्रित करना ालकों का ध्यान उस ओर आकृष्ट हो। विषय, पाठ की भाषा तथा ः अनुसार बोलने के ढंग में भी उतार-चढ़ाव आना चाहिये। कक्षा मे आवाज साधारणतया न अधिक जोर की और न शिथिल ही होनी

वातावरण में परिवर्तन के कारण भी ध्यान आकृष्ट होता है। मेरे ा पीसने की चक्की है। नित्य उसके इंजन की गति की आवाज से कान

इसने पता चलता है कि [illegible] नहीं लगता पर। जिस दिन घड़ी नहीं चलती उस दिन बरबस ध्यान उधर जाता है कि घड़ी क्यों नहीं चल रही है। अर्थात् वर्तमान वातावरण में किसी प्रकार का परिवर्तन स्वतः ध्यान आकृष्ट करता है। अध्यापक को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कक्षा के वातावरण को परिवर्तनशील बनाता रहे जिससे ध्यान आकर्षित हो। जैसे वाद-विवाद अथवा अन्य प्रतियोगितायें कराना, पढ़ाने की शैली में परिवर्तन करते रहना आदि।

(३) अध्यापन के समय नए-नए उदाहरणों, चित्रों, वस्तुओं से पाठ में बालकों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

(४) अध्यापक को ऐसे कार्य स्वयं करना चाहिये तथा बालकों से कराना चाहिये जिनमें गति हो। गतिशील कार्यों से ध्यान स्वाभाविक रूप से आकर्षित होता है। जैसे अध्यापक बोर्ड पर स्वयं मानचित्र बनाए तथा लड़कों से बनवाए। अन्य रेखा-चित्र, आकृति-चित्र बनाए और बनवाये। कक्षा में कई प्रयोग कर दिखाए। बुनियादी शिक्षा की यह विशेषता है कि यह उद्योग-कार्य द्वारा गतिशीलता के आधार पर बालकों का ध्यान एकाग्र बनाए रखती है।

(५) बालकों की रुचि कक्षा में बनाये रखें। उसके विभिन्न साधन प्रयोग में लायें।

(६) पुनरावर्तन से भी बालकों का ध्यान आकर्षित होता है। अतः पढ़ाये गये पाठ की पुनरावृत्ति करते रहना चाहिये। बार-बार दोहराने से बात ठीक समझ में आती है।

(७) प्रश्नोत्तर द्वारा पढ़ाने से भी ध्यान बना रहता है। कक्षा में पढ़ाते समय प्रश्न पूछ-पूछ कर ध्यान बनाये रखना चाहिये।

(८) पढ़ाते समय सहायक सामग्री ध्यान आकर्षित करने वाली होनी चाहिये। वह उत्तेजक हो। जैसे सादे चित्रों की अपेक्षा अधिक रंगीन चित्र शीघ्र ध्यान आकर्षित करते हैं।

(९) बालकों के सामने यदि समस्यायें उत्पन्न की जावें तो वे भी ध्यान आकर्षित करती हैं। अतः समस्या उत्पन्न कर अध्यापक को पढ़ाना चाहिए।

ध्यान के प्रकार—ध्यान को वैसे तो कई भागों में विभक्त किया जा सकता है पर साधारणतया इसका निम्न विभाजन हो सकता है :—

- ध्यान
  - प्रयासहीनात्मक
    - सहज
    - बाध्य
  - प्रयासात्मक
    - प्रयत्नात्मक
    - निष्प्रयत्नात्मक
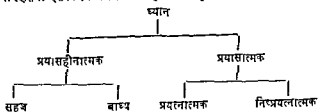
(१) प्रयासहीनात्मक––जो ध्यान बिना किसी प्रयास, प्रयत्न अथवा कोशिश के स्वतः आकर्षित होता है, उसे प्रयासहीनात्मक अनैच्छिक अथवा विषयात्मक ध्यान कहते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है। प्रथम सहज प्रयासहीनात्मक ध्यान है जो शरीर की मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखता है जैसे भूख-प्यास लगने पर स्वतः भोजन-पानी की ओर ध्यान चला जाता है। दूसरा बाध्य प्रयासहीनात्मक ध्यान है जिसकी ओर आप अपना जानबूझकर ध्यान लगाने का प्रयास नहीं करते वरन् बरबस आपका ध्यान आकर्षित कर लिया जाता है। जैसे आप मकान में बैठे पत्र लिख रहे हैं। अचानक बाहर कोई जोर का शब्द हुआ। आपके ध्यान को बरबस उस ध्वनि ने आकर्षित कर लिया।

(२) प्रयासात्मक––दूसरे प्रकार का ध्यान प्रयासात्मक ध्यान है। हमें जानबूझकर ध्यान लगाने का प्रयत्न करना पड़ता है। उसे प्रयासात्मक ध्यान कहते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रयासात्मक है जैसे परीक्षा में पास होने के लिये बालक को विवश होकर पढ़ने में ध्यान लगाने का प्रयत्न करना पड़ता है। दूसरा निष्प्रयत्नात्मक ध्यान तब होता है जब कि प्रयत्नात्मक ध्यान में सरलता आ जाती है। अर्थात् ध्यान लगाने के प्रयत्न में अधिक शक्ति नहीं लगानी पड़ती।

जैसे बालक को पढ़ाने में अपना ध्यान विवश होकर लगाना पड़ता है। पर चूंकि यह नित्य का कार्य है अतः उतना अधिक ध्यान लगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अर्थात् प्रयत्न में सरलता आ गई।

बुनियादी शिक्षा ध्यान आकर्षित करने में कहाँ तक सफल है––बालकों के ध्यान में और प्रौढ़ों के ध्यान में अन्तर है। प्रौढ़ अधिक समय तक, एक साथ कितनी ही वस्तुओं पर बरबस ध्यान आकर्षित कर सकता है, पर बालक इनमें सफल नहीं होता क्योंकि उसकी इन्द्रियों का उतना विकास नहीं हो पाया है जितना प्रौढ़ व्यक्ति का। अतः शिक्षा देते समय अध्यापक को बालक के ध्यान के विस्तार, उसकी गहनता, उसकी लम्बाई, विषयों की संख्या आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। बालक तभी अच्छे ढंग से ज्ञान प्राप्त कर सकेगा जबकि उसके ध्यान का अध्यापक को पूरा अनुभव हो। वह उसके ध्यान को बनाये रखने का प्रयत्न करे। उसे सजग और सचेत रखे। उसके ध्यान में कोई बाधा न आने दे। ध्यान का उच्चाटन न होने दे।

बुनियादी शाला का अध्यापक इस कार्य में अधिक सफल हो सकता है। रूढ़िवादी शाला का अध्यापक उतना सफल नहीं हो सकता। ऊपर बालकों के ध्यान आकर्षित करने के जो साधन बताये गए हैं उनमें से प्रायः ऐसे साधन हैं जो रूढ़िवादी शालाओं के अध्यापक प्रयोग में नहीं लाते। बुनियादी शाला के अध्यापक को बुनियादी शिक्षा प्रदान करने में लगभग उन सभी साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। अतः यह निश्चित है कि ध्यान आकर्षित करने, उसे बनाये रखने, और छात्र को अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कराने में बुनियादी शिक्षा अधिक सफल है।

यह अध्यापक पर निर्भर है कि वह बुनियादी शिक्षा प्रदान करते समय इसको

अधिकाधिक सफल बनाने के साधन प्रयोग में लावे। अध्यापक को सदा पाठ्य विषय में बालक की रुचि बनाये रखने का प्रयास करना चाहिये। इसके लिये बालक को ऐसे अवसर अधिक देने चाहियें कि बालक स्वयं हाथ से काम करना सीख सके अथवा खेल ही खेल में सीख सके। बालक को केवल उपदेशात्मक बातें अधिक समय तक नहीं कहना चाहिये। कहानी चुटकलों का प्रयोग कर उन्हें उपदेशात्मक बातें बताई जा सकती हैं। बालकों में प्रयासात्मक ध्यान की आदत डालना चाहिये जो स्वतः निष्प्रयत्नात्मक होती जायगी।

बुनियादी शिक्षा जीवन की शिक्षा है। अतः इसके अध्यापन की यह विशेषता होनी चाहिए कि जो भी बात बताई जाए वह बालक के जीवन से सम्बन्धित हो। यदि ऐसा अध्यापक करेगा तो बालक का ध्यान अवश्य पाठ्य-विषय में लगा रहेगा। इसके साथ ही शाला का वातावरण, कक्षा की सजावट, सफाई, बैठने का ढंग, अन्य सामग्री, कक्षा के कमरे में प्रकाश और शुद्ध वायु के आने का उचित प्रबन्ध आदि बातें भी ध्यान पर प्रभाव डालती हैं। अतः अध्यापक को इनका भी ध्यान रखना चाहिए। बुनियादी शाला में स्वयं छात्रों द्वारा सफाई करना, सामग्री जुटाना, सजावट करना आदि कार्य कराये जाते है जिससे उनका ध्यान बना रहता है। बालक में शारीरिक और मानसिक थकान नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिए अन्यथा ध्यान भंग हो सकता है।

पंचतन्त्र की कहानियाँ विष्णुशर्मा ने इसलिए बनाई थीं कि उसे राजकुमारों के ध्यान को राजनीति के विषय में आकर्षित करने में कठिनाई उत्पन्न हुई थी। अतः उसने कहानियों द्वारा उन्हें राजनीति सिखाई थी। बुनियादी शाला का अध्यापक भी कहानियाँ कहकर, अभिनय कराकर, विभिन्न सैर कराकर, खेल-खिलाकर, संग्रह कराकर, बालकों का ध्यान आकर्षित कर सकता है और ये साधन बुनियादी शिक्षा की निजी देन हैं।

रुचि का स्वरूप—किसी भी बालक या प्रौढ़ का ध्यान उसी वस्तु या विषय की ओर शीघ्र आकर्षित होगा तथा अधिक समय तक बना रहेगा जिसमें उसकी रुचि हो। रुचि के मिटने पर ध्यान भंग हो जावेगा। अर्थात् यों कहना चाहिये कि ध्यान रुचि का दास है। यह रुचि है क्या वस्तु ? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं तथापि मनोवैज्ञानिकों ने इसका उत्तर इस प्रकार देने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य स्वार्थी प्राणी है। जिस वस्तु या विषय से उसका स्वार्थ पूरा होता हो, उसे कोई न कोई लाभ होता हो, उसका मनोरंजन होता हो, उसे आनन्द आता हो, उसी कार्य के करने में उसके मन की लगन होती है, धुन होती है। इसी मन की लगन या धुन को रुचि कहते हैं। जिस भाव से बालक या प्रौढ़ दत्तचित्त होकर ध्यान लगाकर कार्य करता है वही भाव रुचि कहलाता है। जिस कार्य में जिसका स्वार्थ जितना अधिक प्रबल होगा उसकी रुचि भी उस कार्य में उतनी ही अधिक होगी।

रुचि के भेद—रुचि के मनोवैज्ञानिकों ने दो भेद माने हैं। प्रथम स्वाभाविक रुचि और द्वितीय उपार्जित रुचि। स्वाभाविक रुचि उसे कहते हैं जो बिना किसी

प्रयत्न के मन को कार्य में लगादे। अर्थात् कार्य करने वाले को विवश होकर अपना मन उधर न लगाना पड़े। पर वह अपने आप लग जाय। यह स्वाभाविक रुचि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखती है। बालक की रुचि मूलतः मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखती है। बचपन में खेलने, भागने, कूदने, लड़ने, झगड़ने, भूख-प्यास बुझाने में रुचि होती है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है उपार्जित रुचि की मात्रा बढ़ती जाती है। इच्छा न होते हुए भी स्वार्थ की पूर्ति हेतु जिस कार्य में रुचि उत्पन्न कर ध्यान लगाकर काम करना पड़े उस रुचि को उपार्जित रुचि कहते हैं। प्रत्येक वस्तु या कार्य में स्वाभाविक रुचि नहीं होती। प्रारम्भ में कोई स्वाभाविक रुचि हो पर आगे जाकर उसी को उपार्जित बनाना पड़ता है और अन्त में पुन: वह स्वाभाविक सी बन जाती है। जैसे घर मे बड़े बालक को पढ़ते देखकर २-३ साल के बच्चे में भी पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है। चाहे वह अनुकरण प्रवृत्ति के आधार पर हो क्यों न हो पर जब उसकी वास्तव में पढने की आयु होती है तब उपार्जित रुचि से ही काम चलता है क्योंकि पढ़ने से मुँह मोडने लग जाता है। और धीरे-धीरे पढ़ने में उसको मन लगाना पड़ता है। अभ्यास करना पडता है; आदत पटकनी पड़ती है। तब वही उपार्जित रुचि स्वाभाविक रुचि-सी प्रतीत होने लगती है।

बालकों में रुचि उत्पन्न करने के साधन—(१) रुचि शारीरिक अवस्था पर निर्भर है। भूखा शेर खरगोशों को मारने लगेगा। पर जिसका पेट भरा हुआ हो उसके सामने खरगोश खेलते रहें पर उसकी रुचि उनको मारने में न होगी। मनुष्य भी जब तक भूखा है खाद्य सामग्री जुटाने मे रुचि लेगा पर भरे पेट वाले को खाने की सामग्री में रुचि न रहेगी। अत: स्पष्ट है शारीरिक अवस्था पर रुचि निर्भर है। बालकों में रुचि उत्पन्न करने के पहले देखना चाहिये कि वे स्वस्थ तो हैं। भूखे तो नहीं हैं। प्यासे तो नहीं हैं। थके हुए तो नहीं हैं। ऋतु का अत्यधिक प्रभाव तो उन पर नहीं हो रहा है, आदि।

(२) मानसिक अवस्था पर भी रुचि की उत्पत्ति निर्भर है। अर्थात् मन चिन्तित होगा तो रुचि उत्पन्न न होगी। बालकों की इस मानसिक अवस्था का ज्ञान भी अध्यापक को होना चाहिए।

(३) स्वार्थ की जितनी प्रबल मात्रा कार्य की पूर्ति हेतु होगी उतनी ही रुचि भी प्रबल होगी। अतः कार्य में रुचि उत्पन्न करने के लिए बालकों को प्रोत्साहन, रिवॉर्ड आदि देते रहना चाहिए।

(४) कार्य में परिवर्तन होने पर भी रुचि उत्पन्न होगी।

(५) कार्य मे नवीनता आने पर भी रुचि उत्पन्न होगी।

(६) पाठ्य सामग्री, सहायक सामग्री भी रुचि उत्पन्न करने वाली होनी चाहिए।

(७) बालकों को स्वाभाविक रुचि से उपार्जित रुचि की ओर ले जाना चाहिए

और अर्जित रुचि की टेव ऐसी डालनी चाहिए कि वह स्वाभाविक रुचि की भी बन जाय।

(८) जिस वस्तु का ज्ञान लेशमात्र भी नहीं होता उसमें रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः ज्ञात में रुचि उत्पन्न कर अज्ञात की ओर बालकों को ले जाना चाहिए।

(९) प्रारम्भ में बालकों को पदार्थ ज्ञान में रुचि होती है। अतः पदार्थों से ही सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान कराया जाना चाहिए जैसे गोलियों से जोड़, बाकी सिखाना आदि। मांटेसरी पद्धति के प्रयोग इसी पर निर्भर हैं।

(१०) प्रत्येक व्यक्ति की सबसे अधिक रुचि खाने में होती है अतः कार्य को भोजन से सम्बन्धित कर रुचि उत्पन्न करनी चाहिए।

(११) बालक को अपने ही हाथ से कार्य करने का अवसर दिया जाय तो उसमें रुचि उत्पन्न होगी।

सारांश

ध्यान का स्वरूप—जब चेतना किसी एक केन्द्र पर आधारित हो जाती है और चेतना के घेरे की अन्य सब वस्तुएं गौण रहती हैं तब वह उस केन्द्र पर ध्यान कहलाता है।

ध्यान की अवधि—ध्यान की अवधि इन बातों पर निर्भर रहती है—(१) आयु, (२) शारीरिक अवस्था, (३) मानसिक अवस्था, (४) विषय में रुचि, (५) ध्यान को एकाग्र करने की साधना।

बालक का ध्यान आकर्षित करने के तरीके—ध्यान इन तरीकों से आकर्षित किया जा सकता है। (१) कक्षा में अध्यापक का वाणी पर नियंत्रण, (२) वातावरण में परिवर्तन, (३) अध्यापन में नये उदाहरणों, चित्रों आदि का प्रयोग, (४) गतिशील कार्यों का आधिक्य, (५) रुचि बनाये रखना, (६) पुनरावृत्ति करना, (७) प्रश्नोत्तर प्रणाली द्वारा अध्यापन (८) सहायक सामग्री का उत्तेजक होना, (९) पाठ का समस्या-मूलक होना।

ध्यान के प्रकार—ध्यान के प्रमुख दो प्रकार हैं—(१) प्रयासहीनात्मक, (२) प्रयासात्मक। जिसमें प्रयास न किया जाय और स्वतः आकर्षित हो, प्रयास-हीनात्मक ध्यान कहते हैं। जिसमें प्रयासपूर्ण ध्यान लगाया जाय उसको प्रयासात्मक ध्यान कहते हैं।

बुनियादी शिक्षा ध्यान आकर्षित करने में कहां तक सफल है ?—जिन-जिन साधनों से ध्यान आकर्षित कर उसे जमाया जा सकता है वे सभी साधन बुनियादी शिक्षा की ही देन हैं जैसे हाथ से काम करना, पदार्थ-ज्ञान, निरीक्षण, संग्रह करना आदि। अतः ध्यान आकर्षित करने में यह पूर्ण सफल है।

रुचि का स्वरूप—किसी भी कार्य में मन की लगन को रुचि कहते हैं। ध्यान रुचि का दास है।

रुचि के भेद—रुचि दो प्रकार की होती है, (१) स्वाभाविक रुचि—यह मूल प्रवृत्तियों से संबंधित है ; (२) उपार्जित रुचि—कर्त्ता को विवश होकर रुचि उत्पन्न करनी पड़े उसे उपार्जित रुचि कहते हैं। जैसे अध्ययन में।

बालकों में रुचि उत्पन्न करने के साधन—(१) रुचि शारीरिक अवस्था पर निर्भर है। (२) मानसिक अवस्था पर निर्भर है। (३) कार्य में स्वार्थ की मात्रा पर निर्भर है। (४) कार्य में परिवर्तन रुचि उत्पन्न करता है। (५) कार्य में नवीनता रुचि उत्पन्न करती है। (६) पाठ्य सामग्री रुचि उत्पन्न करती है। (७) स्वाभाविक रुचि से उपार्जित रुचि उत्पन्न की जा सकती है। (८) ज्ञात में रुचि उत्पन्न कर अज्ञात का ज्ञान कराना चाहिए। (९) पदार्थ ज्ञान में रुचि उत्पन्न की जा सकती है। (१०) कार्य को अपनेपन से सम्बन्धित कर रुचि उत्पन्न की जा सकती है। (११) बालक को अपने ही हाथ से कार्य करने का अवसर देने से उसमें उसकी रुचि उत्पन्न होगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) चेतना परिधि से क्या तात्पर्य है? उसमें किस वस्तु पर कब ध्यान उत्पन्न होता है? ध्यान का क्या अर्थ है?

(२) ध्यान कितने प्रकार का होता है? बालकों में कौन-सा ध्यान उत्पन्न करना चाहिए और क्यों?

(३) बालकों में बुनियादी शिक्षा के दृष्टिकोण से ध्यान उत्पन्न करने के कौन-कौन से साधन प्रयोग में लाए जा सकते हैं?

(४) रुचि का ध्यान से क्या सम्बन्ध है? विषय को रुचिकर बनाने में आप क्या-क्या साधन प्रयोग में लावेंगे?

—:o:—

स्मृति
(Memory)

स्मृति का महत्व—क्या आप किसी वस्तु को रखकर भूल गये और उसे के लिए घंटों परेशान नहीं हुए ? और जब वह मिल गई होगी तब कितना आया होगा ? क्या आपने कभी कल्पना की है कि मनुष्य में स्मरण-शक्ति न होत संसार की क्या दशा हुई होती ? स्मरण-शक्ति के अभाव में माता और पत्नी में कोई अन्तर न रह जाता। अपने घर से बाहर निकलकर वापिस अपने घर न पहुँ न जाने किस घर में घुस पड़ते और तब ! और तब क्या होता यह आप ही लें। क्या इसके अभाव में हम दूसरे की माता को अपनी माता, दूसरे की पत्नी अपनी पत्नी, दूसरे के घर को अपना घर नहीं मान लेते ? कितना हास्यास्पद ल है यह सब ? पर हाँ, यह अवश्य है कि शायद वसुधैव-कुटुम्बकम् का नारा बार- लगाने की आवश्यकता न पड़ती क्योंकि प्रत्येक यही सोचता कि सम्पूर्ण संसार ही है। ईश्वर ने वस्तुतः सोच-समझकर ही सब प्राणियों को स्मरण-शक्ति दी। उसी का प्रभाव है कि संसार गतिमान है। अन्यथा न जाने क्या होता ? यह स्मर शक्ति प्रत्येक मानव में कम या ज्यादा मात्रा में पाई जाती है। मनोवैज्ञानिकों सामने इसका न्यूनाधिक मात्रा में मिलना विकट प्रश्न बन गया है। मनुष्य क्यों कैसे याद रखता है ? कैसे भूल जाता है ? पुनः कैसे याद कर लेता है ? आदि प्र के उत्तर मनोवैज्ञानिकों ने ढूंढने के प्रयत्न किये। और इसी के साथ उन्होंने स्मर शक्ति को पारिभाषिक रूप देने और उसका स्वरूप आंकने का भी प्रयत्न किया।

स्मृति का स्वरूप—विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने स्मृति के विभिन्न स्वरूप आं के प्रयत्न किये। कोई इसे याद रखने की क्रिया मानकर रह गया। कोई इसे मस्तिष की विशेष क्रिया बताकर रह गया। कोई इसे विस्मृति का विपरीत रूप मानकर गया और कोई इसे प्राप्त अनुभवों का कोष कहकर रह गया। पर वस्तुतः कोई स्मृ का वास्तविक स्वरूप, उचित परिभाषा अंकित न कर सका। स्टाउट महाशय ने प्रयत्न किया है। उन्होंने स्मृति की परिभाषा इस प्रकार बतलाई है कि स्मृति पुरा विचारों को फिर से जगाने की, सजीव करने की, याद दिलाने की क्रिया है। वस्तु पहले के प्राप्त अनुभवों को फिर से याद करने की और पहचानने की क्रिया को स्मृ कहते हैं। पर ये अनुभव तभी प्रयोग में लाये जाते हैं जबकि उनकी उसी क्रम आवश्यकता होती है। अर्थात् स्मृति ऐसी मानसिक क्रिया है जो वर्तमान समस्या स्थिति, अवस्था के उत्पन्न होने पर उसके हल के लिए मस्तिष्क में अंकित बैठे पुराने अनुभवों को, घटनाओं को पुनः सचेत कर देती है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान

मस्या के हल के लिए व्यक्ति पुराने अनुभवों को, जो मस्तिष्क में विद्यमान हैं याद रके उनके आधार पर उनका हल ढूंढता है। जिसको पुराने अनुभव नहीं होते हैं समें स्मृति भी नहीं होती जैसे नवजात बालक में।

अच्छी स्मृति की विशेषताएँ—स्मृति मनुष्य के मस्तिष्क से सम्बन्धित है। स्तिष्क असंख्य वात कोष्ठों से बना हुआ है। मनुष्य कोई भी अनुभव प्राप्त करता उसका प्रभाव उसके वात कोष्ठ पर पड़ता है जिससे उसमें कुछ परिवर्तन होता है। ते ही कोई अवस्था, घटना, विचार पुनः उत्पन्न होने पर वही वात कोष्ठ जाग्रत हो ता है और पूर्व अनुभव का ज्ञान मनुष्य में उत्पन्न कर देता है। अतः इससे स्पष्ट के ज्यों ही ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान नाड़ियाँ मस्तिष्क में वात पहुँचाती हैं वह वहाँ, वात ठों में अंकित हो जाती हैं। इसे मनुष्य की धारणा शक्ति भी कहते हैं। अतः ष्क की बनावट पर ही स्मृति की विशेषता अवलम्बित है। अच्छी स्मृति में नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं :—

(१) याद करने में सुगमता—अच्छी स्मृति शीघ्र याद कराती है। आपने होगा ऐसे कई लोग होते हैं जिन्हें एक बार या दो बार पढ़ लेने से याद हो जाया ा है। राजा भोज के दरबार में ऐसे चार विद्वान् थे जिनमें से प्रथम को एक बार श्लोक, कहानी या बात सुनने से अक्षरशः याद रह जाती थी। द्वितीय विद्वान् ो बार, तृतीय को तीन बार और चतुर्थ को चार बार सुनने से याद हो जाया ' और सदा के लिए स्मृति पटल पर अंकित रहता। इस पर राजा भोज को बड़ा ा कि उसके विद्वान् इतनी अच्छी स्मृति के हैं। इसीलिए उसने यह विज्ञप्ति या रखी थी कि जो नये श्लोक की रचना कर लावेगा उसे एक लाख स्वर्ण प्रदान की जावेंगी। क्योंकि जो भी श्लोक बनाकर लाता उसे सभा में एक बार ' पढ़ता और एक बार सुनने से प्रथम विद्वान् को याद हो जाया करता। और ह वह श्लोक सभा में दो बार बोल लिया जाता जिससे दूसरे को याद हो और वह सुना देता। इस तरह तीन बार बोल लिए जाने के कारण तीसरे को ' जाता और इसी प्रकार चौथे को। तात्पर्य यह है कि अच्छी स्मृति की यह ा है कि उसे शीघ्र याद हो जाय।

(२) याद रखना—दूसरी विशेषता यह है कि वह बात लम्बे समय तक अर्थात् धेक समय तक अथवा यों कहना चाहिए सदा के लिए याद रहे।

(३) आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र याद आना—तीसरी विशेषता यह है कि ी हुई बात आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र याद आवे। कई बार आपने भी किया होगा कि बात याद आते-आते गले में अटकी रहती है और उसके याद न आने पर हम झुंझलाते हैं। यह अच्छी स्मृति का लक्षण नहीं।

(४) ज्यों की त्यों याद रखना—चौथी विशेषता यह है कि जिस बात को ा है उसे ज्यों की त्यों याद रखें। अर्थात् उसमें से किसी भाग को न भूलें, पर लोगों को अपनी ओर से जोड़ना पड़ता है।

(५) *अनावश्यक बात को याद न रखना—स्मृति की यह भी विशेषता हो* चाहिए कि अनावश्यक बात को याद न रखे। अन्यथा मस्तिष्क के लिए अधिक बो हो जायेगा। इसके लिए मस्तिष्क-शक्ति का प्रबल होना आवश्यक है ताकि व शीघ्र निर्णय कर सके कि किस बात को याद रखना आवश्यक है और किस-किस ब नहीं।

स्मृति की क्रिया—*स्मृति की भी अपनी एक क्रिया है जिसमें एक के बाद ए* क्रम होता रहता है। जैसे सीखे या याद किये बिना अथवा किसी न किसी रूप ं सम्पर्क में आये बिना अनुभव नहीं हो सकता। और जब स्मृति पटल पर को अनुभव ही नहीं है तब स्मृति हो ही किस बात की। अतः स्मृति की क्रिया निम्न लिखित है:—

(१) अनुभव बनना। (२) अनुभव को धारण करना।
(३) पहचानना। (४) पुनश्चेतना।

१. अनुभव बनना—स्मृति की सर्वप्रथम क्रिया अनुभव बनने की है। इसी को सीखना या याद करना भी कह सकते हैं। सीखना या याद करना दो प्रकार का होता है—*(१) समझकर याद करना, (२) रटकर याद करना। किसी भी बात को* विचारपूर्वक समझकर याद किया जाय तो वह रटकर याद करने की अपेक्षा अधिक समय तक याद रहती है। स्मृति की इस क्रिया के लिए निम्नलिखित बातें अधिक ध्यान देने योग्य हैं:—

(१) याद करने के लिए बात को अच्छे ढंग से समझना चाहिए।

(२) बात को बार-बार दुहराना चाहिए। *जितना अधिक दुहराया जाएगा* उतनी ही शीघ्र याद होगी।

(३) याद करने में जितनी अधिक ज्ञानेन्द्रियों से काम लिया जाएगा उतनी ही शीघ्र याद होगी। एक तो आप किसी कविता को मन में बोलकर याद करें। *उसमें केवल आँखें ही काम करेंगी। यदि उसी को जोर से बोलकर हाव-भाव सहित* याद करें तो शीघ्र याद होगी क्योंकि आँखों के साथ ही स्वर यन्त्र, कान तथा अंगों का परिचालन सभी काम करते हैं।

(४) टुकड़े-टुकड़े याद करने की अपेक्षा सम्पूर्ण याद करना चाहिए।

(५) जहाँ तक हो सके रटकर याद न *करना चाहिए। केवल सूचनात्मक* विषय ही रटे जाने चाहिएँ जैसे पहाड़े आदि।

(६) एक चीज के बाद शीघ्र ही दूसरी चीज को याद करना प्रारम्भ कर देना उचित नहीं।

(७) *विश्राम लेकर अथवा नींद निकालकर पुनः याद करना प्रारम्भ करने से* शीघ्र याद होता है।

२. अनुभव धारण करना—स्मृति की दूसरी क्रिया है प्राप्त अनुभव को अर्थात् याद की हुई वस्तु को धारण किये रखना। यह मनुष्य की धारणा शक्ति

कहलाता है। मनुष्यों की धारणा शक्ति में अन्तर होता है। यह बालक के विकास के साथ-साथ बढ़ती है। बालक उन्हीं बातों को धारण कर सकता है अर्थात् याद रख सकता है जिसमें उसकी रुचि हो। वही बात अधिक समय तक स्मृति पर अंकित रहती है जो बार-बार दुहराई जाती हो। जो व्यक्ति की रुचि के अनुकूल हो तथा पूर्व प्राप्त अनुभवों से जिनका सम्बन्ध आसानी से जुड़ गया हो। इस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट, अवस्था, स्वास्थ्य, रुचि और चिंतन के अनुकूल ही उसकी धारणा शक्ति होती है।

३. पहचानना—स्मृति की तीसरी क्रिया है वर्तमान अवस्था अथवा समस्या के प्रकाश में धारणा शक्ति में धारण किये हुए अनुभव को पहचानना। अर्थात् उस समस्या को सुलझाने में कौन-सा अनुभव उचित उपयोग दे सकेगा। उसे कई अनुभव प्राप्त हैं उनमें से कौन-सा अनुभव इस समय के योग्य है।

४. पुनश्चेतना—स्मृति की यह चौथी क्रिया है। स्मृति पटल पर अंकित कई अनुभवों में से वर्तमान समस्या के अनुकूल अनुभव को पहचानने के पश्चात् उसे पुनः स्मरण करना पुनश्चेतना कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति के सामने आते ही हम अपनी धारणा शक्ति को टटोलते हैं कि हमने इसे कब और कहाँ देखा। और उस व्यक्ति से सम्बन्धित जितने भी अनुभव हैं उन सबको पहचानते हैं। पहचानते समय सोचते हैं कि इसका नाम अमुक है अथवा अमुक। और उस समय पुनश्चेतना कार्य करती है और हम स्थिर करते हैं कि यही नाम होना चाहिए।

स्मृति के विकास के साधन—कौन अपनी स्मरण-शक्ति नहीं बढ़ाना चाहता? दुकानदार, क्या व्याख्यानदाता, क्या वकील, क्या छात्र, क्या अध्यापक, क्या और सभी अपनी स्मरण-शक्ति बढ़ाना चाहते हैं। यही नहीं इसी दृष्टिकोण से पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ टटोलते हैं कि कहीं इस सम्बन्धी कोई विज्ञापन मिल जाय। और व्यक्तियों को पागल बनाकर पैसा कमाने वाले समझदारों की कमी नहीं जो किसी को स्मृतिवर्धक बताकर, किसी औषधि, अवलेह, मुरब्बा, चटनी को स्मृतिवर्धक बताकर, किसी इत्र को स्मृतिवर्धक बताकर पैसा कमा लेते हैं। क्या भला स्मृति भी बाजारों में यों बिक सकती है—यह कोई नहीं सोचता। स्मृति की वृद्धि पूर्णतया याद करने पर निर्भर है। यदि इन साधनों में से किसी ने किसी व्यक्ति को लाभ पहुँचाया तो केवल यही हो सकता है कि उसको वस्तुयें सरलता से याद होने लगी होंगी। स्मरण-शक्ति बढ़ाने वाले व्यक्ति को याद करने पर ध्यान देना चाहिए—अर्थात् जिस वस्तु को स्मरण रखना है उस पर विशेष ध्यान दे। उसे याद रखने की याद रखने के लिए उस वस्तु सम्बन्धी शकल-सूरत, वेश-भूषा आदि आकृति को मन में बिठा ले। वस्तुओं का क्रम-बद्ध सम्बन्ध जोड़कर अथवा परस्पर सम्बन्ध से याद रखने का प्रयत्न करे। लय के अनुसार याद करने का प्रयास करे जैसे डी ग्रेट, लाइटी दी वेस्ट, चाय पियो और बिस्कुट खाओ जे० बी० मंगाराम पियो सौ बरस जियो आदि। और इसके लिए आजकल विज्ञापन प्रायः छन्द-

बद बोले और पढ़े जाते हैं। यही नहीं, बालकों को व्यर्थ बातें याद करने से रोकना चाहिए। हाथ के काम के साथ-साथ यदि याद कराया जाय तो शीघ्र याद रहेगा और स्मरण-शक्ति प्रबल बनेगी।

विस्मृति—भूलना भी जीवन का आवश्यक अंग है। जिस प्रकार स्मृति के बिना जीवन की कल्पना हास्यास्पद हो सकती है उसी प्रकार विस्मृति की क्रिया के बिना भी जीवन कठिन हो जाता है। कई बार हम अपने जीवन की कई घटनाओं को जान-बूझकर भूलने का प्रयत्न करना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि उनके याद रहने से हमें अपने जीवन के बिताने में आनन्द नहीं आ सकता। पर कई बार कई बातों को याद रखने की इच्छा रखते हुए भी भूल जाते हैं। भूलने की क्रिया से मस्तिष्क पर विचारों का, अनुभवों का, बातों का अधिक बोझ नहीं होता। यदि भूलने की आदत कुछ न कुछ प्रत्येक व्यक्ति में न होती तो उसके मस्तिष्क को मानो बोझ लगने लग जाता। अतः भूलने की क्रिया भी जीवन की आवश्यक क्रिया है।

विस्मृति के कारण—वैसे तो भूलना स्वाभाविक क्रिया है, पर कोई शीघ्र भूलता है कोई देर से; कोई कम भूलता है पर कोई अधिक भूलता है। आखिर ऐसा क्यों होता है? सभी के भूलने में एकसा पन क्यों नहीं है? इसका उत्तर वैसे तो यही दिया जा सकता है कि यह मनुष्यों की स्मृति पर निर्भर है। जिसकी स्मृति अच्छी होगी वह शीघ्र नहीं भूलेगा। तथापि विस्मृति के कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। भूलने के साधारणतया निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :—

(१) साधारणतया बालक का मन व मस्तिष्क इतने कमजोर होते हैं कि वे उन पर पड़े हुए सभी अनुभवों और संस्कारों को याद नहीं रख सकते।

(२) जिन बातों को अच्छे ढंग से याद नहीं किया जाता और दुहराया नहीं जाता वे भुलाई जाती हैं।

(३) जिन बातों में रुचि नहीं होती उनको आप भूल जाते हैं। जैसे आपको किसी सभा में जाने की रुचि नहीं है तो आप उसके समय को शीघ्र भूल जावेंगे। एक सज्जन को रुचि न होते हुए भी एक संस्था का उद्घाटन करने के लिए विवश किया गया। उसने अपने भाषण के अन्त में उद्घाटन करता हूँ के स्थान पर विसर्जन करता हूँ, कह दिया। यह सब रुचि न होने के कारण ही होता है। फ्राइड ने तो यहाँ तक कहा है "हर तरह की विस्मृति अप्रियता के उद्देश्य पर ही निर्मित होती है।"

(४) याद करते समय यदि बालक का ध्यान अन्यत्र है तो वह पुनः शीघ्र भूल जायगा। यही नहीं वरन् एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में मिला देगा। हाथी को गधा और गधे को हाथी जैसा बता देगा।

(५) किसी वस्तु, व्यक्ति या क्रिया-विशेष के प्रति मानसिक ग्रंथि होती है तो उसके प्रति विस्मृति का व्यवहार अधिक होता है। जैसे मेरे एक मित्र का लेखन ... नहीं है। ट्रेनिंग पीरियड में फाइनल प्रैक्टिकल परीक्षा के दिन अध्यापक

अपनी कक्षा में घुसा पर श्यामपट पर कक्षा, विषय, पीरियड, तारीख आदि लिखना भूल गया। यह भूलना उसकी मानसिक ग्रंथि के कारण था। उसे हर समय यह ख्याल बना रहता था कि उसका लेखन सुन्दर नहीं है।

(६) याद करते समय कोई संशय रह जाने पर भी भूलने की क्रिया शीघ्र हो जाती है।

(७) समय स्मृति पर पर्दा डालता जाता है और भूलने की क्रिया होती है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, भूलना होता जाता है।

(८) विस्मृति स्वार्थ पर भी निर्भर है। आपको अपने स्वार्थ की बात अधिक याद रहेगी। आपको किस-किस से रुपये लेने हैं यह अधिक याद रहेगा बनिस्बत इसके कि किस-किस को देने हैं।

बालकों की भूल—वैसे तो बालकों की भूल के भी ये ही उपर्युक्त कारण हैं तथापि यह देखने में आता है कि बालकों के भूल के दो ही मुख्य कारण हैं। प्रथम तो रुचि न होना, द्वितीय मानसिक ग्रंथि बन जाना। कई बार कई बालक पुस्तक लाना भूल जाते हैं। कापी लाना भूल जाते हैं। बार-बार यदि ऐसा ही होता है तो अध्यापक को यह पता लगाना चाहिए कि ऐसा क्यों होता है। बालक की यह भूल उसकी विषय में रुचि न होने के कारण अथवा मानसिक ग्रन्थि के कारण होती है।

कई बालकों में किसी विषय के प्रति मानसिक ग्रंथि बन जाती है। उसका कारण उस विषय के अध्यापक का कठोर व्यवहार हो सकता है। अथवा उस विषय में माता-पिता का दखल रखना और कठोरता से पढ़ाना हो सकता है। एक पिता गणित का विशेषज्ञ था। उसने अपने पुत्र को प्रारम्भ से ही कठोरता से गणित पढ़ाना शुरू किया। बालक अन्य विषयों में होशियार था पर गणित ही में कमजोर था। अत्यधिक भूलें करता। पढ़ने में रुचि नहीं रहती। इसका विश्लेषण किया गया तो विषय में पिता की कठोरता की मानसिक ग्रन्थि बालक में पाई गई।

बुनियादी शिक्षा और स्मृति—अध्यापक से, स्मृति सम्बन्धी ज्ञान हो जाने पर यह आशा की जाती है कि वह इस प्रकार पढ़ाये तथा ऐसा अनुभव कराये जो बालक को अधिक समय तक स्मरण रह सके। जो शीघ्र विस्मृत न हो सके। इस दृष्टि से अध्यापक के दो कार्य हुए, प्रथम तो पढ़ाई जाने वाली वस्तु और दूसरा पढ़ाने का ढंग।

जहाँ तक पढ़ाई जाने वाली वस्तु का प्रश्न है बालक को ऐसी ही शिक्षा प्राप्त करने में रुचि होगी जो उसके जीवन से सम्बन्धित है। जिसका ज्ञान वह स्वयं प्राप्त करे। जिस शिक्षा को, जिस ज्ञान और अनुभव को बालक के जीवन से जोड़ा जायगा वह अधिक स्मरण रहेगी। वह बालक की जीवन-क्रिया बन जायगी। रूढ़िवादी शिक्षा की अपेक्षा बुनियादी शिक्षा इस दृष्टिकोण से अधिक सफल है। बुनियादी शिक्षा जीवन की शिक्षा है। यह बालक को जीने की कला सिखाती है। उसे यह ज्ञान रहता है कि उसे जीवन इसी क्रम से बिताना है। यहीं उसके संस्कारों, देश व समाज के अधिक

अनुकूल है। अतः इससे उसे मोह है। इसमें उसकी रुचि है। और इसीलिए इससे प्राप्त अनुभव उसके मस्तिष्क में चिरस्थायी रहते हैं।

स्मृति के लिए दूसरी विशेषता यह है कि उसे किस ढंग से याद कराया गया। *जिस बात को सीखने में शरीर की सभी ज्ञानेन्द्रियाँ लीन हो जायें वही बात आसानी से याद होगी और अधिक स्मरण रहेगी। बुनियादी शिक्षा यही करती है। यही नहीं वरन् यह देखा गया है कि बालक जिस कार्य को हाथ से करते हुए तत्सम्बन्धी गीत,* कविता आदि याद करता है तो वे शीघ्र याद होते हैं और अधिक देर तक स्मृति पटल पर अंकित रहते हैं। आपने देखा होगा स्त्रियाँ चक्की पीसते समय चक्की के राग में भजन गीत गाती हैं। यदि उन्हें उस समय नये गीत भजन सिखाये जायें तो शीघ्र याद होंगे और अधिक समय तक स्थायी रहेंगे। इसी प्रकार बालकों से तकली कातते समय, पूनी बनाते समय या अन्य कार्य करते समय सामूहिक गीत गवाये जायें तो शीघ्र याद होंगे और याद करने में सरलता स्मृति को ठीक बनायेगी।

बुनियादी शिक्षा बालक को उसकी रुचि के अनुकूल ज्ञान कराती है। उस पर ज्ञान का दबाव नहीं डालती। इस शिक्षा-प्रणाली में निरीक्षण, संग्रह, उद्योग कार्य, सफाई, सजावट, आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो रुचि के अनुकूल हैं। और इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान बालक नहीं भूलता। वह अपनी अवस्था, रुचि, क्षमता आदि के अनुकूल ही ज्ञान प्राप्त करता है।

बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने पढ़ाने के ढंग को अधिकाधिक सरल तथा दिलचस्प बनाये। बालकों में स्नेह का व्यवहार प्रदर्शित करे। अपने जीवन में उनको सिखाई जाने वाली बातों का अनुकरण करे। अपने मन में मानसिक ग्रंथि न उत्पन्न होने दे। उनके साथ कठोरता का व्यवहार न करे तो निश्चित है कि बालक की स्मृति में वह अवश्य विकास ला सकेगा।

वस्तुतः अध्ययन और अध्यापन में जितनी यथार्थता, जितनी वास्तविकता का समावेश होगा और यह जीवन से जितनी सम्बन्धित होगी उतनी स्मृति के विकास में सहायता मिलेगी और यह कार्य बुनियादी शिक्षा सफलता से करती है।

सारांश

स्मृति का महत्त्व—मनुष्य में यदि स्मृति न होती तो संसार का ठीक ढंग से चलना कठिन था। सभी प्राणियों में स्मृति पाई जाती है। मनुष्यों की स्मृति की मात्रा में अन्तर होता है।

स्मृति का स्वरूप—पहले के प्राप्त अनुभवों को फिर से याद करने की और पहचानने की क्रिया को स्मृति कहते हैं। जिन्हें पुराने अनुभव नहीं होते उनमें स्मृति भी नहीं होती।

अच्छी स्मृति की विशेषताएं—अच्छी स्मृति में ये गुण पाये जाते हैं—(१) याद करने में सुगमता, (२) याद रखना, (३) आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र आवश्यक बात को याद रखना।

स्मृति की क्रिया—स्मृति की क्रिया इस क्रम से होती है—(१) अनुभव करना, (२) अनुभव धारण करना—इसे धारणा शक्ति भी कहते हैं, (३) पहचानना, (४) पुनश्चेतना।

स्मृति विकास के साधन—पत्र-पत्रिकाओं से विज्ञापित औषधियों, तेलों, मुरब्बों आदि से स्मृति का विकास नहीं होता। ये साधन केवल याद करने में सरलता भले ही उत्पन्न कर सकते हैं। हाथ से काम कराने के साथ याद कराने से वह स्मृति में अधिक देर तक ठहरता है।

विस्मृति—स्मृति की तरह, विस्मृति भी जीवन का आवश्यक अंग है।

विस्मृति के कारण—(१) बालकों के कोमल मन व मस्तिष्क सभी बातें याद नहीं रख सकते। (२) अच्छे ढंग से याद न करना अथवा न दुहराना। (३) जिस बात में रुचि नहीं होती उसे शीघ्र भूल जाते हैं। (४) याद करते समय ध्यान का एकाग्र न होना। (५) मानसिक ग्रंथि बन जाना। (६) याद करने में संशय रह जाना। (७) समय बीतते जाना। (८) स्वार्थ की बात अधिक याद रहती है।

बालकों की भूल—दो मुख्य कारण हैं—(१) रुचि का अभाव, (२) मानसिक ग्रन्थि। विषय में रुचि न होने से अथवा विषय में मानसिक ग्रन्थि बन जाने से बालक अधिक भूलते हैं।

बुनियादी शिक्षा और स्मृति—बालक शीघ्र विस्मृत न कर सके इस दृष्टि से दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) पढ़ाई जाने वाली वस्तु (२) पढ़ाने का ढंग। पढ़ाई जाने वाली वस्तु जीवन से सम्बन्धित होनी चाहिये, बुनियादी शिक्षा की यही विशेषता है। पढ़ाने का ढंग भी बुनियादी शिक्षा का ऐसा है कि बालक शीघ्र नहीं भूलता। निरीक्षण, संग्रह, उद्योग-कार्य, सजावट आदि बालक की शिक्षा को जीवन से सम्बन्धित करते हैं। उसमें वास्तविकता लाते हैं। अतः इस शिक्षा-प्रणाली द्वारा प्राप्त ज्ञान शीघ्र नहीं भूला जाता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) स्मृति से क्या तात्पर्य है ? अच्छी स्मृति किन-किन बातों पर निर्भर होती है ?

(२) धारणा शक्ति से क्या तात्पर्य है ? स्मृति क्रिया में उसका कौन-सा स्थान है ? धारणा शक्ति कैसे प्रबल बनाई जा सकती है ?

(३) बालकों की विस्मृति के क्या कारण हैं ? विस्मृति को रोकने के आप कौन से उपाय प्रयोग में लाओगे ?

(४) बुनियादी शिक्षा स्मृति के विकास में किस प्रकार और कहाँ तक सहायक है ? स्पष्ट विवेचन कीजिये।

—:०:—

आदतों का निर्माण

मानव जीवन में आदत का बड़ा महत्व है। आदतों से मनुष्य का जीवन सरल और सुगम हो जाता है। मनुष्य का व्यक्तित्व आदतों का समुदाय कहा जा सकता है। बाल्यावस्था ही से जो आदतें पड़ जाती हैं वे जीवन भर कार्य करती रहती हैं। आदतों के कारण ही मनुष्य का जीवन सरलता से बीतता है। मनुष्य का दैनिक जीवन आदतों पर ही निर्भर है।

आदत का रूप—मनुष्य सीखता है। सीखने के नित्य के अभ्यास से मनुष्य को आदत पड़ जाती है। यह सीखना मनुष्य की अर्जित प्रवृत्ति कहलाती है। आदत की परिभाषाएँ इस प्रकार बताई गई हैं :–

"आदत प्रणाली की उस प्रवृत्ति का नाम है जिसके कारण वह वैसा ही आचरण करता है जैसा उसने पहले किया हो।"

"आदत का अभिप्राय है—किसी व्यक्ति में किसी क्रिया को सरल तथा शीघ्रता से करने की शक्ति उत्पन्न हो जाना।"

"आदत वह अर्जित क्रिया है जो सहज है। अर्थात् उसमें किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं होती।"

"स्वयं आदतें स्नायु रचना के अर्जित रूपान्तर तथा संयोग हैं।"

"आदत केवल वर्णात्मक पद है जो कि समान परिस्थितियों में समान क्रियाओं के पुनरावर्तन को दर्शाता है।"

इन उपरोक्त परिभाषाओं से परिचय करने के बाद यह स्पष्ट ही है कि आदतें मनुष्य की अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें मनुष्य अभ्यास से ही सीखता है और जो मशीन की तरह एक सा उत्तर प्रदान करती हैं।

आदतों और मूल प्रवृत्तियों में अन्तर—मूल प्रवृत्तियाँ भी जन्मजात आदतें ही कही जा सकती हैं, पर आदतें मनुष्य के द्वारा अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं। मूल प्रवृत्तियाँ वंशानुक्रम के अनुसार माता-पिता से उपलब्ध होती हैं किन्तु आदतें अभ्यास से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार मूल प्रवृत्तियाँ पैतृक संस्कार हैं और आदतें अर्जित संस्कार। जेम्स एस० रौस ने लिखा है—"मूल प्रवृत्ति तथा आदत में केवलमात्र अन्तर यह है कि एक तो जन्मजात चेष्टा यन्त्र है, दूसरा अर्जित। आदतें भावनाओं तथा मूल प्रवृत्तियों दोनों की सेवा में उत्पन्न होती हैं।"

वास्तव में मूल प्रवृत्तियों तथा आदतों में समानता यह है कि दोनों प्रकार की क्रियायें सरल होती हैं। करने वाले को मानसिक प्रयास अथवा विचार की आवश्यकता नहीं होती। अन्तर यह है कि मूल प्रवृत्ति को बालक बिना सीखे व्यवहार में लाता है

और आदतों को सीखना पड़ता है। यों कहना चाहिए कि सीखने का ही दूसरा नाम आदत डालना है।

आदतों की व्यापकता—आदतें पशु, पक्षियों, मनुष्यों आदि सभी प्राणियों में पाई जाती हैं। पशु-पक्षियों में मूल प्रवृत्तियों की प्रधानता रहती है; मानव जीवन में अर्जित प्रवृत्तियों अर्थात् आदतों की। आदतें एक बार पड़ जाने पर बड़ी कठिनाई से छूटती हैं। कारागार में कई वर्षों तक रहने वाले कैदियों को जेल से छूटना अप्रिय मालूम होता है। यहाँ तक कि ऐसे उदाहरण देखे गये हैं कि कैदी स्वतन्त्र कर दिये जाने पर भी पुनः प्रवेश चाहने लगे।

इसी प्रकार सर्कस का एक शेर पिंजरे में रहने का इतना आदी हो गया था कि रेल दुर्घटना के कारण पिंजरा टूट गया और शेर स्वतन्त्र हो गया पर वह स्वतन्त्रता उसे अप्रिय लगी और वह एकदम टूटे पिंजरे में घुस गया।

सैनिकों के चलते समय स्वाभाविक पैर मिलना भी आदत के कारण ही होता है। सैनिकों को ड्रिल करने की आदत ऐसी पड़ जाती है कि निर्देश सुनते ही तत्काल स्वतः उनकी मुद्रा वैसी ही हो जाती है। सैनिक सेवा से मुक्त एक सैनिक को खाना हाथ में लिए जाते हुए देखकर एक व्यक्ति ने सावधान (अटेन्शन) का आदेश दिया। आदेश सुनते ही पड़ी हुई आदत के अनुसार सैनिक की मुद्रा सावधान स्थिति की बन गई और खाना हाथ से छूट कर नीचे जा गिरा।

इस प्रकार आदतें मानव-जीवन को नियन्त्रित करती हैं। इन आदतों का निर्माणकर्त्ता मानव स्वयं ही है। इन आदतों का निर्माण अभ्यास द्वारा होता है। जिस क्रिया का अभ्यास जितना अधिक होगा वही उतनी ही दृढ़ आदत बन जायेगी।

आदतों की विशेषतायें—(१) आदतें एक दम नहीं बन जाती। क्रमशः धीरे-धीरे बनती हैं। जैसे बालक प्रारम्भ से ही बाएँ हाथ से लिखना प्रारम्भ करे तो उसकी आदत बाएँ हाथ से ही लिखने की पड़ जायगी। पर यदि उसे प्रारम्भ में ही रोक दिया जाए और दाहिने हाथ से लिखना सिखाया जाय तो आदत वैसी पड़ जायगी।

(२) पड़ी हुई आदत भी धीरे-धीरे मिट सकती है। जैसे देर से उठने की आदत शीघ्र उठने में धीरे-धीरे बदली जा सकती है, एकदम नहीं।

(३) आदतें समय और शक्ति का बचाव करती हैं। स्वभाव पड़ने पर मुश्किल काम आसान मालूम होने लगते हैं।

(४) बुरी आदतें कठिनाई उत्पन्न करने वाली होती हैं। जैसे गंदे रहने वाले लोगों को सफाई में बहुत शक्ति और समय व्यतीत करना पड़ता है। चाय पीने की आदत वाले को चाय न मिलने पर बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।

(५) बहुत समय तक प्रयोग में न ली जाने वाली आदत मिट जाती है। साफ सुथरा रहने वाला बालक यदि गंदा रहना प्रारम्भ करदे तो फिर स्वच्छता की आदत मिट जाती है।

(६) अनुकरण के कारण अच्छे और बुरे दोनों स्वभाव का अनुकरण कर

आदत पलटी जा सकती है। अतः अध्यापकों को बालकों के सामने अच्छे आदर्श उपस्थित करने चाहिएँ।

(७) बुरी आदतें अच्छी आदतों के निर्माण में बाधक होती हैं, अतः प्रारम्भ से ही अच्छी आदतें ही डालनी चाहिएँ।

(८) आदतों के *कार्य यन्त्रवद् होते हैं। एक प्रकार की आदत से एक ही* प्रकार के कार्य होंगे।

(९) स्काउट महाशय के अनुसार आदतों के चार लक्षण बताए गए हैं :—

(अ) समानता—आदत के वशीभूत किये गये कार्य सब एक-से होते हैं, जैसे, हस्त-लेख, वेश-भूषा आदि।

(आ) सुगमता—जिस कार्य को करने में अभ्यस्त हो जाते हैं उसको करने में सरलता प्रतीत होती है। जैसे सीखने के समय में साइकिल का चलाना कठिन प्रतीत होता है पर आदत पड़ने पर वह सरल प्रतीत होता है।

(इ) रोचकता—*कार्य को करने की आवृत्ति उसमें रुचि उत्पन्न कर देती है।* काम को करने का अभ्यास सहज प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। जैसे प्रारम्भ में सिगरेट पीना अरुचिकर लगता है पर अभ्यास उसका आदी बनाकर उसे रुचिकर बना देता है। बालक का पाठशाला जाना प्रारम्भ में अरुचिकर पर नित्य जाने के कारण रुचिकर बन जाता है।

(ई) ध्यान स्वातन्त्र्य—आदत से किये जाने वाले काम में ध्यान देने की अधिक आवश्यकता नहीं होती। जैसे कुशल टाइपिस्ट का ध्यान टाइप किये जाने वाले विषय पर रहता है न कि मशीन पर। साइकिल चलाते समय हम इधर-उधर देखते हैं, बातें करते हैं। *पैंडिल या हैंडिल पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती।*

आदत के प्रकार—वैसे तो आदतों के दो ही वर्गीकरण किये जाते हैं। प्रथम अच्छी आदतें और द्वितीय बुरी आदतें। जो आदतें समाज की दृष्टि से नैतिक एवं लाभप्रद हों उन्हें अच्छी आदतें कहते हैं और जो समाज की दृष्टि से हानिकारक एवं अनैतिक हों उन्हें बुरी आदतें कहते हैं।

आदतों के वर्गीकरण की दूसरी विचारधारा आदतों के दो विभाजन करती है—प्रथम व्यक्तिगत और दूसरी सामाजिक। व्यक्तिगत आदतें ऐसी आदतें हैं जो व्यक्ति की अपनी निजी हों जैसे देर से उठना या जल्दी उठना, कम खाना या अधिक खाना, *गन्दे रहना या साफ रहना। सामाजिक आदतें वे आदतें* हैं जो एक समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों में पाई जाती हैं-जैसे, मुसलमानों का पान खाना, बंगालियों का कुर्ता पहनना आदि।

तीसरी विचारधारा आदतों को तीन भागों में बाँटती है—(१) *शारीरिक,* (२) मानसिक, (३) आचारिक। शारीरिक आदतें शरीर सम्बन्धी होती हैं जैसे, चबा-चबाकर धीरे-धीरे खाना, लघु भोजन करना आदि। मानसिक आदतें वे जो मनुष्य के मन और बुद्धि से सम्बन्ध रखती हैं। जैसे सोचकर कार्य करना, चिन्ता

करना या प्रसन्नचित रहना, उपन्यास पढ़ना, समाचार-पत्र पढ़ना आदि। भावात्मक आदतें वे हैं जो मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखती हैं। जैसे मिलकर रहना, परोपकार करना, झूठ बोलना, गाली देना आदि।

आदत डालने के नियम—मनुष्य में आदतें कैसे बनती हैं इसका विलियम जेम्स ने अध्ययन कर चार नियम बताये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) संकल्प की दृढ़ता।
(२) कार्यशीलता।
(३) निरन्तरता।
(४) अभ्यास।

(१) संकल्प की दृढ़ता—जब तक मनुष्य में काम करने का दृढ़ विचार न होगा तब तक वह कार्य करने में न जुटेगा और इस तरह आदत नहीं बन सकती। यदि कोई पढ़ना चाहे पर पढ़ने के लिए हमेशा आज या कल करता रहे तो उसे पढ़ने की आदत न पड़ेगी। पढ़ने का दृढ़ निश्चय कर यदि कार्य शुरू कर दिया जाय तो बार प्रयास पर शनैः शनैः आदत बन जाएगी।

(२) कार्यशीलता—दृढ़ संकल्प कर लेने के बाद मनुष्य को उस कार्य के करने में तुरन्त जुट जाना चाहिए। अतः यदि जल्दी उठने की आदत डालनी हो तो दृढ़ संकल्प कर जल्दी उठना प्रारम्भ कर देना चाहिए। केवल ऊँचे आदर्शों के रखने मात्र से कार्य नहीं चलता। ऊँचे आदर्शों को जीवन में डालने का दृढ़ संकल्प कर उसका कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए।

(३) निरन्तरता—जब कार्य को प्रारम्भ कर दिया गया है तो उसे छोड़ न देना चाहिए। आदत काम के बार-बार करने से ही बनती है। अतः कार्य को प्रारम्भ कर छोड़ देने पर आदत नहीं बन पाती। सूर्योदय से पूर्व उठने का दृढ़ संकल्प कर किसी ने उठना प्रारम्भ कर तो दिया पर २ या ४ रोज उठने के बाद यदि उसमें शिथिलता आ गई तो फिर जल्दी उठने की आदत नहीं बनती। कार्य को नियमपूर्वक करते रहना चाहिए।

(४) अभ्यास—आदत अभ्यास का ही फल है। अतः आदत बनाये रखने के लिए प्रतिदिन उसका अभ्यास करते रहना चाहिये। अभ्यास छूटने पर आदत भी छूट जाती है।

बालक और आदतें—मानव-जीवन का विकास उसकी आदतों पर निर्भर है। बाल्यावस्था ही आदतें डालने का समय है। जिन आदतों के अंकुर बाल्यावस्था में हो जाते हैं वे मनुष्य का जीवनपर्यन्त साथ देती हैं। बालक में अच्छी आदतें होने से उसका मनुष्य-जीवन सफल होगा अन्यथा बुरी आदतें होने पर जीवन कष्टों से भरपूर हो जाता है। यदि बाल्यावस्था में ही चोरी की आदत बन जाती है तो वह जीवन में कुख्यात चोर या डाकू बनता है। यह आदत फिर छूटना मुश्किल हो जाता है।

बालक को जैसा चाहें वैसा बनाया जा सकता है। पर प्रौढ़ व्यक्ति का बदलना बड़ा कठिन है। अतः माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक सभी का कार्य यह है कि वे बालक में अच्छी आदतें उत्पन्न करने का प्रयत्न करें। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि बालकों को आदत का दास न बना दिया जाय। आदतों का स्वामी होना सुखकर है पर दास होना दुःखकर। अतः बाल्यावस्था से ही अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

फ्रांस के विद्वान रूसो का मत है कि बालक में हमें आदतें नहीं डालनी चाहिएँ। क्योंकि आदतें मनुष्य को अपना दास बनाये बिना नहीं रहतीं। पर यह सम्भव नहीं। बालक आदत डाले बिना नहीं रह सकता और माता-पिता, शिक्षक उस पर ध्यान न दें तो उसमें बुरी आदतें घर कर सकती हैं। अतः बाल्यावस्था से ही बालक में अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न करना चाहिए।

अच्छी आदतें डालने के उपाय—(१) बाल्यावस्था में ही अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि एक बार पड़ी हुई आदत स्थायी बन जाती है।

(२) अच्छी आदतों का नियमपूर्वक पालन करना चाहिए क्योंकि बहुत समय तक छोड़ देने से आदत अपने आप छूट जाती है।

(३) अच्छी आदत डालने के लिये बालकों से क्रिया इस प्रकार कराई जाय कि वह उनको सुखकर और सन्तोषप्रद हो जैसे सूर्योदय से पूर्व उठने की आदत डालने के लिए बच्चे को प्रातः उठने के लिए डाँटना डपटना शुरू किया अथवा जबरदस्ती बैठा दिया तो बालक का मन दुःखी होगा और आदत न बन सकेगी। अतः सूर्योदय से पूर्व उठाकर उन्हें प्रातः भ्रमण को ले जाया जाय अथवा व्यायाम कराया जाय और खेलने में लगाया जाय तो वे प्रसन्न रहेंगे और प्रातः शीघ्र उठने की आदत पड़ जायगी।

(४) बालकों की मूल प्रवृत्तियों और स्थायी भावों ही से आदतों का सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। इसमें बालकों के नियम भंग की सम्भावना न रहेगी।

(५) माता पिता, शिक्षक आदि को भी अपने में अच्छी आदतें रखनी चाहियें ताकि बालक भी अच्छी आदतें सीख सकें।

बुरी आदतें छुड़ाने का उपाय—प्रायः बालक हानिकारक आदतें सीख लिया करते हैं। अतः उनको दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय प्रयोग में लाने चाहियें :—

(१) हानिकारक आदत को दूर करने के लिए दमन का उपयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग से उनकी मानसिक ग्रन्थि जटिल हो जाती है।

(२) उन कारणों को दूर करना चाहिये जिन कारणों से बुरी आदत उत्पन्न हुई है। जैसे अध्यापक की मार के भय से विभिन्न कार्य की नकल कर ले जाना। ऐसे समय में अध्यापक को मारना छोड़कर उसकी कठिनाई को दूर करना चाहिए।

(३) बुरी आदत के प्रति घृणा उत्पन्न कर देनी चाहिये। अच्छी आदत की प्रशंसा करते रहने से बालक अच्छी आदतें डालने लगेगा।

(४) बुरे स्वभाव को छोड़कर अच्छे स्वभाव को प्रारम्भ कर उसमें निरंतरता व अभ्यास बनाये रखना चाहिये—जैसे, बालक यदि गन्दा लिखता है तो उसे पास बिठा कर साफ लिखने की आदत का प्रारम्भ कराना चाहिए।

(५) बुरे स्वभाव को छोड़ देने पर फिर वापस पड़ने का मौका नहीं देना चाहिए। जैसे, कोई व्यक्ति तम्बाकू, शराब पीना छोड़कर फिर प्रारम्भ कर दे तो यह ठीक नहीं।

(६) बच्चे की बुरी आदत की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। जैसे, बालक को अपनी कमीज की आस्तीन से नाक साफ करते देखकर अथवा स्लेट को थूक से साफ करते देखकर उसे टाल जाना ठीक नहीं।

(७) बुरी आदतें छुड़ाने के लिए दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि जब तक दण्ड का भय होगा तब तक बुरी आदत से बालक दूर रहने का प्रयत्न करेगा पर दण्ड का भय मिटते ही उसी कार्य को करने लग जाता है।

(८) बुरे स्वभाव से बचाने के लिए बालक की संगति सुधारना चाहिए क्योंकि वातावरण के प्रभाव से आदतें दृढ़ बनती हैं। जैसा वातावरण होगा वैसी आदतें पड़ेंगी।

(९) बुरे स्वभाव को छुड़ाने के लिए बालकों को उससे होने वाली हानियों को समझा देना चाहिये। फिर उनसे बुरी आदत छोड़ने का दृढ़ निश्चय करा कर कार्य शुरू कर देना चाहिए।

आदतें और बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा जीवन की शिक्षा है और जीवन के माध्यम द्वारा शिक्षा है। अतः ऐसी शिक्षा का उद्देश्य मानव-जीवन का नैतिक-सामाजिक विकास है। अतः यह शिक्षा बालक मे प्रारम्भ ही से नैतिक भावनायें भरने का प्रयत्न करती है। इसके द्वारा बालकों में समय का मूल्य समझना, स्वच्छ रहना, सच बोलना आदि आदतें आसानी से जमाई जा सकती हैं। कक्षा में रचनात्मक कार्य के समाप्त होते ही शरीर की सफाई, कक्षा के कमरे की सफाई, कूड़े-करकट को यथास्थान डालना आदि आदतें इस शिक्षा का अंग हैं। यही नहीं, बालक में प्रारम्भ से ही अपनी रोटी सन्मार्ग पर चलते हुए कमाने की आदत का विकास किया जाता है। जिससे बालक भावी जीवन में अपने पड़ोसियों के कन्धे का भार न बन सके। अपनी रोटी को अपने ही पसीने के कमाने की आदत बालक में उत्पन्न की जाती है।

बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को चाहिये कि वह बालकों मे अच्छी आदतों के निर्माण के लिए आदतों के नियमों को पूरी तरह से प्रयोग मे लाने का प्रयत्न करे। अच्छी आदतें उत्पन्न करने के उपायों को उपयोग में लावे। जैसे पाठशाला में समय पर आने की आदत उत्पन्न करने के लिए वह स्वयं भी समय पर आवे तथा इसके साथ ही बालकों को भी समय पर आने के लिए उत्साहित करता रहे। जो बालक देर से आया करते हों उनकी कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न करे।

अच्छी आदतों के निर्माण के लिए तत्सम्बन्धी स्थायी भाव का विकास करना

चाहिए। बुनियादी शिक्षा के शिक्षक को आदत और स्थायी भाव में सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। तभी वह आसानी से जड़ जमा सकती है। और इस प्रकार बालक का चरित्र अच्छा बन सकता है।

रूढ़िवादी शिक्षा बालकों में शारीरिक परिश्रम की आदत नहीं डालती। रूढ़िवादी शिक्षा का छात्र किसान होते हुए भी पढ़कर खेती नहीं करना चाहता। कारण यह है कि रूढ़िवादी शिक्षा ने उसको शारीरिक परिश्रम करने का आदी नहीं बनाया। पर बुनियादी शिक्षा छात्र में शरीर के द्वारा परिश्रम करने की आदत डालती है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा का अध्यापक बालकों में अच्छी आदतों का विकास करने में अधिक सफल हो सकता है।

सारांश

आदत का रूप—आदतें मनुष्य की अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें मनुष्य अभ्यास से सीखता है और जो मशीन की तरह एक सा उत्तर देती हैं।

आदतों और मूल प्रवृत्तियों में अन्तर—मूल प्रवृत्तियों को जन्म-जात आदतें कहा जा सकता है पर आदतें मनुष्य के स्वयं के द्वारा निर्मित की जाती हैं।

आदतों की व्यापकता—एक बार आदत पड़ जाने पर छूटना कठिन हो जाता है। आदतें मानव जीवन का नियंत्रण करती है।

आदतों की विशेषतायें—(१) आदतें शनैः-शनैः बनती हैं। (२) पड़ी हुई आदत बहुत धीरे-धीरे मिट सकती है। (३) आदतें समय और शक्ति का बचाव करती हैं। (४) बुरी आदतें कठिनाई उत्पन्न करती हैं। (५) बहुत समय तक प्रयोग में न ली जाने वाली आदत मिट जाती है। (६) अनुकरण के कारण अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की आदतें पड़ जाती हैं। (७) बुरी आदतें अच्छी आदतों के जमने में बाधक होती हैं। (८) आदतों के कार्य यन्त्रवत् होते हैं। (९) स्टाउट महाशय ने आदतों के चार लक्षण बतायें हैं—(अ) समानता, (आ) सुगमता, (इ) रोचकता, (ई) ध्यान स्वातंत्र्य।

आदत के प्रकार—एक विचारधारा के अनुसार आदतें अच्छी और बुरी होती हैं। दूसरी विचारधारा आदतों का व्यक्तिगत और सामाजिक विभाजन करती है। तीसरी विचारधारा आदतों को शारीरिक, मानसिक, आचारिक भागों में विभाजित करती है।

आदत के नियम—विलियम जेम्स ने आदतों के चार नियम बताये हैं—(१) संकल्प की दृढ़ता—काम करने का अर्थात् आदत पटकने का दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये, (२) कार्यशीलता—दृढ़ संकल्प करते ही कार्य आरम्भ कर देना चाहिए, (३) निरन्तरता—कार्य प्रारम्भ कर उसे नियमित रूप से निरन्तर करते रहना चाहिए, (४) अभ्यास—नियमित अभ्यास जारी रखना चाहिए।

बालक और आदतें—बाल्यावस्था ही आदतों के निर्माण का शुभवसर है।

अतः इस अवस्था में माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक, आदि को बालक में अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न करना चाहिए।

अच्छी आदतें डालने के उपाय—(१) बाल्यावस्था में ही अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न करना चाहिए। (२) अच्छी आदतों का नियमपूर्वक अनुसरण करना चाहिए। (३) सुखकर क्रियाओं से ही अच्छी आदतें बन सकती हैं। (४) बालकों की मूल-प्रवृत्तियों और स्थायी भावों से ही आदतों का सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। (५) माता-पिता शिक्षक आदि को अपने में अच्छी आदतें रखनी चाहियें।

बुरी आदतें छुड़ाने के उपाय—(१) दमन का उपयोग नहीं करना चाहिए। (२) बुरी आदतें बनाने वाले कारणों को दूर करना चाहिए। (३) बुरी आदतों के प्रति घृणा उत्पन्न कर देनी चाहिए। (४) अच्छे स्वभाव को प्रारम्भ कर उसकी निरंतरता रखनी चाहिए। (५) बुरे स्वभाव को छोड़कर पुनः न जमने देना चाहिए। (६) बालक की बुरी आदतों को तत्काल रोकना चाहिए। (७) बुरी आदत को छुड़ाने के लिए दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (८) बालक की संगति सुधारनी चाहिए। (९) बुरे स्वभाव की हानियों से बालक को परिचित करना चाहिए ताकि वह स्वयं उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करे।

आदतें और बुनियादी-शिक्षा—बुनियादी शिक्षा मानव-जीवन का नैतिक-सामाजिक विकास करने के लिए अच्छी आदतों का बालक में निर्माण करती है। बालक में अपनी जीविका कमाने की आदत डालती है। शारीरिक परिश्रम का आदी बनाती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) आदत से क्या तात्पर्य है? आदतें कितने प्रकार की होती हैं?

(२) बालक के जीवन में आदतों का क्या स्थान है? अच्छी आदतें डालने के लिए अध्यापक किन-किन बातों का अनुसरण करेगा?

(३) बुरी आदतों को छुड़ाने के कौन-कौन से उपाय हैं?

(४) बुनियादी-शिक्षा अच्छी आदतों के निर्माण में कहाँ तक सफल हो सकती है?

—:o:—

अध्याय ४

चरित्र-गठन

शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य चरित्र गठन भी है। वास्तव में चरित्र ही मनु के जीवन की सबसे मौलिक वस्तु है। अतः चरित्र-गठन को ही शिक्षा की सीढ़ मानते हैं। चरित्रवान् व्यक्ति समाज में पूज्य होता है। चरित्रहीन व्यक्ति जीवन असफल माना जाता है। चरित्र के अभाव में मनुष्य की जीवन नौका डगमगा रहती है।

चरित्र का स्वरूप—चरित्र की इतनी महत्ता स्वीकार कर लेने पर भी चरि के स्वरूप को अंकित करने में मनोवैज्ञानिकों के भिन्न मत हैं। चरित्र का स्वरू अंकित करने के लिए जिन भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है वे इ प्रकार हैं :—

"चरित्र केवल आदतों का समूह है।"

"आत्म-सम्मान स्थायी भाव का ही दूसरा नाम चरित्र है।"

"चरित्र का अर्थ है मनुष्य का स्थिर और नियमित व्यवहार।"

"चरित्र जन्मजात मूल-प्रवृत्तियों और अर्जित प्रवृत्तियों अर्थात् आदतों का समूह है।"

"चरित्र में व्यक्ति का स्वभाव, उसके विचार, उसकी रुचियाँ, उसकी बुद्धि का विकास, उसकी इच्छा-शक्ति, उसके स्थायी भाव और उसका आत्म-सम्मान सम्मिलित है।"

"चरित्र संगठित आत्मा है—हमारी मूल-प्रवृत्तियों तथा भावनाओं का मुख्य भावना से संगठन है।"

इस प्रकार विभिन्न परिभाषाओं के व्यक्त करने पर यह स्पष्ट है कि चरित्र मनुष्य की ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक प्रवृत्तियों के सम्मिलित रूप का नाम है। चरित्र विभिन्न विशेषताओं का योग मात्र होता है और जो नैतिकता पर आधारित होता है।

चरित्र का आदर्शों और स्थायी भावों से सम्बन्ध—चरित्र को आदर्शों का समूह कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि चरित्र जन्मजात नहीं है क्योंकि आदर्श तो अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं। अतः अच्छे आदर्शों वाले व्यक्ति का चरित्र अच्छा होगा और बुरे आदर्शों वाले का चरित्र बुरा होगा। चरित्र की यह विशेषता होती है कि यह मनुष्य को विभिन्न परिस्थितियों में ठीक कार्य कर सकने के लिए मार्ग सुझाता है। इस तरह जिस व्यक्ति के परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढालने की जितनी क्षमता होगी उतना ही वह चरित्रवान् समझा जायेगा। उदाहरणार्थ हम देखते,

चोरी न करने, ईमानदारी रखने वाला व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में सफलता से बढ़ता जायेगा तो उसे चरित्रवान् कहा जायेगा।

परन्तु मेकडूगल के मतानुसार चरित्र पर आदतों का प्रभाव नहीं पड़ता, वरन् उसका कथन है कि मनुष्य स्थायी भावों के अनुसार ही कार्य करता है। आदत के अनुसार मनुष्य यंत्रवत् कार्य करेगा पर हमेशा ही यह नहीं होता। नित्य नई उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य को कार्य करना पड़ता है। अतः यदि मनुष्य आदतों के अनुसार यन्त्रवत् कार्य करता रहे तो सफल नहीं हो सकता। उसकी परिस्थितियों को सुलझाने का मार्ग-दर्शन उसके स्थायी भाव ही करते हैं। अतः चरित्र को स्थायी भावों का समूह ही कहना चाहिये। इन स्थायी भावों में भी आत्म-सम्मान स्थायी भाव ही को चरित्र कहना चाहिए क्योंकि जो आत्म-सम्मान के मूल्यों को नहीं समझता वह चरित्र की चिन्ता नहीं करेगा।

चरित्र का आधार—मनुष्य में विविध गुणों का ठोस संगठन होने पर ही उसमें चरित्र की महानता आ सकती है। इनमें से कुछ ये हैं :—

१. **आत्मशक्ति**—अपने लक्ष्य की ओर दृढ़ता से अग्रसर होना ही चरित्र की सर्वप्रथम विशेषता है। बाधाओं के आने पर भी आत्मशक्ति के साथ निश्चित मार्ग पर बढ़ते रहना ही चरित्र का लक्षण है। वीर पुरुषों के जीवन काल में यही देखा जाता है। राम दृढ संकल्प थे "प्राण जाय पर वचन न जाई।" उनके जीवन की विशेषता थी। शिवाजी, राणा प्रताप दृढ़ प्रतिज्ञ थे।

जब मन में दो कार्यों के करने के बीच द्वन्द्व उपस्थित होता है तो उसकी आत्म-शक्ति ही उसका मार्ग निश्चय करती है। जैसे सिनेमा जाना या पढ़ना में अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होने पर उसकी आत्म-शक्ति ही उसका निर्णय करती है और उसी के अनुसार उसकी शारीरिक मानसिक क्रियायें होती हैं और वे ही उसके चरित्र को प्रदर्शित करती हैं। चरित्रवान् व्यक्ति का निर्णय उसकी आत्मशक्ति के प्रतिकूल नहीं जाता।

(२) **कर्तव्य परायणता**—कर्तव्य को पहचानना तथा उसके अनुकूल कार्य करना ही चरित्र का दूसरा आधार है। मनुष्य अपने निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण करता है। जिसकी आत्मशक्ति दृढ़ होती है और जिसकी बुद्धि विकसित होती है वह कभी अनुचित मार्ग ग्रहण नहीं करता।

ज्ञान वृद्धि और अभ्यास—चरित्र का तीसरा आधार ज्ञान-वृद्धि और अभ्यास है। जिस मनुष्य का ज्ञान जितना अधिक विकसित होगा उसका चरित्र उतना ही गठित होगा, वह सदाचारी होगा। ज्ञान द्वारा वह मार्ग निर्धारित करता है और अभ्यास द्वारा वह कार्य करता है। अतः मानसिक दृढ़ता को कार्यान्वित ज्ञान और अभ्यास के आधार पर किया जाता है।

चरित्र के विकास की अवस्थायें—महाशय ड्रेवर के मतानुसार—चरित्र एक दम से नहीं बन जाता वरन् शनैः शनैः बनता है। इसके विकास की भी अवस्थायें

होती हैं। संवेदन की दृष्टि से चरित्र के विकास की तीन अवस्थायें निर्धारित की गई हैं :—

(१) अपक्व संवेदन की अवस्था।
(२) स्थायी भाव की अवस्था।
(३) आदर्श की अवस्था।

संवेदन की दृष्टि से इन तीनों के क्रम पर चरित्र का विकास होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आदर्श का निर्माण करता है और उसी के अनुसार चलने का प्रयत्न करता है। चरित्र का विकास पूर्णतया आदर्श अवस्था में होता है।

पर ड्रेवर महाशय ने 'ज्ञान' के आधार पर भी चरित्र की अवस्थायें निर्धारित की हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) प्रत्यक्ष अनुभव की दशा।
(२) भावानुभव की दशा।
(३) तर्कानुभव की दशा।

ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के चरित्र की पूर्णता तर्कानुभव की दशा में होती है। मनुष्य में जब तर्क करने की योग्यता आ जाती है और जब वह पूर्ण निश्चय करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तब उसके चरित्र में पूर्णता आ जाती है। जब तक मनुष्य डाँवाँडोल स्थिति में रहता है तब तक उसके चरित्र को अपूर्ण माना जाना चाहिये—जैसे कोई व्यक्ति पहले देश-सेवा करने का विचार करता है, पर मित्रों की सम्मति पर व्यापार करने का विचार करता है, इसे भी छोड़कर नौकरी का विचार करता है और उसे भी न कर कुछ भी निश्चय नहीं कर पाता। ऐसे व्यक्ति का चरित्र अधूरा ही कहा जाएगा।

महाशय मेकडूगल के मतानुसार—महाशय मेकडूगल ने भी चरित्र के विकास की अवस्थाओं का निर्धारण किया है। उन्होंने विकास की चार अवस्थायें बताई हैं :—

(१) सुख-दुःख का अनुभव।
(२) दण्ड एवं पुरस्कार।
(३) प्रशंसा और निन्दा।
(४) आदर्श।

(१) **सुख-दुःख का अनुभव**—चरित्र के विकास की सर्वप्रथम अवस्था सुख-दुःख का अनुभव है। बालक वही कार्य करेगा जो उसको सुखदायक होगा। वह इन्द्रिय संवेदन के द्वारा ही सुख प्राप्त करता है। जैसे, खेलना, मिठाई खाना, वस्तु छीनना आदि। भूख लगने पर रोना, वस्तु को प्राप्त करने के लिए रोना उसकी दुःखदायक अवस्था को प्रकट करती हैं। इस प्रकार बालक सुख-मूलक कार्यों ही को करने में प्रवृत्त रहता है। महाशय ड्रेवर ने इसी अवस्था को 'अपक्व संवेदन की अवस्था' तथा 'प्रत्यक्ष अनुभव की दशा' कहा है।

(२) **दण्ड एवं पुरस्कार**—शनैः शनैः बालक की बुद्धि का विकास होता है और वह मन ही मन इस प्रकार के निर्णय करने लगता है कि अमुक कार्य से पुरस्कार मिलेगा और अमुक कार्य से दण्ड। यदि पढ़ेगा तो परीक्षा में पास होकर पुरस्कार प्राप्त करेगा। यदि पाठशाला नहीं जायगा तो दण्ड मिलेगा। यदि झूठ बोलेगा तो दण्ड मिलेगा। इस प्रकार कार्य करने में पुरस्कार प्राप्त करने की भावना दृढ़ होती है। पर यदि यह पुरस्कार प्राप्ति की भावना प्रगाढ़ रूप से जम जाती है तो बालक को दुखदायी होती है। अतः माता-पिता और शिक्षक को इस प्रकार की भावना को अधिक जमने न देना चाहिए। ऐसे बालकों का चरित्र स्वार्थी बन जाता है।

(३) **प्रशंसा और निन्दा**—चरित्र-विकास की तीसरी अवस्था प्रशंसा और निन्दा है। दण्ड और पुरस्कार की अवस्था घर तथा पाठशाला तक सीमित थी। केवल माता-पिता या पाठशाला ही से वह दण्ड और पुरस्कार प्राप्त कर सकता था। पर अब उसकी बुद्धि यह सोचने लगती है कि ऐसे कार्य पर समाज क्या कहेगा? लोग क्या कहेंगे? अत. वह आत्म-सम्मान के रूप में सोचने लगता है। प्रशंसा मिलते रहने पर वह और भी मन लगाकर कार्य करता है। निन्दा होने पर उसका मन उदासीन हो जाता है। अतः माता-पिता, शिक्षक आदि को बालक के अच्छे कार्यों की प्रशंसा करनी चाहिए तथा बुरे कार्य की निन्दा कर भविष्य में न करने के लिए सचेत करना चाहिए। ड्रेवर महाशय के अनुसार इस अवस्था को "स्थायी भाव की अवस्था" तथा "भावानुभव की दशा" कहा गया है।

(४) **आदर्श**—चरित्र के विकास की चौथी अवस्था आदर्श निर्माण की अवस्था है। जब बालक के आत्म-सम्मान का स्थायी भाव स्थान ग्रहण कर लेता है तो वह आदर्श का रूप धारण कर लेता है। वह अपने ही तर्क के आधार पर उन आदर्शों का परीक्षण करके पालन और प्रसार में सम्मान का अनुभव करता है। आदर्शों ही को अपनाकर वह समाज हितैषी बनता है। जो व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से समाज सेवा करता है उसका चरित्र श्रेष्ठ कहा जाता है। अतः शिक्षक को चाहिए कि बालक में आत्म सम्मान का स्थायी भाव उत्पन्न कर उनके सामने ऐसे आदर्श रखे कि बालक देश सेवा में पूर्णतः संलग्न हो जाये। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना बालकों में उत्पन्न कर उनमें बन्धुत्व उत्पन्न किया जा सकता है। इस अवस्था को ड्रेवर महाशय ने भी "आदर्श की अवस्था" या "तर्कानुभव की दशा" कहा है।

चरित्र-गठन के साधन—बाल्यावस्था से ही बालकों के चरित्र-गठन की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। बालकों के सम्मुख ऐसी सामग्री उपस्थित न की जानी चाहिए कि जिनके आधार पर बालक का चरित्र सबल न बन सके। बालकों में अच्छे संस्कार डालने पर ही उनका चरित्र अच्छा बन सकता है। अध्यापकों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। वे शिक्षा में ऐसे साधनों का प्रयोग कर सकते हैं जो बालकों में चरित्र के विकास की दृष्टि से सहायक हों। इनमें से कतिपय साधनों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

(१) कथायें—बालकों को कहानी सुनने का बड़ा चाव होता है। कहानियों के आधार पर ही बालकों में भय, घृणा, कायरता, वीरता, स्वार्थ, देश-सेवा आदि सद्गुण और दुर्गुण दोनों ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। कहानियों के सुनने पर ही उनके चरित्र का विकास होता है। शिवाजी को उनकी माता वीरों की कहानियाँ सुनाया करती थीं। अतः बालकों को ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिएँ जिससे बालक वीर, देश-सेवी, कर्तव्यपरायण और परोपकारी बनें।

(२) इतिहास व वीर पूजा—*इतिहास का अध्ययन भी चरित्र-गठन का एक साधन है। बालकों में विचारशक्ति तथा विवेचनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाने पर वे मनुष्य के भले-बुरे कार्यों का विश्लेषण करने लगते हैं और अपना निर्णय देने लगते हैं जिससे उनका स्वयं के आदर्शों का निर्माण होकर चरित्र गठन होता है।* इसी प्रकार वीर पुरुषों की पूजा भी चरित्र-गठन में बड़ा महत्व रखती है। शालाओं में वीर पुरुषों की जयन्तियाँ मनाना लाभदायक होगा। प्रत्येक बालक का अपना एक नेता होता है, जिसके गुणों से वे प्रभावित रहते हैं। अतः बालकों की इस वीर पूजा प्रवृत्ति से उनके चरित्र-गठन में लाभ उठाना चाहिए।

(३) अच्छी आदतों का निर्माण—बालकों में अच्छी आदतें उत्पन्न करनी चाहियें। अनुकरण और निर्देश के आधार पर उत्पन्न की गई अच्छी आदतें चरित्र-निर्माण का साधन होती हैं।

(४) रुचियों का विकास—महाशय हरबार्ट का कथन है कि ज्ञान रुचि उत्पन्न करता है और रुचि कार्य-संलग्नता उत्पन्न करती है। कार्य-संलग्नता आदत का निर्माण करती है और आदतें ही चरित्र को गठित करती हैं। अज्ञानी पुरुष में रुचि उत्पन्न न होगी जिससे वह कार्यरत न होगा और इस प्रकार न आदत ही बनेगी और न चरित्र का निर्माण ही हो सकेगा। मूर्ख व्यक्ति कदापि सद्गुणी नहीं हो सकता। *जिस बालक का ज्ञान जितना ही विस्तृत होगा उसकी रुचि उतनी ही विकसित होगी जिससे उसका चरित्र उज्ज्वल बनेगा। अतः बालक में ज्ञान एवं रुचि उत्पन्न करनी चाहिए।*

(५) प्रोत्साहन—*प्रोत्साहन का अभाव जीवन को निराशावादी बना देता है और समय-समय पर प्राप्त प्रोत्साहन जीवन में मौलिक गुणों का विकास करता है।* प्रोत्साहन के अभाव में कार्य से मुँह मोड़ने की इच्छा प्रबल हो जाती है। अतः बालकों को उनके कार्य के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। इसके विपरीत यदि बालक को भर्त्सना दी जायगी, उसे धिक्कारा जाएगा तो वह निराशावादी निरुत्साही और कायर बन जाएगा। अतः बालकों को यथानुकूल प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

(६) आत्मनियन्त्रण—भारतीय संस्कृति में मन को वशीभूत करने की बड़ी महत्ता है। मन बड़ा चपल है और जो बिना सोचे-समझे मन के घोड़े पर सवार हो जाता है वह जीवन में बड़ा कष्ट उठाता है। अतः मन को वशीभूत करने के लिए

आत्म-शक्ति का विकास बालकों में किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। आत्म-शक्ति द्वारा ही बालक का चरित्र विकसित किया जा सकता है। मान लीजिए बालक के बाजार में अपने मिठाई दिखाई। बालक का मन तत्काल खड़े-खड़े या बाजार में चलते-चलते खाने को लालायित हो उठता है। उस समय पिता का यह कर्त्तव्य है कि बालक के मन को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करे। जिस बालक में मन को नियन्त्रण में रखने की विशेषता आ जाती है उसका चरित्र विकसित बनता है, सभ्यता तथा अन्य गुण भी उसमें आ जाते हैं।

(७) **चित्रपट का प्रयोग**—बालकों के चरित्र-निर्माण में विज्ञान की आधुनिक देन चित्रपट का भी बहुत बड़ा हाथ है। चित्रपट बालक के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं। आधुनिक चित्रपट की कहानियाँ देखकर बालकों के भाव संवेदन व संवेग इतनी तेजी से जाग उठते हैं कि उन्हें वह नियन्त्रित नहीं कर सकता। बालकों की चित्रपट देखने की इच्छा का उनके चरित्र-निर्माण में सदुपयोग होना चाहिए। ऐसे चित्रों का निर्माण किया जाना चाहिए जो बालकों के लिए बड़े उपयोगी हों।

चरित्र-गठन एवं बुनियादी शिक्षा—यद्यपि चरित्र-गठन शिक्षा का एकाकी उद्देश्य है परन्तु शिक्षा का उद्देश्य केवल चरित्र-गठन मान लेने पर उसकी जीविका उपार्जन और शारीरिक गठन की उपेक्षा ही लक्षित होगी। फिर भी यह आवश्यक है कि शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में से चरित्र-गठन भी एक है। बुनियादी शिक्षा इस चरित्र-गठन के लक्ष्य की पूर्ति कहाँ तक करती है।

बुनियादी शिक्षा का शिक्षक बालकों को पूर्ववर्णित लकीर पर ही चलने को प्रेरित न करेगा वरन् शिक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर वह बालकों को स्वयं-निर्माण में प्रोत्साहित करेगा और इसी के आधार पर उनके चरित्र को बनाने का प्रयत्न करेगा।

प्रत्येक बुनियादी पाठशाला का यह कर्त्तव्य है कि चरित्र प्रशिक्षण की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देवे। इस हेतु वह अपनी परम्परा ही ऐसी बनाये जिसमें चरित्र का विकास हो। जैसे बालकों का उद्योग-कार्य करते समय उसमें दत्तचित्त रहना, उद्योग-कार्य के अनुकूल वेषभूषा पहनकर आना, उद्योग-कार्य के समाप्त होते ही सफाई आदि का कार्य। इसके साथ ही 'सामूहिक जीवन' द्वारा बुनियादी शिक्षा चरित्र-निर्माण में अत्यधिक सफल हो सकती है। बुनियादी पाठशाला का वातावरण ही ऐसा बनाया जाना चाहिए कि सभी बालक अपने आपको एक ही परिवार के सदस्य मानें। उन्हें ऐसा प्रतीत हो कि केवल भोजन ही वे अपने घरों पर अलग-अलग करने जाया करते हैं अन्यथा उनके खेल, उनका अध्ययन, उनका लिखित कार्य, उनके सांस्कृतिक कार्य सब ऐसे हैं जैसे किसी एक ही परिवार के बालकों के होते हैं।। बुनियादी पाठशाला इस प्रकार का वातावरण उपस्थित कर बालकों में परस्पर सहयोग, संगठन, स्वार्थहीनता आदि गुणों का विकास कर सकती है जो बालक के चरित्र-विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

बुनियादी शिक्षा का शिक्षक अपने प्रभाव द्वारा बालकों में आवश्यक, वृहद्, व्यक्तिगत तथा सामाजिक महत्ता की भावनाओं का पोषण करने में सफल हो सकता है। ये भावनायें संगठित होकर संतोषजनक चरित्र में प्रतिफलित होती हैं। स्वावलम्बी चरित्र का निर्माण बुनियादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है।

सारांश

चरित्र का स्वरूप—मनुष्य की ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक वृत्तियों के सम्मिलित रूप का नाम ही चरित्र है। इसमें विविध विशेषताओं का ठोस संगठन होता है और जो नैतिकतामूलक है।

चरित्र का आदतों और स्थायी भावों से सम्बन्ध—चरित्र को आदतों का समूह माना गया है अर्थात् चरित्र अर्जित प्रवृत्तियों का समूह मात्र है। पर मेकडूगल महाशय का कथन है कि आत्म-सम्मान स्थायी भाव ही का दूसरा नाम चरित्र है।

चरित्र का आधार—(१) आत्म-शक्ति ही चरित्र का प्रमुख लक्षण है। आत्म-शक्ति जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को निपटाती है। (२) कर्तव्य-परायणता—कर्त्तव्या-कर्तव्य को पहचान कर कार्य करना ही चरित्र का दूसरा आधार है। (३) ज्ञान-वृद्धि और अभ्यास—ज्ञान के विकास का सहगामी चरित्र का विकास है।

चरित्र के विकास की अवस्थायें—महाशय ड्रेवर ने संवेदन की दृष्टि से विकास की ३ अवस्थायें बताई हैं—(१) अपक्व संवेदन की अवस्था, (२) स्थायी भाव की अवस्था, (३) आदर्श की अवस्था। साथ ही ज्ञान के आधार पर चरित्र की अवस्थायें बताई हैं—(१) प्रत्यक्ष अनुभव की दशा, (२) भावानुभव की दिशा, (३) तर्कानुभव की दशा। महाशय मेकडूगल ने चरित्र विकास की चार अवस्थायें बताई हैं—(१) सुख-दुःख का अनुभव, (२) दण्ड एवं पुरस्कार, (३) प्रशंसा और निन्दा, (४) आदर्श।

चरित्र-गठन के साधन—(१) कथायें, (२) इतिहास व वीर पूजा, (३) अच्छी आदतों का निर्माण, (४) रुचियों का विकास, (५) प्रोत्साहन, (६) आत्म-नियन्त्रण, (७) चित्रपट का प्रयोग।

चरित्र-गठन एवम् बुनियादी शिक्षा—चरित्र-गठन शिक्षा का एकांकी उद्देश्य है। फिर भी चरित्र-गठन शिक्षा द्वारा ही सुलभ है। बुनियादी शिक्षा द्वारा चरित्र-गठन अधिक सरलता से किया जा सकता है। पाठशाला को चरित्र विकास के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित करना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) चरित्र किसे कहते हैं? आदतों और चरित्र के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये।

(२) चरित्र का आधार कौन-कौन सी बातें हैं?

(३) चरित्र-गठन के लिए किन-किन साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए?

(४) बुनियादी शिक्षा रस्मानी शिक्षा की अपेक्षा चरित्र-गठन में कहाँ तक सफल सिद्ध हो सकती है?

—:o:—

अध्याय

बालक का विकास

बालक के विकास की अवस्थायें—बालक का विकास शनैः-शनैः क्रम
होता है। बालक एकायक तरुण अथवा प्रौढ़ नहीं बन जाता। उसके विका
प्रक्रिया ही विभिन्न अवस्थाओं को सूचित करती है। मनोवैज्ञानिकों ने बाल
विकास की चार अवस्थायें मानी हैं :—

(१) शैशवावस्था या कुमारावस्था—जन्म से ५ वर्ष की आयु तक।
(२) बाल्यावस्था या पौगडावस्था—बारह वर्ष की आयु तक।
(३) किशोरावस्था या तरुणावस्था—अठारह वर्ष की आयु तक।
(४) प्रौढ़ावस्था—अठारह वर्ष से आगे की आयु।

स्टेनले हाल का मनोविकास का सिद्धान्त—महाशय 'हाल' ने बालक के वि
के लिए महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर किया है। उनके कथानुसार बालक आधुनि
सभ्यता के विकास तक उन सभी अवस्थाओं में से गुजरता है जिनमें से गुजर
मानव आधुनिकतम सभ्यता तक पहुंचा है। अर्थात् मनुष्य जाति के विकास की
अवस्थाओं को बालक अपने जन्म से लगाकर प्रौढ़ावस्था तक दुहरात
उदाहरणार्थ—मानव जाति की बर्बर अवस्था, जंगलीपन, मत्स्ययुग, उत्तर-पा
काल, पाषाण-काल और तत्पश्चात् धातु-काल आदि क्रमानुसार विकास की
अवस्थायें बालक में देखने को मिलती हैं। क्रोध में आकर बालक का मुंह से क
नोचना, बर्बर अवस्था प्रदर्शित करता है। शैशवावस्था में यह अधिक होता है
पत्थर फेंकना या लकड़ी से मारना पाषाण-काल की प्रवृत्ति का द्योतक है। यह ब
वस्था में होता है। धातु के टुकड़ों का संकलन, उनका तोड़ना-फोड़ना, नई वस्तु को
की इच्छा रखना यह धातु-काल के विकास का द्योतक है। यह प्रवृत्ति किशोराव
पाई जाती है और इसके बाद आधुनिक काल की वर्तमान सभ्यता में यह प्रौढ़ा
में पहुँच जाता है।

विकास का यह क्रम प्रत्येक बालक के जीवन में देखने को मिलता है।
अवस्था से बालक गुजर रहा होगा उसके अनुकूल मानव-विकास की अवस्था के ह
उसमें दृष्टिगत होंगे। अतः यदि समय के पूर्व ही बरबस बालक को विचा
बनाने का प्रयत्न किया जायेगा तो वह स्फूर्तिवान् न होकर मन्द बुद्धि हो जाये
बालक के मनोविकास के क्रम में किसी प्रकार की अवहेलना करना उसके प्रति अ
करना है।

डाक्टर अर्नेस्ट जोन्स का सिद्धान्त—दूसरा सिद्धान्त जोन्स महाशय का

इनके मतानुसार मन का विकास प्रेम तथा काम प्रवृति के विकास के साथ-साथ होता है। प्रत्येक प्रेम-प्रदर्शन करने वाली क्रिया में काम प्रवृत्ति रहती है।

इन चारों अवस्थाओं के अनुकूल जोन्स महाशय ने प्रेम-प्रदर्शन की चार अवस्थायें बताई हैं :—

(१) प्रथम अवस्था—इस अवस्था में बालक का प्रेम अपने ही शरीर के प्रति होता है। उसका अंगूठा चूसना, अंगुलियाँ मुंह में चूसना उसके शरीर के प्रति मोह भावना का प्रदर्शन है। इस अवस्था को 'नार्सिसीज्म' कहा गया है। ग्रीस देश की एक जनश्रुति प्रचलित है कि नार्सिस नाम का एक बालक तालाब में अपनी परछाईं देख कर उस पर मोहित हो गया। परछाईं वाले सुन्दर बालक को उसने बुलाने की बहुत चेष्टा की परन्तु उसके न आने पर चिन्ताग्रस्त होकर उसने अपने प्राण खो दिये। अतः आत्ममोह की अवस्था का नाम नार्सिसीज्म रक्खा गया। इसके अनुसार शैशवावस्था में अपने शरीर के प्रति मोह होता है।

(२) द्वितीय अवस्था—बाल्यावस्था में प्रेम का विकास माता-पिता के प्रति हो जाता है। इस अवस्था में पुत्र का प्रेम माता के प्रति और पुत्री का प्रेम पिता के प्रति अधिक होता है। यदि कोई बालक या बालिका के इस प्रेम में बँटवारा करने का प्रयत्न करे तो उसे उससे ईर्ष्या होती है। इसीलिए कुटुम्ब में नये बालक के प्रति पूर्व के बालक ईर्ष्या रखने लगते हैं जबकि वे माता-पिता को नये बालक के प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शित करते हुए देखते हैं।

(३) तृतीय अवस्था—किशोरावस्था में बालक उसी की उम्र के बालकों से प्रेम-भाव स्थापित करता है। यह समलिंग कामुक अवस्था है अर्थात् एक ही लिंग के बालकों में प्रेम होता है। इस अवस्था में त्यागी बनकर अपने मित्र के लिए सब कुछ करने को उद्यत रहता है। साथी न मिलने पर वह अपने काल्पनिक साथी बना लेता है। इस प्रकार यह विकास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण अवस्था है। यही समय बालक के नैतिक और चारित्रिक विकास का अवसर है। मनुष्य के सद्गुणों का स्फुरण इसी काल में होता है। आदर्शवादिता का बीजारोपण इसी काल में होता है।

(४) चतुर्थ अवस्था—यह अवस्था विलिंग कामुकता की है। इसमें विपरीत लिंग के बालकों से प्रेम होता है। लड़के लड़कियों को प्यार करते हैं और लड़कियाँ लड़कों को। यही अवस्था प्रौढ़ावस्था के आगमन की सूचक है। मनुष्य के भावी जीवन की रूपरेखा इसी अवस्था में बनती है।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्येक अवस्था का गहन अध्ययन किया है। अतः प्रत्येक अवस्था के शारीरिक-मानसिक विकास सम्बन्धी मनोवैज्ञानिकों की विचार-धारायें यहाँ दी जाती हैं।

शैशवावस्था—इस अवस्था का अध्ययन महाशय गेज़ल ने बड़ी गम्भीरता से किया है। इस काल में बालक के चार प्रकार के व्यवहारों का उन्होंने प्रदर्शन किया है :—

(१) चेष्टा सम्बन्धी।
(२) भाषा सम्बन्धी।
(३) परिस्थिति के अनुकूल कार्य करना।
(४) वैयक्तिक और सामाजिक।

(१) चेष्टा सम्बन्धी विकास—इससे तात्पर्य है बालक का शारीरिक विकास। बालक का शारीरिक विकास बड़ी तीव्रता से होता है। प्रारम्भ में बालक सीधा लेटा रहता है फिर धीरे-धीरे लुढकने लगता है और लुढ़क कर सिर को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है; फिर हाथ पाँवों के सहारे अपने शरीर को जमीन से ऊपर उठाकर आगे बढता है। आठ मास की अवस्था तक बालक बैठने लग है जाता और फिर एक वर्ष की अवस्था तक सहारा लेकर खड़ा होना व आगे खिसकना प्रारम्भ कर देता है। तात्पर्य यह है कि इस अवस्था मे प्रारम्भिक कार्य शारीरिक विकास से सम्बन्ध रखते हैं।

(२) भाषा सम्बन्धी—प्रारम्भ मे शिशु किसी प्रकार की भाषा का प्रयोग नहीं करता, पर शनैः-शनैः वह अपने परिवार की बोली का अनुकरण करने लगता है। स्मिथ महाशय ने बालको की भाषा सीखने की गति का गहन अध्ययन किया है। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है—

आयु	शब्दों की संख्या
८ मास	०
१ वर्ष	३
२ वर्ष	२७२
३ वर्ष	८९६
४ वर्ष	१५४०
५ वर्ष	२०७२
६ वर्ष	२५६२

इससे यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में विकास की गति बड़ी तीव्र होती है। बालकों का शब्द-भण्डार उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। इस काल के शब्दोच्चारण व भाषा सीखने की शक्ति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बालक प्रतिभाशाली होगा अथवा मन्द बुद्धि क्योंकि मन्द बुद्धि बालक देर मे उच्चारण सीख पाता है। भाषा सीखने की शक्ति पर ही बुद्धि का विकास अवलम्बित है।

(३) परिस्थिति के अनुकूल कार्य करना—इस अवस्था मे बालक की बुद्धि का विकास होता है। जिस वस्तु की उसे चाह होती है, उसे वह येन-केन-प्रकारेण रोकर अथवा माता-पिता को खुश कर प्राप्त कर ही लेता है। यह बात समझने के लिए उसकी बुद्धि पूर्णतः विकसित होती है कि वह वस्तु रोने से प्राप्त हो सकेगी या प्रसन्नता से और इसी के अनुकूल वह कार्य करने लगता है।

(४) वैयक्तिक और सामाजिक विकास—बालक का व्यक्तिगत विकास तो

होता ही रहता है पर साथ ही वह अपने परिवार के लोगों पर आश्रित रहता है। जैसा परिवार होगा उसी के अनुकूल उसका विकास होगा। अतः बालक के अच्छे विकास के लिए उसे नर्सरी स्कूल में भेजा जाना चाहिए। यह देखा गया है कि नर्सरी स्कूल में जाने वाले बालक जब शिशु स्कूल अर्थात् पाठशाला में जाते हैं तो वे अधिक सफल सिद्ध होते हैं, क्योंकि नर्सरी स्कूल में बालक का किसी प्रकार का दमन नहीं होता।

अतः बाल्यावस्था से पूर्व शैशवावस्था में बालक का विकास अनुकूल वातावरण में होना चाहिए ताकि उसमें किसी प्रकार का अभाव न रहे।

बाल्यावस्था—यह अवस्था ६ वर्ष की आयु से १२ वर्ष की आयु तक रहती है। इस अवस्था में सभी प्रकार के विकास होते हैं।

शारीरिक विकास के लिए बालुविन महोदय का कथन है कि बालक के शरीर की ऊँचाई बड़ी तीव्रता से बढ़ती है। उनका बताया हुआ क्रम इस प्रकार है—

आयु	सेन्टीमीटर
जन्म का समय	५२
५ वर्ष की आयु	१०६
६ वर्ष की आयु	१३१
१३ वर्ष की आयु	१५१

आठ वर्ष की अवस्था से प्रायः शरीर की ऊँचाई के विकास की गति स्थिर हो जाती है अन्यथा प्रारम्भ में गति तीव्र होती है। जो बालक बाल्यावस्था में नाटे (छोटे) कद के होते हैं वे आगे भी छोटे कद के रहते हैं और जो बाल्यावस्था में लम्बे होते हैं वे आगे लम्बे कद के हो जाते हैं। लड़कियों की ऊँचाई साधारणतया लड़कों से कम होती है।

मानसिक उन्नति भी बाल्यावस्था में बड़ी तीव्रता से होती है। बराबर उम्र के बालकों के साथ व्यवहार के लिए वह अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है। मित्रों के संकट को दूर करने के लिए सोचने लगता है। उसकी कल्पना-शक्ति जागृत हो जाती है।

जिज्ञासा की मात्रा बड़ी प्रबल होती है। वह नई वस्तुओं को देखकर उनसे परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति इस समय अधिक होती है, जिससे उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। इस अवस्था में बालक बहिर्मुख होता है। बाह्य प्रेक्षण ही उसकी विशेषता होती है।

अनुकरण की प्रवृत्ति तीव्र होती है। इसी के आधार पर वह व्यवहार सीखता है। सामाजिक भावना भी इसी अवस्था में परिवार को छोड़कर विस्तृत सीमा में प्रसार पाती है। पाठशाला में वह सामाजिक व्यवहार सीखता है। बालक का वास्तविक जीवन घर के बाहर प्रारम्भ होने लगता है।

प्रशंसा प्राप्त करने व आत्म-सम्मान की दृष्टि से वह श्रेष्ठता की ओर

ध्यान देने लगता है। भिन्न वर्ग के नियमों का पालन करना उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है।

शिक्षा की दृष्टि से यह अवस्था बालक की प्रारम्भिक अवस्था है। पाठशाला जाकर बालक शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ करता है। वहाँ मित्रों से बातचीत में उसका भाषा-ज्ञान बढ़ता है। बालक की स्वाभाविक चंचलता को शिक्षा में लगाने का अवसर प्राप्त होता है।

किशोरावस्था—यह अवस्था १२ वर्ष की आयु से १८ वर्ष की आयु तक की गिनी जाती है। इस काल में शारीरिक विकास की अपेक्षा मानसिक विकास की तीव्रता अधिक होती है। विलिंग कामुकता जागृत हो उठती है। होलिंग वर्थ ने इस अवस्था का अध्ययन कर इसकी चार विशेषतायें बताई हैं—

(१) स्वतन्त्रता प्राप्ति।
(२) विलिंग कामुकता।
(३) आत्म-निर्भरता।
(४) आदर्श का निर्माण।

(१) स्वतन्त्रता प्राप्ति—इस अवस्था में आकर बालक की परिवार से स्वतन्त्रता प्राप्ति की इच्छा बढ़ जाती है। उसके लिए वह प्रयास करने लगता है। माता-पिता उसे रोकते हैं। इसका परिणाम उल्टा होता है। वह छिप-छिप कर बुरी संगति में पड़ जाता है और माता-पिता उसको इस प्रकार की उच्छृङ्खलता करते देख वैवाहिक बन्धन में बाँध देना चाहते हैं। इसके कई भयंकर परिणाम देखने को मिलते हैं।

(२) विलिंग कामुकता—इस अवस्था में लड़के-लड़कियों में परस्पर सम्बन्ध की इच्छा जागृत हो जाती है। एक-दूसरे को रिझाने के लिए शारीरिक शृङ्गार करते हैं। एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। प्रेम करते हैं। यदि तरुण व तरुणियों दोनों को वांछित प्रेम नहीं मिलता तो उनके मन में ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं और सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ हो जाता है।

(३) आत्म-निर्भरता—इस अवस्था में तरुण माता-पिता पर आश्रित रहते हुए भी यह चाहता है कि वह आत्म-निर्भर हो। वह समाज में अपना स्थान चाहता है। अतः दूसरों की दृष्टि में महत्वपूर्ण बनाने के लिए वह ऐसे ही कार्य करता है। इस किशोरावस्था में ही वह भविष्य के जीवन की रूपरेखा तैयार करता है।

(४) आदर्श का निर्माण—आदर्श की प्राप्ति के लिए तरुण प्रयत्नशील रहता है। वह धर्म की ओर प्रवृत्त होता है अथवा मन्दिर, मस्जिद की ओर जाता है। कभी-कभी वह अन्ध-विश्वास में पड़ जाता है। ऐसे समय में तरुण को नैतिक शिक्षा की आवश्यकता होती है। उनको महापुरुषों के जीवन का अध्ययन कराया जाना चाहिये ताकि उनके आधार पर अपने आदर्शों का निर्माण कर सकें।

प्रौढ़ावस्था—यह अवस्था १८ वर्ष की आयु से प्रारम्भ होती है। पर कई बार

यह देखने को मिलता है कि १८ वर्ष की आयु के बाद भी तरुण अपने आपको प्रौढ़ महसूस नहीं करता। आयु के साथ ही प्रौढ़ता नहीं आती।

प्रौढ़ता में व्यक्ति पूर्णतः आत्म-निर्भर हो जाता है। जिस व्यक्ति में पूर्णतः आत्मनिर्भरता आती है वह प्रौढ़ बन जाता है। प्रौढ़काल पूर्ण विकास का काल है।

बालक का विकास और बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा बालक का पाठशाला प्रवेश ६ वर्ष की अवस्था से ही मानती है। अतः शैशवावस्था से बुनियादी शिक्षा का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है यद्यपि पूर्व-बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं। इसके लिए शिशु-मन्दिर प्रारम्भ किये जाने चाहियें। जहाँ १ वर्ष की आयु से ६ वर्ष की आयु तक के बालक विकास प्राप्त कर सकें। पूर्व-बुनियादी शिक्षा द्वारा भी बालकों को शिशु-मन्दिरों में भेजकर सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक गीत, सामूहिक भोजन, सामूहिक कार्य व खेल आदि के आधार पर उनमें सामाजिक भावना का विकास किया जा सकता है।

जनवरी १९४५ ई० मे सेवाग्राम राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा था :—

"अब हमारा क्षेत्र केवल ७ से १४ वर्ष के बालको तक ही सीमित नहीं है, परन्तु माँ के पेट से बच्चा पैदा होता है उस समय से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक हमारा अर्थात् नई तालीम का क्षेत्र है। बुनियादी शिक्षा जीवन के लिए होनी चाहिये तथा जीवन के साथ उसका सामंजस्य होना चाहिये।"

इस कथन के अनुसार बुनियादी शिक्षा में पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी, विश्वविद्यालयों व बुनियादी तथा प्रौढ शिक्षा का समावेश हो जाता है। अर्थात् यों कहना चाहिये कि बुनियादी शिक्षा में शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था के विकास के लिए क्षेत्र विद्यमान हैं।

बाल्यावस्था का बालक ६ वर्ष उपरात बुनियादी पाठशाला में अध्ययन हेतु प्रवेश करता है। उसको इस समय ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो उसको ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से काम लेना सिखाये। बालक की स्वाभाविक चंचलता का अध्ययन में उपयोग करे। बालक को शारीरिक कार्य करने में प्रवृत्त करे और बुनियादी शिक्षा की पद्धति इन सभी से ओत-प्रोत है।

किशोरावस्था के लिए भी उत्तर-बुनियादी शिक्षा विकास का क्षेत्र उपस्थित करती है। उत्तर-बुनियादी विद्यालय खोले जाकर ऐसे नागरिक उत्पन्न किए जा सकते हैं जिनमें आत्म-गौरव हो, आत्म-सुधार की कामना व श्रम के प्रति श्रद्धा हो और वे आत्मनिर्भरता तथा स्वावलम्बन के पक्षपाती हों। ऐसे विद्यालयों से निकलकर ... प्राप्त तरुण संसार में अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर अवश्य स्वावलम्बी

प्रकार पूर्व-बुनियादी, बुनियादी और उत्तर-बुनियादी शिक्षा बालक की

शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और इन सब पर आधारित प्रौढ़ावस्था के विकास के लिए क्षेत्र उपस्थित करती है।

सारांश

बालक के विकास की अवस्थायें—मनोवैज्ञानिकों ने बालक के विकास की चार अवस्थायें मानी हैं :—

(१) शैशवावस्था, (२) बाल्यावस्था, (३) किशोरावस्था, (४) प्रौढ़ावस्था।

स्टेनलेहाल का मनोविकास का सिद्धान्त—मानवता का विकास प्रत्येक बालक की इन चारों अवस्थाओं में स्पष्ट लक्षित होता है। आदिकाल से मानव को जिन-जिन कालों में गुजरना पड़ा उन सभी कालों की झलक बालक के विकास में उसी क्रम से देखने को मिलती है।

डाक्टर अर्नेस्ट जोन्स का सिद्धान्त—इन चार अवस्थाओं के अनुकूल प्रेम-प्रदर्शन की चार अवस्थायें बताई हैं क्योंकि इनके मतानुसार मन का विकास प्रेम तथा काम-प्रवृत्ति के विकास के साथ-साथ होता है। (१) प्रथम अवस्था—इस अवस्था में प्रेम अपने ही शरीर तक सीमित होता है। (२) द्वितीय अवस्था—प्रेम माता-पिता से सम्बन्धित हो जाता है। (३) तृतीय अवस्था—प्रेम समलिंग बालकों की ओर प्रभावित हो जाता है। (४) चतुर्थ अवस्था—विपरीत लिंग की ओर प्रेम प्रभावित हो जाता है।

शैशवावस्था—महाशय गेजल ने, चार प्रकार के व्यवहार बताये हैं—

(१) **चेष्टा सम्बन्धी**—बालक की क्रियायें शारीरिक विकास सम्बन्धी होती हैं।

(२) **भाषा सम्बन्धी**—शब्द-भण्डार बड़ी तीव्रता से बढ़ता जाता है।

(३) **परिस्थितियों के अनुकूल कार्य करना**—बुद्धि का विकास भी होने लगता है।

(४) **वैयक्तिक और सामाजिक विकास**—व्यक्तिगत विकास के साथ-साथ बालक परिवार पर आश्रित रहता है।

बाल्यावस्था—शरीर का विकास बड़ी तीव्रता से होता है। मानसिक विकास भी उत्तम होता है। उत्सुकता, अनुकरण, सामाजिकता, आत्मसम्मान आदि भावनाओं का विकास भी होने लगता है।

किशोरावस्था—चार विशेषतायें बताई गई हैं :—

(१) **स्वतन्त्रता प्राप्ति**—परिवार से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास करता है।

(२) **विलिंग कामुकता**—विपरीत लिंग में परस्पर प्रेम भावना बढ़ती है।

(३) **आत्मनिर्भरता**—माता-पिता पर अधिक आश्रित न रहने की भावना जागृत होती है।

(४) आदर्श निर्माण—धार्मिक भावना की ओर प्रवृत्त होता है।

प्रौढ़ावस्था—व्यक्ति पूर्णतः आत्मनिर्भर हो जाता है पर कभी-कभी आयु के साथ प्रौढ़ता नहीं आती।

बालक का विकास और बुनियादी शिक्षा—पूर्व-बुनियादी, बुनियादी और उत्तर-बुनियादी शिक्षा व्यक्ति को इन चारों विकास अवस्थाओं के लिए उपयुक्त क्षेत्र उपस्थित करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) बालक के विकास की कौन-कौन सी अवस्थायें हैं ? प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

(२) शैशवावस्था में बालक के विकास के लिए माता-पिता को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?

(३) बाल्यावस्था में बालकों की कौन-कौन सी प्रवृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं ? अध्यापक को उचित विकास के लिए क्या-क्या प्रयत्न करना चाहिए ?

(४) बुनियादी शिक्षा बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में कहाँ तक व किस प्रकार सहायक हो सकती है ?

—:०:—

बौद्धिक विकास की सीमा एवं बुद्धि-परीक्षा

मनुष्यों की बुद्धि अलग-अलग तरह की होती है। सभी व्यक्ति एक-सी बुद्धि वाले नहीं होते। किसी की बुद्धि तेज होती है और किसी की मन्द बुद्धि। मनोवैज्ञानिकों ने इस बुद्धि को मापने का प्रयत्न किया है। इसके जानने के पूर्व बुद्धि और विद्या के अन्तर को जानना आवश्यक है।

विद्या और बुद्धि में अन्तर—साधारणतया बुद्धि और विद्या को एक ही माना जाता है। पर विद्या से मनुष्य विद्वान् बनता है और बुद्धि से बुद्धिमान्। विद्वान् में और बुद्धिमान् में अन्तर होता है। विद्वान् व्यक्ति विद्वत्ता प्राप्त करके भी मूर्ख हो सकता है और बिना विद्वत्ता प्राप्त किए भी व्यक्ति बुद्धिमान् हो सकता है। महाशय ह्वाइटहैड ने इस भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है—

"ज्ञान के कुछ आधार के बिना तुम बुद्धिमान् नहीं हो सकते, परन्तु तुम सुगमता से ज्ञान प्राप्त कर सकते हो और फिर भी बुद्धिहीन रह सकते हो।"

इससे यह स्पष्ट है कि विद्वान् भी बुद्धिहीन हो सकता है। बुद्धि जन्मजात होती है और विद्या अर्जित है। बुद्धि को जन्मजात मान लेने पर उसके विकास में मनुष्य का हाथ नहीं रह जाता, पर बुद्धि का विकास भी कई साधनों द्वारा देखा अवश्य गया है। अतः बुद्धि को अटल रूप से वंशानुक्रमागत मान लेना भी उचित नहीं।

वंशानुक्रम और बुद्धि का सम्बन्ध—इस विषय में मनोवैज्ञानिकों ने चार प्रकार के अध्ययन किये—

(१) अन्योन्य सम्बन्ध।
(२) पारिवारिक अध्ययन।
(३) जुड़वाँ बच्चों का अध्ययन।
(४) भावीदह प्रयोग।

१. **अन्योन्य सम्बन्ध**—जुड़वाँ बालकों तथा अन्य भाई-बहिनों आदि का अध्ययन किया गया तथा रक्त-सम्बन्ध और बुद्धि के समन्वय का परिणाम इस प्रकार पाया गया—

सम्बन्ध	रक्त सम्बन्ध
समान जुड़वाँ बच्चे	·६
असमान जुड़वाँ बच्चे	+ ·७
भाई-बहन	+ ·५
माता-पिता और बालक	+ ·५

चचेरे भाई	+·२५
असम्बन्धित	·००

इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों रक्त बढ़ता गया त्यों-त्यों बुद्धि की सम बढ़ती गई है। अर्थात् एक ही माता-पिता से दो जुड़वां बच्चे पैदा होंगे तो दोनों बुद्धि साम्य ९०% होगा। इससे यह स्पष्ट है कि बुद्धि वंशानुक्रमागत है।

२. पारिवारिक अध्ययन—गाल्टन ने ९७७ तीव्र बुद्धि वाले व्यक्तियों अध्ययन कर यह देखा कि उनमें से ५३५ व्यक्ति तीव्र बुद्धि वाले माता-पिता सन्तानें थीं। इसी प्रकार ९७७ साधारण बुद्धि वाले लोगों का अध्ययन कर यह लगाया कि उनमें से केवल ४ ही का तीव्र बुद्धि वाले व्यक्तियों से सम्बन्ध था।

३. जुड़वां बच्चों का अध्ययन—जुड़वा बच्चों में से गेलस ने एक को की सीढ़ियाँ चढ़ने में प्रवीण कर दिया और दूसरे बच्चे को नहीं। जब दोनों परीक्षा की दृष्टि से साथ-साथ सीढ़ियों पर चढ़ाया गया तो उसमें कोई अन्तर उप नहीं हुआ।

४. धात्रीगृह प्रयोग—महाशय स्वेज़ीनर ने जन्म से ही १० जोड़े जुड़वां ब में से एक-एक को अलग धात्रीगृह में रखा। बड़े होने पर उनकी बुद्धि की परीक्ष साथ-साथ की गई तो ६ जोड़ों में कोई अन्तर न मिला। २ में १२ बिंदुओं का अ रहा। और शेष में से एक जोड़े में १५ बिंदुओं और दूसरे जोड़े में १७ बिंदुओं अन्तर था।

महाशय न्यूमेन, फ्रीमेन, हालजिंगर ने मिलकर बड़ा महत्वपूर्ण अध्य किया।

५० जोड़े समान जुड़वां बच्चों का साथ-साथ पालन-पोषण किया।

५० जोड़े असमान जुड़वां बच्चों का साथ-साथ पालन-पोषण किया।

१६ जोड़े समान जुड़वां बच्चों को धात्रीगृहों में पाला गया। इनके निष्क इस प्रकार निकले :—

(१) वजन और ऊंचाई में कोई अन्तर नहीं पाया गया।

(२) भिन्न वातावरण में पले हुए होने के कारण बुद्धि-परीक्षा लेने पर बुद्धि लब्धि में थोड़ा सा अन्तर पाया गया पर कोई प्रमुख अन्तर नहीं।

(३) शिक्षा के विभिन्न वातावरण उपस्थित करने पर शिक्षा-प्राप्ति में अन्तर पाया गया।

(४) उनकी आकृतियों में कोई अन्तर नहीं पाया।

(५) वातावरण की भिन्नता अवश्य ही बुद्धि पर किंचित प्रभाव डालती है।

निष्कर्ष—उपरोक्त अध्ययनों का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकत है कि यद्यपि बुद्धि जन्मजात होती है पर वातावरण के प्रभाव से उसमें किसी ए निश्चित सीमा तक विकास का परिवर्तन लाया जा सकता है। वातावरण का प्रभाव बुद्धि के विकास पर अवश्य होता है। यदि प्रटल वंशानुक्रमी बनकर बुद्धि में विका

के क्षेत्र को कदापि संभव न माना जायेगा तो फिर शिक्षा का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। अध्यापक की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके विपरीत अटल वातावरणी बनकर बुद्धि के विकास का क्षेत्र शिक्षक के हाथों ही मान लिया जाय तो यह सम्भव नहीं कि शिक्षक मन्द बुद्धि वाले को तीव्र बुद्धि वाला बना दे। अतः दोनों का सामंजस्य वांछनीय है। अध्यापक का कर्तव्य है कि दोनों के आधार पर बालक का विकास करे।

बुद्धि का स्वरूप—बुद्धि जन्मजात होती है पर इसका विकास भी संभव है जो शिक्षा, विद्या और ज्ञान के आधार पर किया जाता है। बुद्धिमानी लक्ष्य है और ज्ञान उसको प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। इस बुद्धि का स्वरूप व्यक्त करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं।

"बुद्धि व्यक्ति की विभिन्न मानसिक शक्तियों का निचोड़ है।"

"बुद्धि का रूप ध्यान की एकाग्रता, नए वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने की निपुणता तथा आत्मालोचन करने की शक्ति में अच्छी प्रकार देखा जा सकता है।"

"बुद्धि का रूप अमूर्त वस्तुओं के विषय में सोचने, वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध समझने और समस्याओं को सुलझाने मे समझा जा सकता है।" —टरमेन

"बुद्धिमता अपने ज्ञान का प्रयोग करने और व्यवहरण करने की अतिरिक्त शक्ति है।"

"बुद्धि नवीन परिस्थितियों के प्रति चेतन समयोजन अथवा जन्मजात सर्वोन्मुखी मानसिक योग्यता है।"

इसी प्रकार बुद्धि के स्वरूप को भिन्न रूप से व्यक्त किया गया है। यह अवश्य है कि मनुष्य की बुद्धि ही उसके शरीर की सब क्रियाओं को चलाती है। इसी के आधार पर मनुष्य का जीवन सफल और असफल बनता है। अतः इस प्रकार बुद्धि की परीक्षा लेकर उसके परिणाम को जानने की इच्छा मनोवैज्ञानिकों के हृदय में उत्पन्न हुई।

बुद्धि परीक्षा की आवश्यकता—बुद्धि के विषय पर मनोवैज्ञानिकों का कार्य शिक्षा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रत्येक अध्यापक को उसके मुख्य परिणामों को जानना आवश्यक है, क्योंकि शिक्षा का क्रम सामूहिक नहीं चलता वरन् व्यक्तिगत आधार पर दी हुई शिक्षा ही सफल होती है। सभी छात्र एक-सी बुद्धि वाले नहीं होते। कोई तेज बुद्धि वाला, कोई साधारण बुद्धि वाला और कोई मन्द बुद्धि वाला होता है। अतः उनकी बुद्धि की परीक्षा लेकर उसी के अनुकूल शिक्षा देना आवश्यक है।

साथ ही इसकी आवश्यकता बालक को एक कक्षा से आगे की कक्षा में चढ़ाने की दृष्टि से भी है। परीक्षा लेकर बालक को चढ़ाया जाता है। अपनी बुद्धि के अनुसार

कक्षा के स्तर के अनुकूल उसने विद्या या ज्ञान प्राप्त कर लिया है अथवा नहीं।
बुद्धि-परीक्षा की आवश्यकता समझी गई।

बुद्धि-परीक्षा का शारीरिक आधार—प्रारम्भ में मनोवैज्ञानिक यह मान
कि "ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मन के भीतर हो वरन् वह मन ही है,
मानसिक शक्ति हो जाती है।" अतः प्रारम्भ में मानसिक परीक्षाओं के लिए ज्ञान
प्रयोग करना छोड़कर शारीरिक माप द्वारा मन अर्थात् ज्ञान को मापने का प्रयत्न क
लगे। शारीरिक लक्षणों के आधार पर ज्ञान और मस्तिष्क को नापने की चेष्टा की ग

बुद्धि और ज्ञान का घर सिर है अतः सर्वप्रथम सिर पर परीक्षण किया गय
अठारहवीं शताब्दी के अन्त में महाशय गाल और स्पर्जहोम ने दृढ़तापूर्वक
कि सिर का सावधानी से अध्ययन करें, मस्तिष्क के विषय में बहुत कुछ बताया
सकता है।

सन् १७७५–७८ में महाशय लेवेटर ने दूसरी विचारधारा रखी। उनके मत
नुसार मुख की आकृति द्वारा मस्तिष्क का मूल्यांकन किया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सिजेर लोम्ब रोसो ने इस दिशा में दूसरा प्रय
किया। उनके मतानुसार शारीरिक दूषण दूषित बुद्धि रखता है। नाक के आकार
मनुष्य की मस्तिष्क शक्ति आँकी जा सकती है।

सन् १६०६ में महाशय कार्ल पिमर्सन ने शारीरिक लक्षणों के आधार प
बुद्धि-परीक्षा के प्रयोग किये और यह निष्कर्ष निकाला कि शारीरिक आकृतियों के ब
पर बौद्धिक गुणों के विषय में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। "हम कपा
(खोपड़ी) के आधार से नहीं बता सकते कि वह प्रतिभाशाली व्यक्ति है और कानों क
लम्बाई से नहीं बता सकते कि अमुक मनुष्य मूर्ख है।"

आकृति एवं शारीरिक गठन के आधार पर मस्तिष्क के माप की विचारधार
के साथ-साथ एक दूसरी विचारधारा उत्पन्न हुई। ब्रिटिश मनोविज्ञान का एक सिद्धान्
है—बुद्धि में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पहले इन्द्रियों में प्रस्तुत न हो। इस सिद्धान्
के आधार पर गाल्टन महाशय ने १८८३ में पीतल के उपकरणों का प्रयोग बुद्धि को
मापने के लिए किया। इन पीतल के उपकरणों का प्रयोग मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों पर
दिया गया। जैसे त्वचा की चेतना के आधार पर बुद्धि को मापने का प्रयत्न किया
इन्द्रिय संवेदन ही इसका आधार था। इस तरह कई यन्त्र बनाये गये जैसे गतिमापक
जड़ों की पकड़ कलाई की शक्ति को नापने के लिए, अरगोग्राफ बीच की उंगली का
बल और सहन शक्ति को नापने के लिए बनाए गए। पर इनसे भी कोई वैज्ञानिक
परीक्षण न खोजा जा सका जो व्यक्तियों की बुद्धियों का माप बतलाता।

धीरे-धीरे यह बात मान ली गई कि शारीरिक गठन तथा ऐन्द्रिक क्रियाओं
द्वारा बुद्धि का माप प्राप्त नहीं किया जा सकता।

बुद्धि-परीक्षा का मानसिक आधार—यद्यपि बुद्धि के माप के लिए सर्वप्रथम
विचारधारा शारीरिक गठन पर आधारित थी और इसकी परीक्षायें वर्तमान समय

तक होती चली आयी हैं तथापि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चौथे चरण ही में बुद्धि की परीक्षा के लिए मानसिक क्रियायें आधार बनने लगी थीं। इसका इतिहास क्रम इस प्रकार है—

(१) सन् १८७९ में वुन्ट महाशय ने जर्मनी के लिपजिग स्थान पर बुद्धि-परीक्षा हेतु मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की।

(२) सन् १८६० ई० में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के कोलम्बिया कॉलेज में महाशय केटल और फेरेण्ड ने विद्यार्थियों की बुद्धि-परीक्षा ली।

(३) सन् १८८७ में में राइस महाशय ने शब्दों के हिज्जे के आधार पर बुद्धि-परीक्षा बनाई। महाशय एबिंघास ने भी इस ओर प्रयत्न किया।

(४) सन् १६०४ में महाशय अलफ्रेड बिने ने बुद्धि-परीक्षा तैयार की जो व्यक्तिगत दृष्टि से थी।

(५) सन् १६०८ में बिने की पहली बुद्धि-परीक्षा में सुधार कर उसे सामूहिक बुद्धि-परीक्षा का रूप दिया गया।

(६) सन् १६०६ में थर्न डाइक ने बुद्धि-परीक्षा तैयार की जो हस्तलेख के आधार पर थी।

(७) सन् १६११ में बिने की बुद्धि-परीक्षा में पुनः संशोधन हुआ।

(८) सन् १६१५–१६ ई० में टरमेट ने बिने की बुद्धि-परीक्षा में परिवर्तन किया।

(९) सन् १६१६–१६ ई० में थार्न डाइक मिलकर और पिटर ने सामूहिक बुद्धि पर प्रयोग किया।

(१०) सन् १६२० से ही विभिन्न व्यवसायों के लिए बुद्धि-परीक्षायें तैयार होने लगी।

बिने की बुद्धि-परीक्षा—अन्य सब परीक्षाओं की अपेक्षा बिने की बुद्धि-परीक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पेरिस की म्युनिसपेलिटी ने डाक्टर बिने को मन्द बुद्धि छात्रों का पता लगाने का कार्य सौंपा ताकि ऐसे छात्रों के लिए अलग स्कूल खोले जा सकें। पहले तो बिने महाशय ने भी अपना कार्य शारीरिक गठन और ऐन्द्रिय परीक्षाओं से आरम्भ किया पर तुरन्त ही उसने अपना मार्ग पलट कर बौद्धिक क्रियाओं के निकट-तम परीक्षा का निर्माण किया। बुद्धि का अनुमान लगाने की समस्या पर बिने के कार्य ने शिक्षा-जगत में हल चल मचा दी और कई देशों में उसकी बुद्धि-परीक्षा की माप-श्रेणी को प्रयोग में लेने लगे। शनैः-शनैः मिरीन बर्ट और टरमैन ने बिने की बुद्धि-परीक्षा का संशोधन किया। बिने की परीक्षा के संशोधित प्रश्न यहाँ दिये जाते हैं—

तीन वर्ष की अवस्था के लिये—

(१) चित्र में बनी वस्तुओं को बताना।

(२) साधारण वस्तुएँ जैसे चाकू, चाबी, लोटा, गिलास का नाम बताना।

(३) शरीर के अंगों का नाम बताना जैसे हाथ, नाक, आँख, मुँह।

(४) अपना नाम व परिवार का नाम बताना।

(५) अपने लिंग का ज्ञान जैसे लड़का हो या लड़की।

(६) ५ शब्दों के वाक्य की आवृत्ति।

चार वर्ष के बालकों के लिये—

(१) दो कीलों में छोटी-बड़ी कील बताना।

(२) तीन अंकों वाली संख्याओं को कहलाना जैसे ६३५, ५८४, २८६ (तीनों में से एक को सही बोलना पर्याप्त होगा)।

(३) चार पैसों की गिनती करना।

(४) छः शब्दों में वाक्यों की आवृत्ति।

(५) तस्वीरों में से सुन्दर चेहरे को बताना। (एक-सी तीन जोड़ी तस्वीरें दिखाने पर)।

पाँच वर्ष के बालक के लिये—

(१) सामान्य चार रंग पहचानना जैसे लाल, हरा, पीला, नीला।

(२) तीन कार्य एक ही क्रम से करना, जैसे दवात, कलम मेज पर रखना, किताब लाना और दरवाजा बन्द करना।

(३) वजनों की तुलना करना, तीन वस्तुओं के भार को क्रम से बताना।

(४) चार अंकों की संख्यायें कहना जैसे ५४६०, ३६३७ आदि।

(५) अपनी उम्र बताना।

(६) साधारण वस्तुओं का उपयोग बताना जैसे कुर्सी किस काम आती है।

(७) १० शब्दों का वाक्य दुहराना।

(८) सवेरे, दोपहर और शाम के भेद जानना।

बिने की परीक्षाओं की विशेषताएँ—

बिने की बुद्धि-परीक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं:—

(१) हजारों बालकों को विभिन्न विषयों पर प्रश्न देकर उचित प्रश्नों को एकत्रित किया गया।

(२) हर आयु के बालक के लिए भिन्न प्रश्नावली बनाई।

(३) आयु तथा प्रश्नों में समझौता रखा गया। अर्थात् एक ही आयु वाले बालकों में से ७५% बालक जिस प्रश्न का उत्तर दे सकें उस प्रश्न को उस आयु के बालक की परीक्षा के लिए उपयुक्त समझा गया।

(४) जो बालक कम आयु होने पर भी अधिक अवस्था वाले बालक के प्रश्नों का उत्तर दे सकता था उसे प्रखर बुद्धि वाला समझा जाता था और जो अपनी आयु के अनुकूल प्रश्नों को हल न कर सकता था उसे मंद बुद्धि समझा गया। इस प्रकार बालकों की वास्तविक आयु और मानसिक आयु मानी गई।

(५) महाशय बिने बुद्धि के वर्गीकरण में न पड़कर बालक की साधारण बुद्धि का माप करने में ही प्रवृत्त हुए थे।

मानसिक आयु—तीन वर्ष का बालक यदि उसी की अवस्था के लिए बनाये गये प्रश्नों का सही उत्तर दे सके तो उसकी वास्तविक आयु तीन वर्ष के साथ-साथ उसकी मानसिक आयु भी तीन वर्ष की हुई। ऐसा बालक साधारण बुद्धि वाला कहा जायगा।

यदि तीन वर्ष का बालक चार वर्ष के बालक के लिए निर्मित प्रश्नों को हल कर डाले तो उसकी वास्तविक आयु ३ वर्ष की है पर उसकी मानसिक आयु चार वर्ष की मानी जायगी। ऐसा बालक प्रखर बुद्धि वाला माना जायगा।

यदि तीन वर्ष का बालक उसके लिए निर्मित प्रश्नों का उत्तर न दे सके तो ऐसे बालक की आयु की वास्तविक आयु ३ वर्ष की और मानसिक आयु २ वर्ष की मानी जायगी। ऐसे बालक को मन्द बुद्धि वाला बालक समझा जायगा।

इस प्रकार यदि मानसिक आयु वास्तविक आयु के समान हो तो बुद्धि साधारण होती है। यदि अधिक हो तो बुद्धि प्रखर होती है और यदि कम हो तो बुद्धि मन्द होती है।

बुद्धि-लब्धि—मानसिक आयु निकाल कर भी मनोवैज्ञानिकों ने देखा कि मानसिक आयु पर भी सूक्ष्म दृष्टि से बालक की बुद्धि के स्तर निर्मित नहीं किये जा सकते। अतः मानसिक आयु और वास्तविक आयु में अनुपात निश्चित किया गया उसी को बुद्धि-लब्धि कहते हैं। मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देकर इसे प्राप्त किया जाता है। इसका समीकरण इस प्रकार बन सकता है:—

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}}$$

$$\text{उदाहरणार्थ—बुद्धि-लब्धि} = \frac{४\ (\text{मानसिक आयु})}{५\ (\text{वास्तविक आयु})}$$

अर्थात् यह बालक मन्द बुद्धि होना चाहिये, परन्तु इस प्रकार की क्रिया से पूर्णांक उत्तर प्राप्त न होने के कारण उसे १०० से गुणा कर प्रतिशत निकाल लिया जाता है।

$$\text{अर्थात् बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

इस प्रकार बुद्धि-लब्धि को प्रतिशत के आधार पर, बालकों की बुद्धि को ६ भागों में विभाजित किया जाता है—

प्रतिशत बुद्धि-लब्धि	बुद्धि का प्रकार
१५० से अधिक	प्रखर प्रतिमा सम्पन्न
१४० से १५०	प्रतिमा सम्पन्न
१२० से १४०	

११० से १२०	उत्कृष्ट बुद्धि
९० से ११०	सामान्य बुद्धि
८० से ९०	मन्द बुद्धि
७० से ८०	क्षीण बुद्धि (मूर्ख)
५५ से ७०	हीन बुद्धि (मूढ़)
५५ से कम	निकृष्ट बुद्धि (जड़)

सामूहिक बुद्धि-परीक्षा—महाशय बिने द्वारा निर्मित एवं बर्ट और टरमैन द्वारा संशोधित बुद्धि-परीक्षा प्रत्येक बालक की अलग-अलग लेनी पड़ती थी। अतः समय के व्यय से बचने के लिए सामूहिक बुद्धि-परीक्षा प्रणाली निकाली गई। सामूहिक बुद्धि-परीक्षा से तात्पर्य है कि एक प्रश्न-पत्र तैयार कर उसे छपा लिया जाय। उसमें प्रश्नों के उत्तर हां या नहीं में देने के लिए रिक्त स्थान हो। प्रश्न-पत्र की अवधि लगभग आधा घण्टा हो। सब परीक्षार्थियों को एक साथ देकर आधे घण्टे में उनको निपटाया जा सकता है।

इस प्रकार की सामूहिक बुद्धि-परीक्षा प्रणाली का प्रयोग सर्वप्रथम महायुद्ध काल में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों ने सिपाहियों की भर्ती के समय किया था। इसके पश्चात् विभिन्न देशों में इसके प्रयोग होने लगे। 'शिक्षा-परीक्षा' भी इसी प्रणाली के आधार पर निर्मित की गई।

निष्कर्ष—बुद्धि-परीक्षा के सम्पूर्ण विवेचन से मनोवैज्ञानिकों को जो परिणाम मिले वे इस प्रकार हैं :—

(१) प्रत्येक बालक की बुद्धि-लब्धि भिन्न होती है।

(२) जो बालक प्रारम्भ में प्रखर बुद्धि वाला है वह आगे भी प्रखर बुद्धि वाला बना रहेगा।

(३) बुद्धि-लब्धि में शिक्षा द्वारा थोड़ा परिवर्तन किया जा सकता है। पर भारी परिवर्तन नहीं जैसे मंद बुद्धि बालक को शिक्षा द्वारा साधारण बुद्धि के स्तर तक लाया जा सकता है, पर उसे प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्न नहीं बनाया जा सकता।

(४) तीव्र बुद्धि वाले बालक १८ वर्ष की आयु तक उन्नति करते हैं पर मन्द-बुद्धि वाले बालक १४ वर्ष में ही विकास की सीमा तक पहुँच जाया करते हैं।

(५) औसतन लड़के लड़कियाँ बराबर बुद्धिमान होते हैं।

बुद्धि-परीक्षा और बुनियादी शिक्षा—यह सैद्धान्तिक बात है कि अध्यापक में बालक की बुद्धि-लब्धि को बदलने की शक्ति नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बुद्धि को भाग्यहीन मानकर वह अपने को सुस्त बनाले। बुद्धि को जन्मजात मान लेने पर भी बालक को बुद्धि का ऐसा प्रयोग करना सिखाया जाना चाहिये कि वह शिक्षा प्राप्त कर सके, आत्म-निर्भर बन सके, आत्मसम्मान का मूल्य समझ सके और अपनी बुद्धि को समाज के हित में लगा सके, नैतिकता अपना सके आदि। बालक में इस प्रकार की क्षमतायें उत्पन्न करना अध्यापक का ही कार्य है।

इसके साथ ही बालकों में बौद्धिक योग्यता की दृष्टि से भी व्यक्तिगत भेद है। पाठशाला के सामान्य कार्य पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अतः अध्यापक का यह भी कर्तव्य है कि बालक की मंदता का कारण प्रतीत करे कि यह जन्मजात है अथवा वातावरण विशेष के कारण। और यदि मंदता बहुत अधिक है तो क्या बालक को मंद बुद्धि बालकों की पाठशाला विशेष में भेजे जाने की आवश्यकता है?

साधारण बालकों में भी बुद्धि की दृष्टि से अन्तर होता है। अतः कक्षा में सामूहिक पाठ पढ़ाने की गति सबके लिये अनुकूल नहीं पड़ती। इस दृष्टि से अध्यापक का कार्य और भी बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में अध्यापक द्वारा बालक पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

इस प्रकार बुद्धि-लब्धि ज्ञात कर अध्यापक का कार्य बदल जाता है। व्यक्तिगत भेद के आधार पर शिक्षा देना रूढ़िवादी शिक्षा में सम्भव नहीं, क्योंकि वहां तो सामूहिक शिक्षा-पद्धति का अनुसरण किया जाता है। बुनियादी शिक्षा ही इसके लिए उपयुक्त क्षेत्र तैयार करती है। यद्यपि बालकों की बुद्धि-लब्धि ज्ञात कर उसी के अनुकूल शिक्षा प्रदान करने की रीति हमारे देश में अभी तक प्रचलित नहीं है फिर भी बुनियादी शिक्षा की कार्यप्रणाली ही ऐसी है कि प्रत्येक बालक अपनी बुद्धि के अनुकूल ही शिक्षा ग्रहण करता है। यह बुनियादी शिक्षा-पद्धति द्वारा दी गई शिक्षा को अपनी बुद्धि का भार नहीं समझता है।

आवश्यक शिक्षण प्राप्त करने के लिए बालक को अपनी ही प्रवृत्तियों के आधार पर अग्रसर होने का अवसर प्रदान करने का कार्य बुनियादी शिक्षा का शिक्षक ही कर सकता है। यही नहीं बौद्धिक कार्यों से परे अन्य कार्यों में बालक को प्रोत्साहित कर उन्हें स्वानुभूति प्राप्त कराने में बुनियादी शाला का शिक्षक ही सफल हो सकता है।

पाठशाला के जीवन में बालक की स्थायी रुचियों का पता लगाकर उन्हीं के अनुकूल व्यवसायों में बालक को प्रवृत्त करने की बुनियादी शिक्षा की प्रणाली बालक को भावी जीवन में असफल सिद्ध नहीं होने देती। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा बालक की बुद्धि की दृष्टि के आधार पर व्यक्तिगत भेद के अनुसार ही शिक्षण-क्रम चलाती है।

सारांश

शिक्षा और बुद्धि में अन्तर—विद्या अर्जित है और बुद्धि जन्मजात। विद्या से व्यक्ति विद्वान् बनता है, बुद्धि से बुद्धिमान्।

वंशानुक्रम और बुद्धि का सम्बन्ध—विभिन्न अध्ययनों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने यह निश्चय निकाला है कि बुद्धि जन्मजात होती है पर वातावरण के प्रभाव से उसमें किंचित परिवर्तन लाया जा सकता है।

बुद्धि का स्वरूप—मनुष्य की बुद्धि ही उसको परिस्थितियों से पार कराने

का साधन है। बुद्धि समस्त मानसिक क्रियाओं में एक महान् शक्ति है जो प्रत्येक कार्य की संचालिका है।

बुद्धि की परीक्षा की आवश्यकता—शिक्षा का क्रम व्यक्तिगत बुद्धि-भेद के आधार पर चलता है। अतः अध्यापक को बालक की बुद्धि का परिमाण जान लेना आवश्यक है। साथ ही आगे की कक्षा में बालक को चढ़ाने की दृष्टि से भी परीक्षा आवश्यक है।

बुद्धि परीक्षा का शारीरिक आधार—प्रारम्भ में बुद्धि का माप सिर की आकृति, मुख की आकृति, नाक की आकृति, कान की आकृति के आधार पर निश्चित करने का प्रयास किया गया। दूसरी विचारधारा इन्द्रिय संवेदन के आधार पर अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर बुद्धिमाप निश्चित करने की चली। इसके लिए नई मशीनें बनाई गईं। पर दोनों ही विचारधाराओं के परिणाम निष्फल रहे।

बुद्धि परीक्षा का मानसिक आधार—यह प्रथम दो विचारधाराओं से भिन्न है। इसमें मानसिक क्रियाओं के आधार पर कई परीक्षायें की गईं।

बिने की बुद्धि-परीक्षा—सबसे महत्वपूर्ण परीक्षा महाशय बिने द्वारा तैयार की गई। समय-समय पर इसमें संशोधन होकर कई देश के लोगों ने इसे अपनाया।

बिने की परीक्षाओं की विशेषतायें—कई प्रयोगात्मक अध्ययन कर प्रत्येक वर्ष की आयु के बालक के लिए प्रश्नावली तैयार की गई। जो बालक उसकी आयु के लिए निर्मित प्रश्नों का उत्तर दे देता वह साधारण बुद्धि का माना गया।

मानसिक आयु—जो बालक अपनी आयु के अनुकूल अथवा इससे कम या अधिक आयु के लिए बनाये गए प्रश्नों का उत्तर दे देता तो उसकी मानसिक आयु वास्तविक आयु के क्रमशः तुल्य अथवा कम अथवा अधिक मानी जाती है।

बुद्धि-लब्धि—वास्तविक आयु का भाग मानसिक आयु में देकर बुद्धि लब्धि निकाली गई और इसे पूर्णाङ्क बनाने के लिए १०० से गुणा कर प्रतिशत निकाल लिया गया और बुद्धि-लब्धि के आधार पर बुद्धि को ६ भागों में विभाजित किया गया।

सामूहिक बुद्धि-परीक्षा—इन बुद्धि-परीक्षाओं के लिए प्रत्येक छात्र के साथ अलग-अलग समय व्यतीत करना पड़ता था। अतः समूह के रूप में परीक्षा लेने के लिए प्रश्न-पत्र बनाकर निश्चित समय में पूर्ति कराने की पद्धति प्रचलित की गई।

निष्कर्ष—(१) बुद्धि के आधार पर व्यक्तिगत भेद हैं। (२) प्रारम्भ में ... सदा प्रखर बुद्धि वाला रहेगा। (३) शिक्षा द्वारा बुद्धि में बहुत कम सम्भव है, अधिक नहीं। (४) तीव्र बुद्धि वाले १८ वर्ष की आयु तक तथा

मन्द बुद्धि वाले १४ वर्ष की आयु तक उन्नति करते हैं। (५) लड़के-लड़कियों की साधारणतया बुद्धि एक सी होती है।

बुद्धि परीक्षा और बुनियादी शिक्षा—बालक की शिक्षा के पूर्व उनकी बुद्धि-लब्धि ज्ञात करने की प्रणाली हमारे देश में प्रचलित नहीं है फिर भी बुनियादी शिक्षा बुद्धि के आधार पर व्यक्तिगत भेद के अनुकूल मनोवैज्ञानिक रूप से शिक्षा प्रदान करने में समर्थ है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) बुद्धि से क्या तात्पर्य है? प्रारम्भ में बुद्धि-परीक्षा के लिए किस-किस प्रकार के प्रयोग किये गये?

(२) बिने की बुद्धि-परीक्षा की क्या-क्या विशेषताएँ हैं?

(३) बुद्धि-लब्धि किस प्रकार निर्धारित की जाती है? उसका मानसिक आयु से क्या सम्बन्ध है?

(४) बुनियादी शिक्षा में बुद्धि-परीक्षा के लिए किन-किन साधनों को अपनाया जा सकता है?

—:o:—

विशेष बालकों की शिक्षा

बालकों को उनकी बुद्धि के अनुसार साधारणतया तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(१) प्रतिभावान्, (२) सामान्य, (३) मन्द बुद्धि। यद्यपि बुद्धि परीक्षानुसार बालकों की बुद्धि-लब्धि के आधार पर उनका लगभग ६ भागों में विभाजन किया जा सकता है, पर मोटे रूप से उपरोक्त तीन विभाजन ही उपयुक्त रहते हैं। सामान्य को छोड़कर शेष दो प्रकार के बालकों को "विशेष बालक" कहा जाता है। अतः विशेष बुद्धि वाले बालक दो प्रकार के हुए—प्रथम, मन्द तथा द्वितीय, प्रतिभावान्।

बुद्धि वंशानुक्रमागत है। बालकों की बुद्धि में बहुत बड़ा परिवर्तन सम्भव नहीं। बुद्धि पर ही बालक की शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति निर्भर है। अतः बालक अपनी बुद्धि के अनुसार ही शिक्षा ग्रहण कर सकता है। जो बालक प्रतिभावान् है वह सामान्य बालक की अपेक्षा अधिक तीव्रता से शिक्षा ग्रहण करेगा। सामान्य बालक की गति मन्द बुद्धि वाले बालक की अपेक्षा तीव्र रहेगी। मन्द बुद्धि वाला बालक बहुत धीरे-धीरे सीखता है। अतः सभी प्रकार के बालकों को एक साथ शिक्षा देना उनके प्रति अन्याय करना है। प्रखर बुद्धि वाले बालकों और मन्द बुद्धि वाले बालकों को सामान्य बालकों के साथ नहीं घसीटा जा सकता।

बुद्धि-परीक्षाओं की आवश्यकता भी इसीलिए हुई थी कि मन्द बुद्धि बालकों का पता लगाकर उनकी शिक्षा विशेष ढंग से दी जा सके। महाशय बिने को यही कार्य सौंपा गया था। बाद में प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा का अलग से प्रबन्ध करने की समस्या पर विचार किया जाने लगा। अतः जिन देशों में शिक्षा का बहुत प्रसार हो चुका है उनके शिक्षा-विशेषज्ञों का ध्यान विशेष बालकों की शिक्षा के लिए विभिन्न विधियों का परीक्षण करने की ओर आकृष्ट हुआ। वर्तमान समय में इस ओर अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं। भारत में अभी शिक्षा-प्रसार ही इतना अधिक नहीं हो पाया है कि विशेष बालकों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जा सके।

मन्द बुद्धि बालकों की शिक्षा—मन्द बुद्धि बालकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) बुद्धि में कुछ पिछड़े हुए, (२) जड़ और मूढ़। बुद्धि-लब्धि के अनुसार क्षीण बुद्धि और मन्द बुद्धि बालकों का समावेश पिछड़े हुए बालकों की श्रेणी में किया जाता है। अर्थात् ८० से ९० बुद्धि-लब्धि वाले मन्द बुद्धि और ७० से ८० *बुद्धि-लब्धि वाले क्षीण बुद्धि बालक पिछड़े हुए बालक कहलाते हैं।* इसी प्रकार ५५ से ७० बुद्धि-लब्धि वाले हीन बुद्धि अर्थात् मूढ़ बालक और ५५ से कम बुद्धि-

लब्धि वाले निकृष्ट बुद्धि बालक जड़ कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के बालकों की शिक्षा-प्रणाली में अन्तर आवश्यक है।

(१) जड़ और मूढ़ बुद्धि बालकों की शिक्षा

जड़ और मूढ़ बुद्धि बालकों की पहचान—जड़ और मूढ़-बुद्धि बालकों का पता लगाने का मनोवैज्ञानिक आधार बुद्धि-परीक्षा है। बालकों द्वारा प्राप्त बुद्धि-लब्धि द्वारा बालक की बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। तथापि उनके व्यवहार, साधारण बातचीत का ढंग और उनकी क्रियाओं से पता लगाया जा सकता है कि यह बालक बुद्धि की दृष्टि से किस श्रेणी के अन्तर्गत आता है।

जड़ और मूढ़-बुद्धि बालकों में सूक्ष्म विचारात्मक शक्ति कदापि नहीं होती। वस्तु का निरीक्षण भी वे अच्छे ढंग से नहीं कर सकते। यादादाश्त भी उनकी कमजोर होती है। वे अपने संवेगों तथा आवेगों को रोकने में असमर्थ होते हैं। इच्छा-शक्ति की कमजोरी साफ दिखाई देती है। दृढ़ निश्चय का अभाव, निरन्तर कार्यशीलता का अभाव होता है। आजीविका न कमा सकने के कारण समाज के लिए भार स्वरूप होते हैं। प्राय: भिखमंगे होते हैं, अपराधी होते हैं। उनके हाव-भाव, वस्तुओं के उठाने व रखने के ढंग, उठने बैठने के ढंग, बोल-चाल का ढंग आदि निराले ही होते हैं। सम्बन्धियों के व्यवसाय का वर्णन, देखी हुई वस्तुओं का वर्णन, ऐसे बालक ठीक ढंग से नहीं कर सकते। जोड़, गुणा, बाकी के छोटे सवाल भी सही नहीं कर पाते। तुलना करने की शक्ति का भी उनमें अभाव होता है।

ऐसे बालकों के शैशव काल का अध्ययन करने पर पता चलेगा कि उनके दाँत देर से निकले थे। खड़े होने पर चलने की योग्यता भी सामान्य बालकों की अपेक्षा देर से आई थी। बोलना प्रारम्भ करने में भी देर लगी थी। साधारण बालक की बोलने की अवधि १८ मास की उम्र है पर जड़ या मन्द बुद्धि बालक अधिक उम्र पर बोलना सीखता है। तुतलाना या हकलाना भी मन्द बुद्धि का लक्षण है यद्यपि यह सर्वत्र सही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि तुतलाना या हकलाना कभी-कभी मुख की रचना पर भी आधारित होता है।

जड़ और मूढ़ बालक की शिक्षा—बुद्धि-मापक परीक्षाओं से यह पता लगा है कि जड़ और मन्द बुद्धि बालकों की संख्या बहुत कम होती है। किसी देश की जन-संख्या में लगभग २ प्रतिशत बालक ही इस श्रेणी के मिलेंगे।

इनकी संख्या इतनी थोड़ी होने पर भी उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि प्रजातन्त्रवादी राष्ट्र किसी भी व्यक्ति की अवहेलना नहीं कर सकता। उसकी प्रगति के लिए राष्ट्र को साधन जुटाने ही चाहिएँ। जड़ और मूढ़ बुद्धि बालकों को पढ़ाई में अन्य बालकों के साथ निभाना असम्भव है। अतः ऐसे बालकों के लिए विशेष प्रकार की पाठशालायें चलाई जानी आवश्यक हैं।

विदेशों में इस ओर बहुत प्रगति हुई है। बेल्जियम के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक महाशय ने शिक्षा के लिए अनेक मनोवैज्ञानिक

जीविकोपार्जन के योग्य बनाया जा सकता है और इस तरह समाज का भार बनने से रोका जा सकता है।

(२) बुद्धि में पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा

पिछड़े हुए बालकों की पहिचान—यद्यपि बुद्धि-मापक परीक्षाओं द्वारा ही पिछड़े हुए बालकों का पता लगाया जाना सम्भव है तथापि अन्य लक्षणों से भी ऐसे बालकों की पहिचान हो जाती है। ऐसे बालकों की पढ़ने की ओर स्वाभाविक अरुचि होती है, यद्यपि पढ़ते अवश्य रहते हैं। प्रायः इसकी स्मरण शक्ति निर्बल देखी गई है। बड़ी उम्र के बालक छोटी कक्षाओं में पढ़ते हुए पाये जाते हैं। एक ही कक्षा में एक या दो बार फेल होते रहते हैं। बातचीत में वे शर्माते है। केवल सुनना पसन्द करते हैं, बोलना नहीं। क्योंकि उनमें आत्म-विश्वास का अभाव होता है।

पिछड़े हुए बालक कभी-कभी वातावरण के कारण भी बन जाया करते हैं। घरेलू भगड़े, माता-पिता के बुरे व्यवहार, अधिक भय, बीमारी, पाठशाला में देर से प्रवेश करने तथा आर्थिक व्यवस्था आदि के कारण सामान्य बुद्धि के बालक पिछड़े हुए बन जाते हैं। ऐसे बालकों के वातावरण के दोषों को दूर करतें ही वे सामान्य बुद्धि बालक की श्रेणी के बन जाते हैं। ऐसे बालक उचित प्रोत्साहन मिलने पर अपने साथियों से आगे बढ़कर सामान्य बालकों के स्तर के बन जाते है।

पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा—इन पिछड़े हुए बालकों की संख्या जड़ और मन्द बुद्धि बालकों की संख्या की अपेक्षा अधिक होती है। पाठशाला जाने योग्य बालको की संख्या का १२ प्रतिशत ऐसे बालकों का होना साधारण बात है। अर्थात् कुल बालकों का लगभग आठवां भाग पिछड़े हुए बालक हैं। अतः ऐसे बालको की शिक्षा की ओर ध्यान देना राष्ट्र का परम कर्त्तव्य है। कारण ये है कि एक तो इनकी शिक्षा में जड़ और मन्द बुद्धि बालकों की अपेक्षा कम खर्च सम्भव है। दूसरे उनसे अधिक संख्या में होने के कारण उनको उचित शिक्षा दिया जाना आवश्यक है। तीसरे ऐसे बालकों को सामान्य स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जा सकता है। और चौथे समाज की अवस्था को सुधारा जा सकता है।

यह विवादास्पद ही है कि पिछड़े हुए बालकों के लिए अलग स्कूल खोले जाने चाहियें अथवा सामान्य स्तर के बालकों के स्कूल में ही पिछड़े हुए बालकों की कक्षाओं का अलग प्रबन्ध किया जाना चाहिए। साथ ही क्या पाठ्यक्रम भी सामान्य स्तर के बालकों और पिछड़े हुए बालकों के लिए समान ही हों?

उक्त दोनों प्रकार के प्रयोग देखने में आते हैं। कई देशों में पिछड़े हुए बालकों के लिए अलग स्कूल प्रारम्भ किये गये हैं। यद्यपि पाठ्यक्रम साधारण स्कूल के समान ही होता है पर उनके पढ़ाये जाने की गति शिथिल होती है। जो बालक तेजी से आगे बढ़ने लगता है उसको सामान्य स्तर के स्कूल में भेज दिया जाता है। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस पद्धति में कई दोष हैं। प्रथम यह है कि ऐसे स्कूलों का नाम पिछड़े हुए बालकों का स्कूल या बुद्धुओं का स्कूल रखा जाता है। इनमें पढ़ने वाले बालकों को

नीची दृष्टि से देखा जाता है, जिससे बालक के *आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है* और आत्मसम्मानहीन बालक उन्नति नहीं कर सकता। दूसरा यह है कि जो बालक इन स्कूलों में सामान्य स्तर प्राप्त करते हुए दिखाई देते हैं उन्हें सामान्य स्तर के स्कूल में भेज दिया जाता है। वहाँ भी उन्हें नये वातावरण की कठिनाई झेलनी पड़ती है। ऐसा भी देखा गया है कि नये वातावरण की कठिनाई के कारण तथा सामान्य स्तर के बालकों द्वारा चिढ़ाये जाने पर बालक पुनः पिछड़ा हुआ बन जाता है।

इस विचारधारा के प्रतिकूल अमेरिका ने नया प्रयोग प्रारम्भ किया। ऐसे बालकों के लिए *अलग स्कूल न खोले जाकर सामान्य स्कूलों ही में विशेष कक्षायें* प्रारम्भ कर दीं। पाठ्यक्रम में भी कोई भेद नहीं रखा। इन कक्षाओं का नामकरण भी 'विशेष कक्षायें' ही किया गया। जो बालक सामान्य स्तर की योग्यता प्राप्त कर लेता उसे सामान्य कक्षा में भेज दिया जाता। स्कूल में पढ़ाई के सिवा अन्य कार्यक्रमों में सभी बालक मिल-जुलकर भाग लेते। खेल, वाद-विवाद, सामूहिक कार्य, प्रतियोगिताओं में सभी बालक समान रूप से भाग लेते। इस प्रयोग से यह प्रतीत हुआ कि बालकों के आत्मसम्मान को उतनी ठेस नहीं लगी। उनका नैतिक स्तर भी ऊँचा बना रहा।

वस्तुतः पिछड़े हुए बालकों के हाथ से काम कराने की अधिक आवश्यकता है। कृषि, लकड़ी का काम, कताई, बुनाई, चित्रकारी, रंगाई के कार्य आदि इन बालकों द्वारा सामान्य बालकों की अपेक्षा अधिक कराया जाना आवश्यक है। इस प्रकार ऐसे बालकों को सफल दस्तकार, किसान, बढ़ई, कलाकार, व्यापारी बनाया जा सकता है। उनकी रुचि और योग्यता के अनुकूल कार्य सौंपने से वे अवश्य ही उन्नति कर सकते हैं।

हमारे देश में पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा के लिये कोई विशेष प्रबन्ध नहीं। पर यहाँ भी अमेरिका के प्रयोगों के आधार पर शालाओं में पिछड़े बालकों की 'विशेष कक्षाएँ' चलाना आवश्यक है। इन कक्षाओं के लिए अध्यापकों को विशेष प्रशिक्षण प्रदान करने का प्रबन्ध किया जाना चाहिये ताकि उपयुक्त अध्यापक मिल सकें। इस प्रकार पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा की ओर ध्यान देकर राष्ट्र उनकी अवहेलना के दोष से स्वयं की रक्षा कर सकता है।

(३) प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा

प्रतिभावान् बालक की पहचान—बुद्धि परीक्षा द्वारा तो प्रतिभावान् बालकों की पहचान की ही जा सकती है तथापि कई ऐसे लक्षण हैं जो बालक की प्रतिभा के परिचायक होते हैं। ऐसे बालकों में सूक्ष्म चिन्तन की शक्ति होती है। ऐसे बालक बड़ी गम्भीर प्रकृति के होते हैं। बातें करने में छिछोरापन प्रदर्शित नहीं करते। बड़ी सूझ की बातें करते हैं। छोटे बालक द्वारा की गई बात से बड़े व्यक्ति भी आश्चर्यजनक प्रभावित होते हैं। इनकी ग्रहण करने की शक्ति, स्मरण शक्ति, अध्ययन की शक्ति विलक्षण होती है। ऐसे बालक कभी भी बुरी बातों में फंसे हुए नहीं दिखाई देते।

सभ्यतापूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन उनकी विशेषता होती है। ऐसे बालकों का चरित्र सुगठित होता है। तात्पर्य यह है कि साधारण व्यक्ति भी अपने दैनिक अनुभव पर यह सुगमता से पहिचान सकता है कि बालक प्रतिभावान् है अथवा नहीं। रत्न छिपे नहीं रहते।

प्रतिभावान् बालक की शिक्षा—यों कहना चाहिए ऐसे बालक राष्ट्र के मक्खन हैं। प्रतिभाशाली बालक ही राष्ट्र के नेता बनते हैं। वे सामूहिक कार्यों की योजनायें बनाते हैं। राष्ट्र को उन्नति पर पहुँचाते हैं। अतः ऐसे बालकों की शिक्षा का प्रश्न राष्ट्र के भविष्य की दृष्टि से बड़े ही महत्व का है।

प्रखर बुद्धि बालक की अध्ययन की गति तेज होती है। अतः सामान्य बालकों के स्तर की बातें शीघ्र सीख लेता है। शेष समय में स्वाभाविक उद्दंडता के आधार पर शैतानियाँ प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार वह अध्यापक के कार्य में बाधा उत्पन्न करता है। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति उसे अनैतिकता की ओर ले जाती है। अतः प्रखर बुद्धि बालकों की शिक्षा पर विशेष चिन्तन की आवश्यकता है।

प्रतिभावान् बालक दो प्रकार के होते हैं —

(१) किसी एक विषय में प्रतिभा दर्शाने वाले।

(२) सभी विषयों में प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले।

(१) इन दोनों प्रकार के बालकों की दृष्टि से उनकी शिक्षा का क्रम भिन्न बताया जाना चाहिये। प्रथम प्रकार के बालक जो किसी एक ही विषय में प्रतिभा दिखाते हैं सामान्य बालकों की शाला में पढ़ाये जा सकते हैं। जिस विषय में बालक की विशेष प्रतिभा है उस विषय के अध्यापक को चाहिए कि वह बालक की प्रतिभा को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिये विशेष क्षेत्र प्रदान करे। उसे प्रोत्साहित करे। अध्यापकों से उचित प्रोत्साहन पाते हुए उस विषय में विशेष दक्षता पाकर वे समाज को किसी दिन मौलिक देन दे सकते हैं। इस प्रकार उनकी विशेष विषय की क्षुधा की तृप्ति होती रहेगी और शेष विषय वह साधारण बालक के साथ पढ़ता रहेगा।

(२) जो बालक साधारण बालक की अपेक्षा सभी विषयों की प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले हो अर्थात् सभी विषयों के पढ़ने की गति तीव्र हो और अपनी प्रखर बुद्धि का पूर्ण प्रदर्शन कर रहे हो उनको सामान्य बालकों के साथ पढ़ाया जाकर उनकी विशेषता की हत्या करना है। अतः इनके लिए अलग से प्रबन्ध किये जाते हैं। इनके लिये कुछ भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ प्रयोग में लाई गई हैं।

प्रथम प्रणाली तो यह है कि ऐसे बालकों की कक्षायें साधारण बालकों की शाला में ही पाई जाती हैं। इन कक्षाओं को पिछड़े हुए बालकों की 'विशेष कक्षाओं' की एक ही नाम की भ्रांति को स्पष्ट करने के लिए 'उच्च विशेष कक्षायें' कहा जाता है। ऐसे प्रयोग अमेरिका में किए गए हैं। इन कक्षाओं की पढ़ाई सामान्य बालकों की अपेक्षा उच्च स्तर की होती है। बाकी सभी कार्यक्रम में सभी बालक साथ रहते हैं।

द्वितीय प्रणाली यह है कि प्रखर बुद्धि बालकों को सामान्य बुद्धि बालकों के साथ ही पढ़ाया जाता है। पर उनकी गति तीव्र होने के कारण उनकी परीक्षा छः मास ही में लेकर उन्हें आगे की कक्षा में चढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार उनकी मानसिक शक्ति का पूरा तो सदुपयोग होता ही है। पर इस प्रणाली में त्रुटियाँ हैं—(१) प्रथम तो यह है कि अध्यापक के लिए यह कठिन हो जाता है कि एक ही कक्षा में वह प्रतिभावान् बालकों की गति तीव्र रखे और शेष बालकों की सामान्य। (२) द्वितीय यह है कि इस प्रकार की सम्मिलित कक्षाओं में प्रतिभावान् छात्रों की सर्वांगीण प्रगति की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता है। (३) तृतीय यह कि प्रतिभावान् छात्रों की प्रगति में किंचित भी शिथिलता आते ही वे उद्दण्डता प्रारम्भ कर देते हैं और अध्यापक के लिए एक समस्या बन जाते हैं। (४) चतुर्थ यह है कि प्रतिभावान् बालकों को छः मास में ही जिस कक्षा के छात्रों से आगे की कक्षा में चढ़ाया जाता है उन छात्रों पर मनोवैज्ञानिक कुप्रभाव पड़ता है। (५) पाँचवा यह है कि आगे की कक्षा में पहुँचकर बालक बड़ी उम्र के बालकों में छोटी उम्र का बन जाता है जिससे बड़ी आयु के बालक उस नवागन्तुक बालक को चिढ़ाने लगते हैं और नीचा दिखाने लगते हैं। इस प्रकार कक्षा का वातावरण बिगड़ता है। उनकी नैतिक हानि होती है।

तृतीय प्रणाली यह है कि प्रखर बुद्धि बालकों के लिए अलग ही स्कूल चलाये जाते हैं। सभी विषयों में प्रखरता दिखाने वाले बालकों की संख्या बहुत कम ही होती है। अतः यद्यपि बालक का उपयुक्त विकास अलग ही स्कूल में हो सकता है फिर भी इसके लिये यह दोष लगाया जाता है कि यह राष्ट्र पर अतिरिक्त व्यय भार है साथ ही समाज में अन्तर पटकने की भावना पैदा होती है।

प्रखर बुद्धि बालकों का वास्तविक विकास तो उन्हें अलग से शिक्षा प्रदान करने पर ही हो सकता है और जबकि ऐसे बालक समाज के कर्णधार और नेता बनते हैं। ऐसी अवस्था में यदि राष्ट्र उनके लिये अतिरिक्त व्यय करे तो यह व्यर्थ नहीं। अतः ऐसे बालकों को अलग ही शिक्षा दिया जाना सर्वोत्तम होगा।

विशेष बालकों की शिक्षा एवं बुनियादी शिक्षा—विशेष बालकों की शिक्षा के लिये बुनियादी शिक्षा कहाँ तक प्रयत्नशील है इस पर विशेष बालकों के विभाजन के अनुकूल ही प्रकाश डालना उचित होगा।

(१) जड़ और मूढ़ बुद्धि बालक की शिक्षा एवं बुनियादी शिक्षा—जड़ और मूढ़ बुद्धि बालकों की संख्या यद्यपि न्यूनतम होती है तथापि उनकी शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक है जिससे वे किसी का भार न बन सकें। ऐसे बालकों को शिक्षित करने का उद्देश्य उन्हें जीविकोपार्जन हेतु योग्य बनाना है। बुनियादी शिक्षा का प्रमुख ... बालक को स्वावलम्बी बनाना है। अतः उद्देश्य की दृष्टि से तो यह जड़ ... की शिक्षा के उपयुक्त ठहरती है।

... का प्रश्न है, वहाँ जड़ और मूढ़ बुद्धि बालक के लिए यह

आवश्यक है कि उसे प्रथम कर्मेन्द्रियों तथा तत्पश्चात् ज्ञानेन्द्रियों से काम लेने की शिक्षा दी जानी चाहिये। कर्मेन्द्रियों से कार्य लेने के अवसर में उन्हें दौड़ने, नाचने, गाने, खेलने की ओर प्रवृत्त किया जाय और जब उसकी गति तीव्र हो जाय तो उन्हें बागवानी, कताई, बुनाई, लकड़ी का काम आदि उद्योग सिखाये जाएँ और तत्पश्चात् लिखना, पढ़ना, जोड़ना, घटाना आदि सिखाया जाय। कहना न होगा बुनियादी शिक्षा जड़ और मूढ़ बुद्धि बालकों की इस प्रकार की शिक्षा के भी अनुपयुक्त नहीं ठहरती।

यद्यपि बुनियादी शिक्षा जड़ और मूढ़ बुद्धि बालकों को प्रतिभावान् तो नहीं बना सकती पर यह अवश्य है कि वह ऐसे बालकों को दी जाने वाली उपयुक्त शिक्षा अवश्य है। बुनियादी शिक्षा रचनात्मक उद्योग द्वारा ही बालक को लिखना-पढ़ना सिखाती है। अतः यही शिक्षा ऐसे छात्रों के लिए अनुकूल और सफल सिद्ध हो सकती है।

(२) **बुद्धि में पिछड़े हुए बालकों को शिक्षा एवं बुनियादी शिक्षा**—पिछड़े हुए बालकों से भी हाथ का कार्य अधिक कराया जाना चाहिए। इस प्रकार उन्हें जितना अधिक हाथ से कार्य करने का क्षेत्र प्रदान किया जायगा उतना ही वे जीवन में अधिक सफलता प्राप्त कर सकेंगे। उन्हें कृषि, बागवानी, बढ़ईगिरी तथा मिट्टी-कुट्टी का काम, चित्रकारी, रंगाई, कताई, बुनाई आदि कार्य करने की ओर प्रवृत्त किया जा सकता है। बुनियादी शिक्षा ऐसे छात्रों की आवश्यकता की पूर्ति करती है। बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को चाहिए कि पिछड़े हुए बालकों को उद्योग की ओर अधिक प्रवृत्त करे। उनके अधिक समय का उपयोग रचनात्मक कार्य में कराया जाय। उनमें स्वावलम्बन की भावना भरी जाए जिससे वे सफल दस्तकार बन सकेंगे और समाज के भार न बनेंगे।

पिछड़े हुए बालकों को पढ़ाने के लिए कक्षा में अध्यापक उनकी ओर विशेष ध्यान दे सके। अतः ऐसे बालकों की कक्षायें अलग संचालित की जानी चाहियें। अध्यापकों को ऐसे बालकों की शिक्षा में विशेष रुचि लेनी चाहिए।

(३) **प्रतिभावान् बालक और बुनियादी शिक्षा**—प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा राष्ट्र की प्रगति के लिए बड़ी महत्वपूर्ण है। अतः उन्हें सूक्ष्म चिन्तन की उच्चतर शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार यद्यपि मन्दबुद्धि, सामान्य और प्रतिभावान् बालकों की दृष्टि से शिक्षा का वर्गीकरण तो नहीं किया जा सकता तथापि इस अखण्ड ज्ञान से भरपूर जगत में अपनी बुद्धि और प्रवृत्तियों के आधार पर अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर चिन्तनशील बन सके इस बात की सुविधा उत्पन्न करना शिक्षा-जगत का कार्य होना चाहिये। साथ ही राष्ट्र की महत्ताओं, उसकी संस्कृति से ओतप्रोत शिक्षा ही प्रतिभावान् बालकों को दी जानी चाहिये जो इस भूमण्डल पर अन्य देशों के सम्मुख अपने राष्ट्र की विशेषताओं को स्वाभिमान के साथ रख सकें।

महात्मा गांधी की सत्य अहिंसा पर आधारित और सर्वोदय के लक्ष्य की

और उन्मुग बुनियादी शिक्षा भारत की शाश्वत संस्कृति की रक्षा करती है। अतः इस बुनियादी शिक्षा में प्रतिभावान् बालकों के ग्रहण करने के लिए विस्तृत ज्ञान-राशि संचित है क्योंकि सम्पूर्ण जगत ही बुनियादी शिक्षा का अनुसार है। केवल प्रणाली हाथ से कार्य कर ज्ञान प्राप्त करने की विधि पर अवलम्बित है।

अतः बुनियादी शिक्षा में प्रतिभावान् बालकों के लिए उनकी क्षमता के अनुकूल अधिकाधिक गतिशील कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए जिससे उनकी प्रतिभा के प्रदर्शन में कोई बाधा उत्पन्न न हो। जहाँ तक हो सके अलग स्कूल ऐसे बालकों के लिए अधिक सहायक होंगे। उनका पाठ्यक्रम भी छात्रों की प्रतिभा के अनुकूल होना चाहिए तथा अनुभवी एवं विद्वान् अध्यापकों को उन स्कूलों में रखा जाना चाहिए।

सारांश

साधारणतया बालकों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(१) प्रतिभावान्, (२) सामान्य, (३) मन्दबुद्धि। सामान्य को छोड़कर शेष दो को विशेष बालक कहा जाता है। अतः विशेष बालक दो प्रकार के हुए—(१) प्रतिभावान्, (२) मन्दबुद्धि। प्रत्येक प्रकार के बालकों की शिक्षा अलग-अलग होनी चाहिए।

मन्दबुद्धि बालकों की शिक्षा—मन्दबुद्धि बालकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) बुद्धि में पिछड़े हुए व (२) जड़ और मूढ़।

जड़ और मूढ़ बालकों की पहचान—बुद्धि-लब्धि के आधार पर पता लगाने के साथ ही उनके व्यवहार, साधारण बातचीत का ढंग, उनकी क्रियाओं आदि से पता लगाया जा सकता है।

जड़ और मूढ़ बालकों की शिक्षा—बेल्जियम के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक महाशय सेगविन ने डिकरोली विधि का आविष्कार किया। ऐसे बालकों की कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय का विकास कर रचनात्मक कार्यों के आधार पर लिखना, पढ़ना, जोड़ना, घटाना सिखाना चाहिए।

बुद्धि में पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा—पिछड़े हुए बालकों की पहचान—बुद्धिमापक परीक्षाओं के साथ ही बालकों की पढ़ने में अरुचि, एक ही कक्षा में फेल होते रहना, स्मरण शक्ति की निर्बलता, कम बोलना आदि से ऐसे बालकों का पता लगाया जा सकता है।

पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा—दो प्रकार के प्रयोग देखे गये हैं। प्रथम, अलग स्कूल प्रारम्भ करना और सामान्य बालकों के स्तर पर आ जाने पर सामान्य बालकों के स्कूल में परिवर्तित करना। दूसरा, सामान्य बालकों की शाला में ही 'विशेष कक्षायें' चलाई जाती हैं। कतिपय विषयों को अलग-अलग पढ़ाने के सिवाय शाला के अन्य सभी कार्य सामूहिक होते हैं। ऐसे बालकों को रचनात्मक कार्य सिखाकर उन्हें सफल दस्तकार, किसान, बढ़ई, कलाकार बनाया जा सकता है।

प्रतिभावान् बालकों की पहचान—प्रतिभावान बालकों की पहचान—बुद्धि

परीक्षा के साथ ही उनकी सभ्यता, सूक्ष्म सूझ, वार्तालाप का ढंग, अच्छी आदतें आदि से प्रतिभावान् बालकों को पहचाना जा सकता है।

प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा—प्रतिभावान् बालक दो प्रकार के होते हैं—(१) किसी एक विषय में प्रतिभा दर्शाने वाले, (२) सभी विषयों में प्रतिभा दर्शाने वाले। एक विषय में प्रतिभा दर्शाने वालों को सामान्य बालकों की शाला ही में रखना चाहिए। उनकी विशेष की क्षुधा की तृप्ति के लिए अध्यापक को अधिक रत्नशील रहना चाहिये। सभी विषयों में प्रतिभाशाली बालकों के लिए ३ प्रणालियां प्रचलित हैं—(१) ऐसे बालकों की कक्षायें साधारण बालकों के स्कूल ही में लगाना, (२) प्रखर बुद्धि बालकों को सामान्य बुद्धि बालकों की कक्षा में ही साथ-साथ पढ़ाना तथा (३) अलग स्कूल चलाना। उपयुक्त प्रणाली अलग स्कूल चलाना ही है।

विशेष बालकों की शिक्षा और बुनियादी शिक्षा

(१) जड़ और मूढ़ बुद्धि बालको की शिक्षा और बुनियादी शिक्षा—ऐसे बालकों की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से कार्य लेने की शक्ति उत्पन्न कर, उन्हें रचनात्मक कार्य सिखाकर लिखना-पढ़ना सिखाने के अनुकूल ही बुनियादी शिक्षा है।

(२) पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा और बुनियादी शिक्षा—ऐसे बालकों से अत्यधिक रचनात्मक कार्य कराकर उन्हें सफल दस्तकार, बढ़ई आदि बनाया जाना चाहिए और बुनियादी शिक्षा यही करती है।

(३) प्रतिभावान् बालक और बुनियादी शिक्षा—राष्ट्र की संस्कृति के आधार पर चिन्तनशील पाठ्यक्रम ही प्रतिभावान बालकों की शिक्षा की सामग्री होना चाहिए। सत्य-अहिंसा आधारमूलक तथा सर्वोदय लक्ष्यकारी बुनियादी शिक्षा प्रतिभावान् बालकों के लिए विस्तृत उपयुक्त क्षेत्र उपस्थित करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) पिछड़े हुए बालक कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक की क्या-क्या पहचान है?

(२) जड़ बुद्धि बालकों की शिक्षा के लिए किन-किन साधनों का प्रयोग उचित होगा?

(३) मंद बुद्धि बालकों की शिक्षा यदि साधारण बुद्धि बालकों के साथ हो तो उसमें क्या कठिनाइयाँ आवेंगी? आप उसके सुधार के लिए कौन सा उपाय ठीक समझते हैं?

(४) बुनियादी शिक्षा पद्धति में पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा के लिए कौन-कौन से साधन हैं?

(५) प्रखर बुद्धि बालक कितने प्रकार के होते हैं और प्रत्येक की क्या पहचान है?

(६) एक विषय में प्रखर बुद्धि बालक की शिक्षा के लिए अध्यापक को कैसी व्यवस्था करनी ?

(७) सभी विषयों में प्रखर बुद्धि बालक को साधारण बुद्धि बालकों के साथ शिक्षा देने में कठिनाइयाँ आवेंगी? इस प्रकार के प्रखर बुद्धि बालकों की शिक्षा व्यवस्था कैसी होनी ?

(८) बुनियादी शिक्षा में प्रखर बुद्धि बालकों की शिक्षा के लिए कितना क्षेत्र विद्यमान है? इसी दृष्टि से क्या सुधार होना चाहिए?

—:०:—

अपराधी बालक

अपराध सामाजिक अवगुण है। कई बालकों को हम अपराधी बालक कहकर पुकारते है। जब बालक का व्यवहार सामाजिक नियमों के प्रतिकूल बन जाता है और वह राज्य के कानूनों के विरुद्ध आचरण करने लगता है, तभी उसे हम अपराधी बालक कहते हैं। बालक के अपने आपको वातावरण मे व्यवस्थित नहीं कर पाने से उसका इस प्रकार का व्यवहार बन जाता है। ऐसे बालकों के प्रति शिक्षक को विशेष प्रकार से सजग रहकर उनकी बुराइयों को दूर करना पड़ता है। इस कार्य में वह किस प्रकार यत्न करे, यही इस पाठ मे स्पष्ट किया जावेगा।

अपराधी बालक का स्वरूप—अपराधी बालक को समाज की अस्वीकृत बातों को प्रयोग में लाने की आदत बन जाती है। वह चोरी करता है, झूठ बोलता है, गालियाँ देता है एवं ऐसी ही अनेक गलतियाँ करता है। पाठशाला से भाग जाना *उसका साधारण काम हो जाता है। भीख माँगना अथवा वस्तुओं को माँग कर वापिस* न लौटाना, अन्य बालकों को पीटना, लड़ाई-झगड़े करना आदि कार्य अपराधी बालकों द्वारा किए जाते हैं। घर में माता-पिता, विद्यालय में अध्यापक, घर और स्कूल के बाहर का सम्पूर्ण समाज ऐसे बालकों से दुःखी हो जाता है। परन्तु सत्य तो यह है कि ये ही बालक को अपराधी बनाने के कारण हैं।

बालकों के अपराध के कारण—प्राचीन काल में बालकों के अपराध का कारण किसी भूत, प्रेत अथवा शैतान का प्रभाव समझा जाता था। कभी-कभी निःसन्तान दम्पति के देवी-देवताओं की भरसक अर्चना के बाद भाग्य से पुत्र उत्पन्न हो जाता है तो अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण बालक अपराधी बन जाता है, पर अपढ़ माता-पिता उसको भगवान् की पूजा में किसी प्रकार की कमी रह जाना मान-कर अपने को जीवन भर कोसते रहते हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के अन्धविश्वास प्रायः समाप्त हो रहे हैं। बालक के अपराध के कारणों का मनोवैज्ञानिक आधार है। घर अथवा समाज, पाठशाला अथवा मित्र कोई भी किसी भी प्रकार से बालक की थोड़ी भी उपेक्षा करते हैं तो बालक अपराधी बन जाता है। बालक के अपराधों को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ३ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) घरेलू कारण।

(ख) वातावरण सम्बन्धी कारण।

(ग) व्यक्तिगत कारण।

(क) **घरेलू कारण**—घर की परिस्थितियाँ तथा वातावरण के अन्तर्गत

ही आती हैं फिर भी घर की परिस्थितियाँ बालक के जीवन के रास्ते को निश्चित करने में प्रमुख हाथ रखती हैं। अतः घरेलू कारणों की अलग विवेचना आवश्यक है।

(१) कौटुम्बिक आर्थिक व्यवस्था – बालक के जीवन पर कुटुम्ब की माली हालत का गहरा असर पड़ता है। हमारे देश में प्रायः घरों की माली हालत बिगड़ी हुई है। गरीबी बालक को अपराधी बना देती है। कारण है कि बालक की बहुत-सी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती। अपराधी बालकों में से ज्यादातर इसी से अपराधी बन जाते हैं। माता-पिता यदि बेकार हों तो घर की स्थिति और भी बिगड़ी हुई होती है। अतः साधारण आवश्यकता की पूर्ति के लिए यहाँ तक कि क्षुधा-शान्ति के लिए भी बालक भीख माँगने, चोरी करने अथवा असामाजिक व्यवहारों की ओर झुक जाते हैं। कई बार बेकारी के कारण अथवा आर्थिक व्यवस्था खराब होने के कारण माता-पिता परस्पर झगड़ते हैं जिसका प्रभाव बालक पर पड़ता है। बालक घर छोड़ कर भाग जाते हैं और इच्छा पूर्ति के लिए अनैतिक साधनों को अपना लेते हैं।

बालक के जीवन पर माता-पिता के जीवन का प्रभाव बहुत ज्यादा पड़ता है। यदि माता भी घर की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए बालक को घर पर छोड़कर नौकरी करने के हेतु चली जाती है तो माता से लम्बे समय तक अलग रहने के कारण उस पर मानसिक कुप्रभाव पड़ता है। साथ ही माता की अनुपस्थिति में बालक मनमानी करते हैं और ऐसी आदतें सीखते हैं जो उन्हें अपराध करने की ओर प्रेरित करती हैं।

(२) माता-पिता का कठोर नियन्त्रण––माता-पिता के कठोर नियन्त्रण से बालक की मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का दमन हो जाता है जो असामाजिक कार्यों के रूप में समय पाकर उभर आते हैं। कठोर नियन्त्रण से स्वाभाविक इच्छायें दब जाती हैं। मन ही मन माता-पिता से विरोध की भावना उत्पन्न कर एक दिन वह प्रत्यक्ष विरोध कर बैठता है और यह विरोध भावना समाज की विरोधी बन जाती है। बालक समाज विमुख और निराशावादी बन जाता है। उसकी द्वन्द्व प्रवृत्ति उग्र एवं अनैतिक रूप धारण कर लेती है।

(३) घरेलू कलह––माता-पिता के आपसी झगड़ों का भी बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उन झगड़ों के कारण बालक अपने को अरक्षित समझता है। अतः वह चोरी की ओर प्रवृत्त होता है। चोरी द्वारा वस्तुओं को प्राप्त कर वह अपनी स्थिति दृढ़ बनाना चाहता है।

(४) सौतेले माता-पिता का व्यवहार––जिसे माँ का सुख प्राप्त नहीं उसने संसार में व्यर्थ जन्म धारण किया है। क्योंकि सौतेली माता से बालक उस स्नेह को प्राप्त नहीं कर सकता जो उसे असली माता से प्राप्त हो सकता था। अतः सौतेले माता-पिता से वांछित वात्सल्य प्राप्त न कर बालक में संवेगात्मक तनाव आ जाता है और वह अपराधों की ओर अग्रसर हो जाता है।

(५) **घर के बालकों के प्रति व्यवहार-भिन्नता**—प्रायः घर में नए शिशु के आ जाने पर माता-पिता का स्नेह विभाजित हो जाता है। यहाँ तक कि सबसे छोटे शिशु पर ही माता का स्नेह केन्द्रित होते देखा गया है जिससे बड़े बच्चों में ईर्ष्या और वैमनस्य की भावनायें पैदा हो जाती हैं।

कभी-कभी घर में माता-पिता एक बालक की प्रशंसा करते हैं और दूसरे बालकों की निन्दा। इससे बालक हतोत्साहित हो जाता है। उनके आत्मसम्मान-स्थायी भाव को ठेस लगती है और वह विरोधी चेष्टायें प्रारम्भ कर देता है। जिस बालक को यथोचित स्नेह नहीं मिलता उसके मन में असामाजिक भावना ग्रंथि स्थान ग्रहण कर लेती है। जिन लड़कियों को घर में स्नेह नहीं प्राप्त होता वे अपनी काम-भावना सम्बन्धी अनैतिक व्यवहार की ओर प्रवृत्त होकर प्यार और सम्मान की चाह में सब कुछ न्यौछावर करने को उद्यत हो जाती हैं।

(६) **अत्यधिक लाड़-प्यार**—आवश्यकता से अधिक लाड़-प्यार के कारण भी बालक प्रायः बिगड़ते देखे गये हैं, क्योंकि ऐसे बालक की प्रत्येक इच्छा घर पर पूरी हो जाती है। पर घर के बाहर उनकी इच्छायें पूरी नहीं हो पाती जिसके कारण वे मनमाने आचरण करने लग जाते हैं।

(७) **अच्छी बातें सिखाने में माता-पिता की अयोग्यता**—हमारे देश में पढ़े-लिखे समझदार माता-पिताओं का बड़ा भारी अभाव है जिसके कारण बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन नहीं हो पाता। यही कारण है कि अशिक्षित एवं मूर्ख माता-पिता की सन्तानें मूर्खता के कार्य करती हैं।

(८) **माता-पिता की मानसिक दुर्बलता**—कई माता-पिता या अन्य सम्बन्धी चिड़चिड़े स्वभाव के होते हैं। बात-बात पर टोकते हैं। माता-पिता अपनी स्वयं की दुर्बलताओं के शिकार बालकों को बनाते हैं, जिससे बालक अपराधी बन जाता है। माता-पिता की मानसिक अस्वस्थता तथा असंतुलन के कारण प्रायः ऐसा होता देखा गया है।

(९) **अन्य कारण**—

(अ) घर में शराबखोरी, अनैतिकता, निर्दयता का वातावरण होना।

(आ) माता-पिता द्वारा बालकों को अनैतिक कार्यों की ओर प्रवृत्त करना जैसे भीख माँगना, चोरी करने आदि के लिए उत्साह देना।

(इ) कुटुम्ब की इच्छा के अनुसार उन्नति करने में असमर्थ होना।

(ई) माता-पिता द्वारा एक दूसरे का तलाक, जबकि बालक दोनों को प्यार करता हो।

(ख) **वातावरण सम्बन्धी कारण**—

(१) **अनैतिक कारण**—प्रत्येक शहर में गन्दी बस्तियों के क्षेत्र देखने को मिलते हैं। इन बस्तियों का रहन-सहन अनैतिक होता है। इन बस्तियों के बालक भी

वातावरण के अनुसार अनैतिक बातें सीखते हैं जैसे जुआ खेलना, वेश्यालय-गमन, मनोरंजन के अनैतिक साधन आदि।

(२) समूह प्रवृत्ति—किशोरावस्था में बालक अपनी उम्र के मित्रों के समूह में रहता है। ऐसे समूह में यदि एक भी बालक अनैतिक हुआ तो वह अपने साथी को भी अनैतिक कार्य के लिये प्रोत्साहित करता है। इस तरह छूत के रोग के समान समूह के सभी बालकों में यह अनैतिकता फैल जाती है और तब सम्पूर्ण समूह गिरोह द्वारा किये जाने वाले अनैतिक व्यवहार करना प्रारम्भ कर देता है जैसे रेलगाड़ी पर पत्थर फेंकना, भिखमंगों को चिढ़ाना, कहीं आग लगा देना, बगीचे में घुसकर माली को पीटना, खोमचा लूटना आदि।

(३) अवकाश का दुरुपयोग—पाठशाला तथा विद्यालय की वर्तमान शिक्षा बालक की दिनचर्या को व्यवस्थित नहीं करती जिसके कारण बालक स्कूल से घर आने के बाद अपने लिये काम की कमी पाते हैं। पर उनका मस्तिष्क उन्हें बेकार नहीं रहने देता जिसके कारण मस्तिष्क अनैतिक कार्य करने को प्रेरित करता है। इसी प्रकार मिल, फैक्टरी, कारखाने आदि में कार्य करने वाले बालक अतिरिक्त अवकाश को बिताने के लिए उसका सदुपयोग न कर शिक्षा के अभाव में दुरुपयोग करते हैं और अनैतिक कार्य करते हैं।

(४) प्रौढ़ों अथवा साथियों का अभद्र व्यवहार—कई बार प्रौढ़ अथवा साथी बालकों को चिढ़ाते हैं जिसके कारण उनमें आत्महीनता उत्पन्न होकर अनैतिकता जाग्रत हो जाती है। इसी प्रकार पाठशाला के परीक्षाफल के समय बालक असफल होने पर साथी बालकों से अपमानित किये जाते हैं जिसके कारण भी वे अपराधी बनने लगते हैं।

(५) वातावरण द्वारा उद्दीपन—सिनेमा इसमें प्रमुख है। सिनेमा की कहानियों का अभिनयात्मक रूप देखकर किशोर भी स्वयं ऐसा ही करने लगते हैं। इसी के साथ वेश्यालय, द्यूतालय, गन्दे होटल, अड्डे आदि ऐसे स्थान हैं जो तरुणों के अनैतिक कार्यों के कारण बनते हैं।

(ग) व्यक्तिगत कारण—व्यक्तिगत कारणों में बालक के मानस सम्बन्धी एवं शरीर सम्बन्धी सभी कारणों का समावेश हो जाता है।

(१) शारीरिक असमर्थता—रोगी, निर्बल, अंगहीन, कुरूप बालक स्वतः अपराधी नहीं बनते वरन् समाज उन्हें अपराधी बनने के लिए बाध्य करता है। ऐसे बालकों को समाज व्यंग्य सुनाने का आदी है जिससे उनमें आत्महीनता उत्पन्न होकर वे अपराधी बन जाते हैं।

(२) मन्द अथवा तीव्र मति से विकास—अधिकतर बालक सामान्य गति से विकास प्राप्त करते हैं। पर जिन बालकों की गति अपेक्षाकृत मन्द अथवा तीव्र होती है, वे अपनी उम्र वाले बालकों की सामान्य गति के अनुसार नहीं निभ सकते हैं, जिससे उनका मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। तीव्र गति वाला बालक अपने से

धीमी गति वाले बालकों को चिढ़ाता है और अपने बचे हुए समय का दुरुपयोग करता है। मन्द गति वाले बालकों में आत्महीनता उत्पन्न हो जाती है और वह अनैतिक मार्ग ग्रहण करते हैं।

(३) **काम प्रवृत्ति का प्रवाह**—तरुणों में काम प्रवृत्ति के विकास के समय काम सम्बन्धी बातें जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। पर माता-पिता और तरुण परस्पर संकोचवश इस विषय पर बातचीत नहीं करते, जिसके कारण लड़के-लड़कियाँ दोनों ही जिज्ञासा पूर्ति के लिए अनैतिक साधनों का प्रयोग करते हैं।

(४) **भय की उत्पत्ति**—कभी-कभी घर में बालकों द्वारा किया गया नुकसान उनके जीवन प्रवाह को मोड़ देता है। जैसे बालक के द्वारा आभूषण का खो जाना, घर की मूल्यवान वस्तु का टूट जाना, परीक्षा में असफल हो जाना आदि। ये घटनाएँ बालक मे माता-पिता का भय उत्पन्न कर देती हैं जिसके फलस्वरूप बालक अनैतिक मार्गों का अनुकरण कर लेता है।

(५) **शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति का अभाव**—भोजन, जल, नींद तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति समय पर न होने पर बालक के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता।

(६) **आत्म-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ति का अभाव**—कभी बालक की मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती जैसे, प्रशंसा-प्राप्ति, प्रोत्साहन, सम्मान आदि समय पर प्राप्त नहीं होते। जिसके कारण भी बालक निराशावादी, उत्साहहीन और स्वयं के प्रति ग्लानि करने वाला हो जाता है। जिसके फलस्वरूप वह अनैतिक कार्यों द्वारा ख्याति प्राप्त करने की इच्छा रखता है। इसी प्रवृत्ति से कुख्याति प्राप्त करने पर भी बालक को सन्तोष मिलता है।

इस तरह बालक के अपराधी बनने का कोई एक कारण नहीं बन सकता। कुछ घरेलू परिस्थितियाँ, कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ और कुछ व्यक्तिगत, शारीरिक एवं मानसिक परिस्थितियाँ ही बालक को अपराधी बनाती हैं। अतः अपराधी बालकों के सुधार के लिए इन्हीं कारणों को दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

अपराधी बालकों का सुधार

अपराध की खोज—विदेशों की भाँति हमारे देश में भी अपराधी बालकों के सुधार के लिये बाल निर्देशन केन्द्र खोले गये हैं, यद्यपि उनकी संख्या नगण्य-सी है। इन केन्द्रों पर लाये गये अपराधी बालकों में सुधार का प्रयत्न किया जाता है।

वस्तुतः अपराधियों को पकड़ने का कार्य देश की पुलिस का है। इन अपराधियों में प्रौढ़ अपराधियों के साथ-साथ अपराधी बालक भी पकड़ लिये जाते हैं। पर प्रौढ़ अपराधियों एवं अपराधी बालकों के साथ व्यवहार करने में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवश्य अन्तर होना चाहिये। अपराधी बालकों के अपराध के कारण जानने के लिये कठोरता का प्रयोग कभी सफल न होगा चाहे प्रौढ़ अपराधियों के लिए ऐसा

सम्भव हो सके और जब तक अपराधी बालकों के अपराध के कारणों का सम्यक् अध्ययन न किया जायगा तब तक उनमें सुधार शीघ्र सम्भव नही।

अपराधों के जानने के लिये घरेलू परिस्थितियों, सामाजिक परिस्थितियो, बालक के बीते हुये जीवन एवं शारीरिक परिस्थितियों का अध्ययन तथा उनका मनोविश्लेषणात्मक अन्वेषण आवश्यक है। साथ ही न्यायाधीश का बालमनोविज्ञान से परिचित होना भी आवश्यक है। अपराधी बालक के साथ अपराधी जैसा व्यवहार न कर उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिये।

सुधार के उपाय—सुधार के निम्नलिखित उपाय हैं :—

(१) बालक अपराधी बहुधा माता-पिता के व्यवहार के कारण होते हैं। अतः माता-पिता के व्यवहार को सुधारना चाहिये।

(२) बालक के प्रति माता-पिता का व्यवहार कठोर न होना चाहिये।

(३) बालक की रुचियों के प्रति माता-पिता की सहानुभूति होनी चाहिये।

(४) आवश्यकता से अधिक लाड-प्यार बन्द कर देना चाहिये।

(५) बालक की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये।

(६) बालक के अपराध की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

(७) परिवार को सुधारना चाहिये।

(८) काम-वासना सम्बन्धी जिज्ञासा को शांत करना चाहिये।

(९) परिवार का अनैतिक व्यवहार, बालकों को चिढ़ाना तथा गलतफहमी आदि दूर कर दिये जाने चाहियें।

(१०) बालकों के आत्मसम्मान को ठेस न लगने देना चाहिये।

(११) स्कूल के वातावरण में सुधार किया जाना आवश्यक है।

(१२) बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति को उचित प्रवाह दिया जाना चाहिये।

(१३) कुसंगति से बचना चाहिये।

(१४) अवकाश के सदुपयोग का प्रबन्ध करना चाहिये।

(१५) अच्छी आदतें उत्पन्न करनी चाहियें।

(१६) शिक्षक, माता-पिता तथा अभिभावकों में सम्पर्क बना रहना चाहिये ताकि वे बालक की गतिविधियों से परिचित रहें।

(१७) मनोरंजन के लिये स्वस्थ साधन प्रयोग में लाये जाने चाहिएँ।

(१८) भीख मांगने वाले बालकों को कार्यों में लगाया जाना चाहिये।

(१९) अपराधी बालकों के लिए 'बाल निर्देशन केन्द्र' अधिकाधिक खोले जाने चाहिएँ। तथा जो बालक साधारणतया सुधारे न जा सकते हों उनको इन केन्द्रों में भेजा जाना चाहिए जहाँ उनमें मनोवैज्ञानिक ढंग पर सुधार किया जाय। उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध हो तथा उन्हें रचनात्मक कार्य, उद्योग आदि सिखाये जायें ताकि वे जीवकोपार्जन मे सफल हो सकें।

प्रकार अपराधी बालक के सुधार के लिए माता-पिता, अध्यापक, स्कूल, समाज, राज्याधिकारी सभी का सामूहिक प्रयत्न वांछनीय है।

अपराधी बालक और बुनियादी शिक्षा—जहाँ तक अपराध के कारणों का शिक्षा एवं स्कूल से सम्बन्ध है वर्तमान टकसाली शिक्षा बालकों में अपराध की भावनाएँ उत्पन्न करने का एक प्रमुख कारण है क्योंकि यह शिक्षा न तो बालक की मूल प्रवृत्तियों के विकास के लिए उचित क्षेत्र ही तैयार करती है, न ही उनके संवेगों का परिष्कार कर उनको समाजोपयोगी बनाती है तथा न ही उनके आत्मसम्मान के स्थायी भाव की रक्षा करती है। यही नहीं, यह शिक्षा बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति का कोई उपयोग नहीं करती जिसके कारण बालक भावी जीवन में जीविकोपार्जन में असफल रहता है। अध्ययन काल में भी यह शिक्षा बालक के अतिरिक्त अवकाश के सदुपयोग के लिए कोई शिक्षा नहीं देती जिसके कारण कार्य के अभाव में बालक का रिक्त मस्तिष्क भूतों का क्रीड़ास्थल बन जाता है। ये ही कारण हैं कि बालक वर्तमान शिक्षा पाते हुए भी अपराधी बनते जाते हैं।

बालकों में अच्छी आदतें उत्पन्न करने, उनके मन को स्वस्थ रखने तथा उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास करने में शिक्षा, स्कूल और अध्यापक का बहुत बड़ा हाथ होता है क्योंकि बालक अध्यापक में श्रद्धा रखकर अनुकरण करते हैं। पर वर्तमान टकसाली शिक्षा तो अध्यापक को भी अनुकरणीय आदेशों से वंचित किये हुए है। अध्यापक स्वयं स्कूल में अध्यापक अवश्य है पर आदर्श पिता नहीं। अपनी स्वयं की सन्तान के प्रति कर्त्तव्यों से वह अनभिज्ञ है। वह अवकाश का भी कोई सदुपयोग नहीं करता। उसकी स्वयं की कोई हॉबी नहीं। वह बालकों का अतिरिक्त अवकाश के सदुपयोग के लिये पथ प्रदर्शन नहीं कर सकता, उनको रचनात्मक कार्य नहीं सिखा सकता। इसीलिए अध्यापक का वर्तमान समय में सम्मान नहीं।

परन्तु इसके विपरीत बुनियादी शिक्षा बालकों को अपराधों से बचाने का प्रयत्न करती है। बालकों की मूल प्रवृत्तियों के विकास के लिए उपयुक्त क्षेत्र प्रदान करती है। संग्रह-प्रवृत्ति, रचनात्मक प्रवृत्ति आदि को कार्यान्वित होने का अच्छा वातावरण बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में मिलता है। यह शिक्षा आत्मसम्मान की रक्षा करती है, भावी समाज का बेकार नागरिक नहीं बनाती। अवकाश के समय का उपयोग करने के लिये वह बालक में क्षमता उत्पन्न करती है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा स्वतः अपराधों के निवारण में सफल है।

बुनियादी शिक्षा का अध्यापक भी अपने में पूर्ण है। उसमें बालक की श्रद्धा विशेष होती है क्योंकि वह बालक को रचनात्मक कार्य सिखाता है। वह बताता है कि घर पर अमुक-अमुक कार्य करने में तुम्हें स्वयं को तथा परिवार वालों को लाभ होगा। बालकों की उत्सुकता को वह बनाये रखता है। इस तरह अध्यापक स्वयं बालकों का मार्ग निर्देशन इस प्रकार से करता है कि उनमें परस्पर सहानुभूति एवं

सहयोग की भावनायें उत्पन्न होती है जिससे बालको का झुकाव अपराधो की ओर होने के लिए न अवसर ही मिलता है और न समय ही मिलता है।

सारांश

अपराधी बालक का स्वरूप—समाज की अस्वीकृत, अनैतिक बातों को प्रयोग करने वाले बालक को अपराधी कहा जाता है।

बालकों के अपराध के कारण—(क) घरेलू कारण—(१) कौटुम्बिक आर्थिक व्यवस्था, (२) माता-पिता का कठोर नियन्त्रण, (३) घरेलू कलह, (४) सौतेले माता-पिता का व्यवहार, (५) घर के बालकों के प्रति व्यवहार भिन्नता, (६) अत्यधिक लाड़-प्यार, (७) अच्छी बातें सिखाने में माता-पिता की अयोग्यता, (८) माता-पिता की मानसिक दुर्बलता, (९) अन्य कारण।

(ख) वातावरण सम्बन्धी कारण—(१) अनैतिक वातावरण, (२) समूह प्रवृत्ति, (३) अवकाश का दुरुपयोग, (४) प्रौढ़ों अथवा साथियों का अभद्र व्यवहार, (५) वातावरण द्वारा उद्दीपन।

(ग) व्यक्तिगत कारण—(१) शारीरिक अस्वस्थता, (२) मन्द अथवा तीव्र गति से विकास, (३) काम प्रवृत्ति का प्रवाह, (४) भय की उत्पत्ति, (५) शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति का अभाव, (६) आत्म-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ति का अभाव।

अपराधी बालक का सुधार—अपराध की खोज—घरेलू परिस्थितियों, सामाजिक, शारीरिक परिस्थितियों तथा मनोविश्लेषणात्मक अन्वेषण द्वारा अपराधों का अध्ययन आवश्यक है। सुधार के उपाय—(१) माता-पिता के व्यवहार में सुधार, (२) व्यवहार कठोर न होना चाहिये, (३) बालक की रुचियों के प्रति सहानुभूति होना, (४) अधिक लाड़-प्यार न करना, (५) शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना, (६) अपराधों की उपेक्षा नहीं करना, (७) परिवार को सुधारना, (८) काम-वासना की जिज्ञासा की शांति, (९) परिवार के अनैतिक व्यवहार को रोकना, (१०) आत्म-सम्मान की रक्षा, (११) स्कूल के वातावरण में सुधार, (१२) रचनात्मक प्रवृत्ति का उचित प्रवाह, (१३) कुसंगति से रक्षा, (१४) अवकाश का सदुपयोग करना, (१५) अच्छी आदतें उत्पन्न करना, (१६) शिक्षक, माता-पिता और अभिभावकों में सम्पर्क होना, (१७) मनोरंजन के स्वस्थ साधन, (१८) भीख मांगने से रोकना, (१९) बाल निर्देशन केन्द्रों की स्थापना।

अपराधी बालक और बुनियादी शिक्षा—वर्तमान टकसाली शिक्षा बालकों में अपराध-उत्पत्ति का कारण बनती है। बुनियादी शिक्षा बालकों को अपराधों की ओर झुकने का न अवसर ही प्रदान करती है और न समय ही।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) अपराधी बालक किसे कहते हैं ? ऐसे बालकों के क्या-क्या अपराध हुआ करते हैं

(२) बालकों के अपराधी बनने के क्या-क्या कारण होते हैं ?

(३) अपराधी बालकों के सुधार के लिए आप कौन-कौन से प्रयत्न करेंगे ?

(४) बुनियादी शिक्षा बालकों को अपराधों से दूर रखने व अपराधी बालकों में सुध करने के लिए कहाँ तक समर्थ है ?

—:०:—

व्यावसायिक निर्देशन

प्रत्येक प्राणी को उदरपूर्ति की आवश्यकता होती है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव को उदरपूर्ति के लिए साधन न केवल अपने ही लिए वरन् उस पर आधारित परिवार के लोगों के लिए भी जुटाने की आवश्यकता होती है। अतः उसके जीवन का प्रमुख कार्य उदरपूर्ति के लिए साधन जुटाना है। यद्यपि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य खाने के लिए जीवित रहना नहीं है अपितु उसे जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। फिर भी जीवन में भोजन की महत्ता से हम मुँह नहीं मोड़ सकते। मनुष्य के कार्यों का विश्लेषण किया जाय तो उनमें से अधिकांश कार्यों का मूलभूत आधार भोजन जुटाना है। शिक्षा के कई उद्देश्यों में से एक प्रमुख उद्देश्य जीविकोपार्जन है। अतः शिक्षा का कार्य ही ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को खाने-कमाने योग्य बना सके। मनुष्य की प्रमुख आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र और घर—में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भोजन है। भोजन के बिना मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं।

परन्तु वर्तमान टकसाली शिक्षा जीविकोपार्जन के उद्देश्य की पूर्ति कहाँ तक करती है यही एक प्रश्न है। यह शिक्षा तो व्यक्तिगत भेदों की उपेक्षा करती हुई केवल कर्मचारी बनाने को प्रयत्नशील रहती है। यही कारण है कि किसान, लुहार, सुनार, नाई और धोबी का लड़का भी इस शिक्षा को प्राप्त कर अपने घर के व्यवसाय को छोड़कर कर्मचारी बनने के लिए कार्यालयों में भटकता फिरता है। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों के शिक्षा-काल ही में यह जानने का प्रयत्न करे कि किस बालक में किस प्रकार के व्यवसाय को अपनाने की क्षमता विद्यमान है जिससे उसी व्यवसाय की शिक्षा दी जाकर बालक को एक सफल नागरिक बनाया जा सके।

व्यावसायिक निर्देशन का स्वरूप—बालक की विशेषताओं को ज्ञात कर उसमें जिस व्यवसाय को अपनाने की क्षमता है उसके अनुसार राय देना व्यावसायिक निर्देशन कहलाता है। व्यावसायिक निर्देशक का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण है। वह बालक के भावी जीवन का भाग्यनिर्माता होता है। उसी पर बालक के मानव-जीवन की सफलता, असफलता, आधारित रहती है। व्यावसायिक निर्देशन स्वयं ऐसा व्यवसाय है जो सभी प्रकार के व्यवसायों की विस्तृत जानकारी का समावेश करता है। यही नहीं व्यावसायिक निर्देशक बालक की बुद्धि, व्यक्तिगत क्षमता, चरित्र व रुचि आदि की परीक्षायें करके ही व्यवसाय अपनाने की सम्मति प्रदान कर सकता है। वर्तमान युग में वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप व्यक्ति को उपयुक्त व्यवसाय के चुनने में सहायता देना सुलभ हो गया है।

व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता—प्रायः हम देखते हैं कि आज तरुण अपने अनुसार व्यवसाय नहीं अपनाते वरन् वे अनिश्चित धन्धों को अपना हैं। इस प्रकार वे उस धन्धे में न प्रवीणता ही प्राप्त करते हैं और न वांछित जीवि ही उन्हें प्राप्त होती है। अत. यदि व्यक्ति की अनुकूल व्यवसाय के चुनाव और प्राप्ति में सहायता न की जाय तो व्यक्ति सुखी न रह सकेगा। क्योंकि ऐसी अवस्था में अपनी इच्छा तथा झुकाव के अनुकूल व्यवसाय पाने में असफल हो सकता है; साथ अनुकूल व्यवसाय न अपनाने पर उसके परिश्रम का समुचित फल भी समाज को मिल सकेगा। अतः व्यक्ति को व्यवसाय के चुनने और प्राप्त करने में सहायता मिलना अत्यन्त आवश्यक है।

इसकी आवश्यकता दो रूपों में स्वीकार्य है। प्रथम तो व्यक्ति को व्यावसायिक निर्देशन की दृष्टि से जिसमें व्यक्ति विशेष का अध्ययन कर अनुकूल व्यवसाय अपनाने की सम्मति दी जाती है। द्वितीय व्यवसाय विशेष के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव यह नियुक्तिकारों की दृष्टि से आवश्यक है ताकि उन्हें आवश्यकतानुसार उपयुक्त व्यक्ति उपलब्ध हो सकें।

भारत में व्यावसायिक निर्देशन की प्रगति—भारत में व्यावसायिक निर्देशन का इतिहास अठारह वर्ष पुराना है।

(१) सन् १९३८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मनोविज्ञान विभाग में व्यावसायिक निर्देशन का कार्य प्रारम्भ किया।

(२) १९४२-४३ में बम्बई में बाटलीवाय वोकेशनल गाइडेन्स ब्यूरो स्थापित हुआ।

(३) सन् १९४५ में पटना विश्वविद्यालय ने अपने छात्रों के लिए व्यावसायिक निर्देशन हेतु विभाग स्थापित किया।

(४) सन् १९४७ में पारसी पंचायत फंड बम्बई के अधिकारियों ने व्यावसायिक निर्देशन विभाग स्थापित किया। इस विभाग ने बम्बई में महत्वपूर्ण कार्य किये। निर्देशकों के लिए शिक्षण-शिविर चलाये। व्यावसायिक निर्देशन पर एक पत्रिका निकालना प्रारम्भ किया।

(५) सन् १९४७ में उत्तर-प्रदेश सरकार ने इलाहाबाद में मनोविज्ञान विभाग स्थापित किया। इसका उद्देश्य बाल्यावस्था में बालकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुकूल व्यवसाय के लिए उनका पथ-प्रदर्शन था। हाल ही में ५ स्थानों पर और विभाग खोले गये हैं।

(६) सन् १९४७ में बम्बई रोटेरी क्लब ने व्यावसायिक सूचना सम्बन्धी पुस्तिकाएँ निकालना प्रारम्भ किया।

(७) सन् १९५० में बम्बई सरकार ने व्यावसायिक निर्देशन विभाग प्रारम्भ किया। यह प्रान्त के शिक्षा-विभाग का ही एक अंग है। इसका उद्देश्य व्यक्तियों

को उपयुक्त व्यवसाय दिलाना, सरकार तथा नियुक्तिकारों के लिए उपयुक्त व्यक्ति खोजना तथा निर्देशन तैयार करने के लिए प्रशिक्षण-शिविर चलाना है।

(८) सन् १९५२ में बम्बई में वोकेशनल गाइडेन्स एसोसियेशन की स्थापना हुई।

(९) सन् १९५३ में भारत में सर्वप्रथम इस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं की एक बैठक दिल्ली में केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा बुलाई गई।

(१०) सन् १९५४ में दूसरी बैठक बुलाई गई। इसमें अखिल भारतीय व्यावसायिक निर्देशन समिति बनाने का निश्चय किया गया।

(११) सन् १९५४ में केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा तथा व्यावसायिक निर्देशन विभाग दिल्ली में खोला। जिसने अन्य प्रान्तों में इस प्रकार के विभाग खोले जाने के लिए सहायतायें देना प्रारम्भ किया।

(१२) इस प्रकार दूसरे स्थानों पर भी ऐसे विभाग खुले जैसे—वोकेशनल एण्ड एजुकेशनल गाइडेन्स ब्यूरो, बीकानेर ; यूनाइटेड क्रिश्चियन मिशन जालन्धर ; गुजरात रिसर्च सोसायटी, बम्बई ; बी० एम० इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद ; ब्यूरो आफ ऐजुकेशनल एण्ड साइकोलोजिकल रिसर्च, कलकत्ता ; आदि।

(१३) बम्बई राज्य सरकार ने व्यावसायिक निर्देशन-प्रशिक्षण देना प्रारम्भ कर दिया है।

भारत में इसकी प्रगति धीमी है जिसके कारण अधिकांश भारतवासी प्रायः अनुपयुक्त व्यवसाय चुनकर दुःखी होते हैं।

व्यावसायिक निर्देशन—अनुकूल व्यवसाय चुनने की सम्मति देना अत्यन्त कठिन है। इसमें व्यक्ति को यह राय दी जाती है कि वह किस व्यवसाय को अपनाकर अधिकाधिक जीविकोपार्जन कर सकता है तथा अपने जीवन को सफल बना सकता है। व्यावसायिक निर्देशन में शनैः शनैः व्यावसायिक चुनाव समाविशित हो जाता है क्योंकि उपयुक्त व्यक्ति उपयुक्त स्थान पर लगा दिया जाता है। पर प्रारम्भ में तो दोनों के अलग-अलग क्षेत्र हैं।

यों तो व्यावसायिक निर्देशन जीवन के किसी भी काल में किया जा सकता है पर ज्यों-ज्यों व्यक्ति आयु व्यतीत करता जाता है उसकी रुचि, इच्छा, उत्साह कम होते जाते हैं। फिर उसे उपयुक्त व्यवसाय के अपनाने में कोई उत्साह नहीं रहता। अतः व्यावसायिक निर्देशन के लिए उत्तम समय स्कूल का जीवन ही है। विद्यार्थी जीवन में ही बालक की प्रवृत्तियों और झुकावों को समझते हुए उसे आवश्यक निर्देश देना उचित है। यदि बालक प्रखर बुद्धि वाला है तो उच्चतर विषयों को पढ़ने के लिए सम्मति देनी चाहिए। इसके विपरीत मन्द-बुद्धि बालक को सरल विषय पढ़ने की सम्मति देनी चाहिए। इस प्रकार निर्देशक विद्यार्थी जीवन में ही बालक की शक्ति के अनुसार सुझाव देकर आगे की कठिनाइयों को बहुत हद तक कम कर सकता है।

प्रारम्भ ही से बालक की बुद्धि तथा विभिन्न योग्यताओं का पता लगा लेना चाहिए। विभिन्न व्यवसायों के लिए विभिन्न योग्यताओं की आवश्यकता होती है

जैसे—वायुयानों के चुनाव में प्रतिक्रिया-काल का ज्ञान बड़ा महत्वपूर्ण है। यही बात मशीन चलाने वालों के सम्बन्ध में भी देखी जाती है। टैक्स (ड्राइवरों) पर परीक्षाएं करने से यह प्रतीत हुआ है कि वे चालक जो अत्यधिक करते हैं उनका प्रतिक्रिया-काल बहुत ही अधिक होता है। अर्थात् अवसर उत्पन्न होने पर वे उपयुक्त निर्णय और चुनाव करने में असमर्थ होते हैं। प्रतिक्रिया का समय पर प्रयोग नहीं कर सकते। इसके विपरीत जो बालक अ प्रतिक्रिया दिखाते हैं वे भी अत्यधिक दुर्घटनायें किया करते हैं क्योंकि वे अपने प कता से अधिक विश्वास रखते हैं। अतः चालक का कार्य सीखने की सम्मति दी जानी चाहिए जिनका प्रतिक्रिया-काल आवश्यकता से न अधिक हो और

अतः व्यवसाय के अपनाने की सम्मति देने के पूर्व व्यक्ति की बुद्धि झुकाव-परीक्षा, तथा व्यक्तित्व-परीक्षा आदि सभी साधनों का प्रयोग आवश्यक

निर्देशन की विधि—व्यावसायिक निर्देशन का कार्य अत्यन्त कठिन है पूर्व शिक्षा-निर्देशन की आवश्यकता होती है। मान लीजिए कोई बालक आक है क्या मुझे गणित का विषय लेना पड़ेगा? टकसाली शिक्षा का अध्यापक स्वीकारात्मक या नकारात्मक उत्तर देगा। पर शिक्षा-निर्देशन की योग्यत वाला प्रगतिशील अध्यापक प्रश्न के पूछे जाने के कारणों की खोज करेगा। स्थिति का पता लगायेगा। उसके मित्रों का पता लगायेगा, उसने जो पहले किया है उसका प्रगति-पत्र देखेगा और उन कारणों को ढूंढने का प्रयत्न क बालक की गणित पढ़ने की अनिच्छा क्यों है?

इसी प्रकार व्यवसाय-निर्देशन के लिए कई प्रकार की परीक्षा मनोवैज्ञानिकों ने आयोजन किया है। इन परीक्षाओं के दो भाग किये जा सक

(१) मनोवैज्ञानिक परीक्षायें—ये तीन परीक्षायें व्यक्ति के मानसिक व्यक्तित्व विकास, चरित्र विकास, आदतें, बुद्धि आदि से सम्बन्ध रखती हैं। व्यक्ति के मस्तिष्क की रचना तथा क्रियाशीलता पर आधारित होती हैं।

(२) व्यावसायिक परीक्षायें—ये परीक्षायें व्यवसाय की रचना तथा शीलता पर आधारित होती हैं। इनमें चार प्रकार की प्रश्नावलियों का स किया जाता है :—

(क) प्रतिरूप विधि—वास्तविक कार्य का नमूना उम्मीदवार के सम्मुख जाता है जैसे टाइपराइटिंग अथवा शार्टहैण्ड का कार्य। उम्मीदवार कार्य में कुछ प्राप्त करके ही इस परीक्षा में बैठ सकता है।

(ख) अनुरूप विधि—किसी परिस्थिति में उम्मीदवार को स्वयं को प्रकार व्यवस्थित करना होता है जैसे उससे वास्तविक व्यवसाय में अपेक्षा सकती है। उन्हीं प्रतिक्रियाओं को दिखलाना होता है जिन्हें वह वास्तविक क दिखायेगा। इस प्रकार की परीक्षा का उदाहरण मास्टरवर्ग के ट्रामवे कर्मचारि लिए निर्मित प्रश्नावलियों में मिलता है।

(ग) विश्लेषणात्मक विधि—इसमें व्यवसाय के लिए अपेक्षित विविध गुणों के आधार पर प्रश्नों की रचना की जाती है। उदाहरणार्थ—हवाई सेना में चुनाव के लिए परीक्षा की रचना में ध्वनियों का पृथक्करण, उनके उद्गम स्थान को समझना, दोहरे तालवाली दूरबीन से देख सकना, सतुलन न खोना, धीमे प्रकाश मे देख सकना, आकस्मिक ध्वनियों के प्रति शीघ्र उपयुक्त प्रतिक्रिया प्रदर्शित करना, आदि।

(घ) प्रयोग सिद्धात्मक विधि—कई प्रश्नावलियां निर्धारित करली जाती हैं। व्यवसाय से जिसका यह सम्बन्ध अत्यधिक मिलता है उसी को व्यावसायिक चुनाव के साधन के रूप में मान लिया जाता है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं तथा व्यावसायिक परीक्षाओं के आधार पर ही व्यावसायिक-निर्देशन का कार्य अवलम्बित है।

व्यावसायिक निर्देशक (Career Master) के कार्य—जिस प्रकार एक शिकारी के पथ-प्रदर्शक के लिए आवश्यक है कि वह स्थान से पूर्ण परिचित हो, वहां के पहाड़ों, घाटियों, नदी, नालों, गुफाओं, घने स्थानों की पूर्ण जानकारी हो, पहाड़ी मार्गों से परिचित हो और उसे प्रतीत हो कि शिकार कहां-कहां मिल सकता है और किस स्थान से आसानी से शिकार किया जा सकता है ताकि वह शिकारी को ठीक स्थान पर ले जा सके। इसी प्रकार व्यावसायिक और शिक्षा-निर्देशक के लिए यह आवश्यक है कि उसे निर्देशन की विधि, परीक्षायें, व्यक्ति तथा विभिन्न व्यवसायों का पूर्ण ज्ञान हो। क्योंकि व्यवसाय निर्देशन के साथ-साथ आवश्यकतानुसार आर्थिक सम्मति, सामाजिक सम्मति, रोगोपचार सम्मति, आत्मविश्वास परिवर्धन सम्मति आदि भी दी जा सकती है।

निर्देशक को निम्नलिखित बातें जानना आवश्यक है —

(१) समाज की पूर्ण जानकारी होनी चाहिये तथा उसमे प्रचलित धन्धों का ज्ञान होना चाहिए, जैसे विभिन्न व्यवसाय, कारखाने, उनमें कार्य करने की शर्तें, वेतन, आगे तरक्की के लिए क्षेत्र, नियुक्ति के लिए न्यूनतम आवश्यकतायें, प्रशिक्षण प्राप्त करने का व्यय, भावी प्रगति, आदि।

(२) उपलब्ध तथ्यों को व्यक्ति की दृष्टि से आंकना।

(३) व्यक्ति का प्रश्न, 'वह किस व्यवसाय के उपयुक्त है?' निर्देशक के कार्य को बढ़ा देता है। पर यदि व्यक्ति इस दृष्टि से आता है कि वह टाइपिस्ट बनने के योग्य है अथवा नहीं, उसके कार्य को सरल बना देता है। पूर्व के कार्य के लिए निर्देशक को कई सामग्रियां जुटानी पड़ेंगी जैसे—योग्यता-परीक्षा, प्रवीणता-परीक्षा, रुचि-परीक्षा, व्यक्तित्व-परीक्षा आदि।

(४) उम्मीदवार के पारिवारिक वातावरण व इतिहास का जानना भी आवश्यक है।

(५) परिवार के सदस्यों के व्यवसाय को दिलाने के ढंगों को भी जानना आवश्यक होगा।

(६) उम्मीदवार की शारीरिक स्थिति, डाक्टरी प्रमाणपत्र, दृष्टि-दोष, श्रुति-दोष, हृदय-दोष, आदि कोई हों, जानना आवश्यक है।

(७) विद्यालय के प्रगति-पत्र को, जिसमें उसका व्यवहार, चरित्र, आदि अंकित हो, पढ़ना आवश्यक है।

१.८· (८) बुद्धि-लब्धि से परिचित होना आवश्यक है।

वस्तुतः व्यावसायिक निर्देशक उम्मीदवार और व्यवसाय के मध्य की शृंखला है जो दोनों को जोड़ने का कार्य करती है। इसको हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं :—

उम्मीदवार		व्यवसाय
शैक्षणिक योग्यता, झुकाव, अन्य योग्यता, बुद्धि, रुचि, चरित्र, स्वास्थ्य, सामाजिक बंधन, वातावरण, आर्थिक स्थिति, माता-पिता की इच्छा, अध्यापक का विश्लेषण, डाक्टर का विश्लेषण, मनोवैज्ञानिक का विश्लेषण, अन्य आवश्यक विश्लेषण।	व्यावसायिक निर्देशक	विभिन्न व्यवसाय, प्रशिक्षण, विद्यालय, उम्मीदवारी की शर्तें, प्रशिक्षण का खर्च, छात्रवृत्तियाँ, बाजार में व्यवसाय का मूल्य, भावी प्रगति, वेतन, नौकरी की शर्तें, विभिन्न व्यवसायों में वांछित शारीरिक व मानसिक क्षमतायें आदि की सूचनायें।

इस प्रकार व्यावसायिक निर्देशक तरुण की शिक्षा-समाप्ति और व्यवसाय अपनाने के बीच की खाई का पुल है जिसका एक हाथ उम्मीदवार की क्षमता को टटोलता है और दूसरा हाथ उसके लिए उपयुक्त व्यवसाय को टटोलता है। इसके लिए उम्मीदवार को पूर्णतः जानकारी के लिए तरुण से कई बार साक्षात्कार (इण्टर-व्यू) उसके माता-पिता से मिलना, उनकी आर्थिक स्थिति आदि का पता लगाना आवश्यक होगा।

व्यावसायिक निर्देशक का स्वयं का व्यक्तित्व भी ऐसा होना चाहिए जो उम्मीदवार तरुण मे विश्वास उत्पन्न कर सके। उसे स्वयं के कार्य में पूर्णतः प्रवीण और दक्ष होना चाहिए। वह मनोवैज्ञानिक होना चाहिए, नियुक्तिकर्त्ता होना चाहिए, साक्षातकार करने की प्रणाली में पारंगत होना चाहिए। इस प्रकार की क्षमतायें व योग्यतायें रखने वाला निर्देशक ही अपने कार्य मे सफल हो सकता है।

व्यावसायिक निर्देशन और बुनियादी-शिक्षा—वस्तुतः व्यावसायिक निर्देशन तरुण की शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् ही प्रारम्भ होता है। शिक्षा-समाप्ति उसकी इतनी महत्ता नहीं क्योंकि वर्तमान टकसाली शिक्षा स्वतः अपने में

किन्हीं उद्योगों का समावेश नहीं करती। अतः उद्योगरहित टकसाली शिक्षा को समाप्त कर तरुण जब जीवन में प्रवेश करना चाहता है तब वह व्यवसाय के अपनाने की समस्या को सुलझाने के लिए निर्देशक की शरण लेना चाहता है। इस पद्धति में यह दोष है कि तरुण की बाल्यावस्था में शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व यह पता नहीं लगाया जा सकता कि उसमें किस व्यवसाय के अपनाने की योग्यता विद्यमान है। इस प्रकार यदि शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् तरुण का विश्लेषण करने से यह प्रतीत हो कि उसमें एक डाक्टर बनने के विशेष गुण विद्यमान हैं तो उन गुणों का कोई सदुपयोग नहीं हो पाता। अतः व्यवसाय निर्देशन के पूर्व शिक्षा-निर्देशन का होना अत्यन्त आवश्यक है ताकि बाल्यावस्था ही में व्यवसाय के अनुकूल शिक्षा प्रदान की जा सके।

बुनियादी-शिक्षा का क्षेत्र परंपरित शिक्षा से भिन्न है। बुनियादी शिक्षा-पद्धति में बालक पाठशाला में प्रारम्भ ही से रचनात्मक उद्योग के द्वारा शिक्षा प्राप्त करता है। अतः व्यावसायिक निर्देशक का कार्य जो टकसाली शिक्षा के समाप्त होने पर होना है बुनियादी पाठशाला में बालक के प्रवेश के समय ही आवश्यक है। बुनियादी-शाला में विभिन्न उद्योग के कार्य कराये जाते हैं। अतः बुनियादी शिक्षा की दृष्टि से ऐसी परीक्षायें तैयार की जानी चाहियें, जिनके द्वारा प्रवेश के समय ही बालक को उपयुक्त उद्योग ग्रहण करने की सम्मति दी जा सके। ऐसे बालक प्रारम्भ ही से उसी उद्योग में रुचि रख कर काम करेंगे जिसके कारण वे उसमें अधिक दक्ष हो सकेंगे।

बुनियादी-शालाओं में अध्यापन का कार्य करने वाले अध्यापकों को व्यावसायिक निर्देशक का प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है ताकि वे बालक के उद्योग को अपनाने की क्षमता का पता लगाकर उपयुक्त उद्योग की ओर उन्हें प्रवृत्ति कर सकें। इस प्रकार सरकार का दोहरा खर्च बच सकता है।

सारांश

परिवार की तथा अपनी उदरपूर्ति के लिए जीविकोपार्जन हेतु जीवन में प्रत्येक व्यक्ति व्यवसाय अपनाता है।

व्यावसायिक निर्देशन का स्वरूप—परन्तु प्रायः लोग अपने अनुकूल व्यवसाय को ग्रहण नहीं कर पाते। अतः व्यक्ति की रुचि, बुद्धि, आर्थिक व्यवस्था, चरित्र, आदतें, झुकाव आदि के आधार पर उपयुक्त व्यवसाय अपनाने की सम्मति देना व्यावसायिक निर्देशन कहलाता है।

व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता—वर्तमान-काल के तरुण अपने अनुकूल व्यवसाय को न अपना पाने के कारण अपने जीवन को दुःखी बना लेते हैं। अतः व्यक्ति को व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि नियुक्तिकारों के लिए भी उपयुक्त व्यक्ति चुनकर दिया जाना आवश्यक है ताकि उनका कार्य सुचारु रूप से चल सके।

भारत में व्यावसायिक निर्देशन की प्रगति—सर्वप्रथम १९३८ में कल-

कत्ता विश्वविद्यालय में इसका कार्य प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् बम्बई में फिर पटना आदि स्थानों पर निर्देशन के कार्य प्रारम्भ हुए। अब केन्द्रीय सरकार भी इस ओर प्रगति कर रही है।

व्यावसायिक निर्देशन—इस कार्य हेतु उत्तम समय स्कूल का जीवन-काल ही है। विभिन्न व्यवसायों के लिये आवश्यक योग्यताओं का पता लगाकर तरुण को व्यवसाय अपनाने की सम्मति प्रदान की जा सकती है।

निर्देशन की विधि—निर्देशन के लिये व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक परीक्षायें जैसे मानसिक विकास परीक्षा, व्यक्तित्व विकास परीक्षा, चरित्र विकास परीक्षा, बुद्धि परीक्षा आदि लेना आवश्यक है। दूसरे प्रकार की परीक्षायें जैसे प्रतिरूप विधि, अनुरूप विधि, विश्लेषणात्मक विधि, प्रयोग सिद्धात्मक विधि द्वारा व्यावसायिक निर्देशन का कार्य किया जा सकता है।

व्यावसायिक निर्देशक के कार्य—निर्देशक को निम्नलिखित कार्य करने आवश्यक हैं—(१) समाज और उसके धन्धों की जानकारी। (२) उपलब्ध तथ्यों को व्यक्ति की दृष्टि से आंकना। (३) विभिन्न परीक्षाओं की सामग्री जुटाना। (४) पारिवारिक *वातावरण व इतिहास का जानना। (५) परिवार द्वारा अवकाश को बिताने के ढग* जानना। (६) तरुण की शारीरिक स्थिति, डाक्टरी प्रमाणपत्र देखना। (७) विद्यालय के प्रगति-पत्र का अध्ययन। (८) बुद्ध-लब्धि ज्ञात करना। इस प्रकार निर्देशक तरुण व व्यवसाय के बीच पुल का कार्य करता है। व्यावसायिक निर्देशक का व्यक्तित्व आकर्षक होना चाहिए।

व्यावसायिक निर्देशन और बुनियादी-शिक्षा—साधारण टकसाली शिक्षा को समाप्त करने के पश्चात् व्यावसायिक निर्देशन का कार्य प्रारम्भ होता है। इसमें यह दोष है कि बालक को पहले से उसमें विद्यमान क्षमता के अनुकूल शिक्षा नहीं दी जा सकती। पर बुनियादी शिक्षा पाठशाला प्रवेश के ही समय बालक के सामने उद्योग कार्य रखती है। अतः बालकों की रुचि के अनुकूल उद्योग कार्य अपनाने की सम्मति प्रदान हेतु उनका व्यावसायिक निर्देशन की दृष्टि से अध्ययन पाठशाला प्रवेश के समय ही हो जाना चाहिए। इसके लिये बुनियादी-शाला के शिक्षकों को ही प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) व्यावसायिक निर्देशन से क्या तात्पर्य है? इसकी मानव-जीवन में आवश्यकता क्यों है?

(२) बुनियादी शिक्षा-पद्धति में व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता है अथवा नहीं? यदि है तो बालक की किस अवस्था में यह कार्य किया जाना आवश्यक है और क्यों?

—:०:—

मनोवैज्ञानिक शिक्षण-विधि के सूत्र

बाल एवं शिक्षा मनोविज्ञान से परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि शिक्षक बालकों को मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर पढ़ावें जिससे वे पढ़ने में रुचि प्राप्त कर सकें और पाठ सफलता से पूरा हो। इस कार्य हेतु मनोवैज्ञानिक शिक्षण-विधि के सूत्रों का वर्णन आवश्यक है। अध्यापक को निम्नलिखित सूत्रों का शिक्षण के समय प्रयोग करना चाहिए :—

(१) सरल से जटिल की ओर—यदि बालक पर प्रारम्भ से ही पढ़ने का भार इस प्रकार डाल दिया जाय कि वह समस्या की जटिलता से घबरा जाए तो उसके हृदय में सीखने के प्रति घृणा उत्पन्न हो जायगी और मानसिक ग्रन्थि का निर्माण हो जायगा। अतः बालक के सीखने के लिए उसकी आयु, वातावरण आदि की दृष्टि से केवल उसकी समझ में आने योग्य बात ही उसके सामने रखनी चाहिए और बालक को शनैः-शनैः जटिल समस्या की ओर ले जाया जाना चाहिए। अतः बालक को प्रारम्भ में रुचि एवं मानसिक विकास के अनुकूल शिक्षा दी जानी चाहिए।

(२) ज्ञात से अज्ञात की ओर—बालक को उसके पूर्व ज्ञान के आधार पर ही आगे का ज्ञान दिया जाना चाहिए। अतः अध्यापक को पढ़ाना प्रारम्भ करने के पूर्व बालक के पूर्व ज्ञान से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। उदाहरणार्थ बालक कृष्ण के बाल-जीवन से परिचय प्राप्त कर चुका है तो फिर उसे कृष्ण की महाभारत युद्ध की कहानियाँ कही जानी चाहिएँ। यदि बालक को राम के प्रारम्भिक जीवन का ज्ञान है तो उससे वनवास की कथा कही जानी चाहिए। इसी प्रकार बुनियादी शिक्षा के उद्योग-कार्य में बालक को क्यारी तैयार करना मालूम है तो उसे बीज बोना सिखाया जाना चाहिए।

(३) स्थूल से सूक्ष्म की ओर—बालक का प्रारम्भिक ज्ञान सूक्ष्म जगत की अपेक्षा स्थूल जगत से अधिक सम्बन्धित होता है। वह पहले आँख, नाक, हाथ, पाँव आदि के सम्पर्क में आई हुई बातों को सीखता है। फिर उसे धीरे-धीरे बुद्धिगत बातों का ज्ञान होने लगता है। बुनियादी शिक्षा स्थूल से सूक्ष्म का ज्ञान कराती है। बालक हाथ से कार्य कर भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में आकर विचार-शक्ति को विकसित करता है, सोचता है, और कल्पना करता है। इस प्रकार शिक्षण स्थूल से सूक्ष्म की ओर ही होना चाहिए।

(४) पूर्ण से अंश की ओर—बालक पूर्ण विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही उसके भिन्न-भिन्न विषयों को सुगमतापूर्वक समझ सकता है। गेस्टाल्टवाद बताता है कि सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण को देखता है तब उसके विभिन्न अंगों

कत्ता विश्वविद्यालय में इसका कार्य प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् बम्बई में फिर प
आदि स्थानों पर निर्देशन के कार्य प्रारम्भ हुए। अब केन्द्रीय सरकार भी इस
प्रगति कर रही है।

व्यावसायिक निर्देशन—इस कार्य हेतु उत्तम समय स्कूल का जीवन
ही है। विभिन्न व्यवसायों के लिये आवश्यक योग्यताओं का पता लगाकर तदर
व्यवसाय अपनाने की सम्पत्ति प्रदान की जा सकती है।

निर्देशन की विधि—निर्देशन के लिये व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक परीक्ष
जैसे मानसिक विकास परीक्षा, व्यक्तित्व विकास परीक्षा, चरित्र विकास परीक्ष
बुद्धि परीक्षा आदि लेना आवश्यक है। दूसरे प्रकार की परीक्षायें जैसे प्रतिरूप वि
अनुरूप विधि, विश्लेषणात्मक विधि, प्रयोग सिद्धात्मक विधि द्वारा व्यावसायि
निर्देशन का कार्य किया जा सकत है।

व्यावसायिक निर्देशक के कार्य—निर्देशक को निम्नलिखित कार्य करने आवश्य
हैं—(१) समाज और उसके धन्धों की जानकारी। (२) उपलब्ध तथ्यों को व्यक्ति
की दृष्टि से आंकना। (३) विभिन्न परीक्षाओं की सामग्री जुटाना। (४) पारिवारि
वातावरण व इतिहास का जानना। (५) परिवार द्वारा अवकाश को बिताने के ढ
जानना। (६) तरुण की शारीरिक स्थिति, डाक्टरी प्रमाणपत्र देखना। (७) विद्याल
के प्रगति-पत्र का अध्ययन। (८) बुद्ध-लब्धि ज्ञात करना। इस प्रकार निर्देशक तरु
व व्यवसाय के बीच पुल का कार्य करता है। व्यावसायिक निर्देशक का व्यक्तित्व
आकर्षक होना चाहिए।

व्यावसायिक निर्देशन और बुनियादी-शिक्षा—साधारण टकसाल
शिक्षा को समाप्त करने के पश्चात् व्यावसायिक निर्देशन का कार्य प्रारम्भ होता है।
इसमें यह दोष है कि बालक को पहले से उसमें विद्यमान क्षमता के अनुकूल शिक्ष
नहीं दी जा सकती। पर *बुनियादी शिक्षा पाठशाला प्रवेश के ही समय बालक*
सामने उद्योग कार्य रखती है। अतः बालकों की रुचि के अनुकूल उद्योग कार्य च
की सम्मति प्रदान हेतु उनका व्यावसायिक निर्देशन की दृष्टि से अध्ययन पा
प्रवेश के समय ही हो जाना चाहिए। इसके लिये *बुनियादी-शाला के शिक्षक*
प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) व्यावसायिक निर्देशन से क्या तात्पर्य है ? इसकी मानव-जीवन में उ
है ?

(२) बुनियादी शिक्षा-पद्धति में व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता है
यदि है तो बालक की किस अवस्था में यह कार्य किया जाना आवश्यक है और व

का

का

रचना

सामाजिक संस्थायें उत्तरदायी हैं? उनमें से किसी एक का सविस्तार वर्णन कीजिए।

१४. क्या आपकी राय में बुनियादी पाठशालायें स्वावलम्बी हो सकती हैं? उत्तर अपनी पढ़ाई या अनुभव के आधार पर उदाहरण सहित लिखें।

१५. (अ) क्या पाठशाला में धार्मिक शिक्षा देनी चाहिये?

(आ) भारतवर्ष में धार्मिक शिक्षा देने में क्या-क्या विशेष कठिनाइयाँ है? ऐसी कठिनाइयों को दूर करने के लिए बुनियादी शिक्षा क्या हल बताती है?

मनोविज्ञान

१. यदि एक बच्चा निर्धन परिवार से आता है तो क्या उसकी वंश-परम्परा भी नीचे दर्जे की होती है? क्या उस बालक की बुद्धि अच्छी हो सकती है?

२. बुनियादी शिक्षा-प्रणाली में समवाय मनोविज्ञान के किन नियमों पर आधारित है?

३. आप समवाय या खेल द्वारा या पुराने ढंग से पढ़ाने की रीतियों में से कौन सी रीति को अच्छा समझते हैं?

४. आप बाल मनोविज्ञान और व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर निम्नलिखित बालकों की शिक्षा के लिए कौन से व्यावहारिक साधन प्रयोग में लायेंगे :—

(अ) जिसकी बुद्धि बहुत तेज है पर घर का वातावरण अच्छा नहीं।

(आ) केवल एक ही विषय में प्रखर बुद्धि छात्र।

(इ) पिछड़े हुए बालक।

५. 'शिक्षा एक द्विमुखी समस्या है।' इस उक्ति से आप क्या अभिप्राय लेते हैं? शिक्षक को शिक्षा मनोविज्ञान जानना क्यों जरूरी है? मनोविज्ञान अध्ययन की क्या विधियाँ हैं?

६. अनुभूति क्या है? बालक किस प्रकार अनुभव से सीखता है? बालक के मस्तिष्क के विकास से इसका क्या सम्बन्ध है? स्पष्ट समझाइये।

७. शिक्षा बालक का वातावरण संगठन करती है। अगर हम बालक को वंश परम्परा की शृङ्खलाओं में बाध्य मानें तो उक्त कथन की सत्यता में शंका पैदा होती है, क्या बालक वातावरण में परिवर्तित किया जा सकता है? अपने विचार सोदाहरण प्रकट करें।

८. मूल प्रवृत्तियों की व्युत्पत्ति जन्म के साथ ही निहित है। शिक्षक को बालक की प्रवृत्तियों का प्रयोग उन्हें शिक्षा देने में करना चाहिये। इस तथ्य का उद्घाटन करिये और किसी एक प्रवृत्ति को लेकर बताइए कि शिक्षा इस आधार पर कैसे देंगे?

९. किन्हीं चार पर टिप्पणियाँ दें :—

भावग्रंथि, नेनी, जीवन शक्ति (Horme), प्रतिक्षेप क्रिया (Reflexes), मनोविश्लेषण, उदात्तीकरण (Sublimation)।

१०. 'आदिम प्रवृत्तियों' से आपका क्या तात्पर्य है ? बुनियादी शिक्षा में जिज्ञासा तथा रचनात्मक शक्तियों का किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है ?

११. 'क्रीड़ा-विधि' (Play-way) से आपका क्या अभिप्राय है ? बुनियादी शिक्षा में उसका क्या महत्व है ?

१२. पिछड़े तथा अपराधी बालक के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ? इन बालकों की शिक्षा में बुनियादी तालीम किस प्रकार सहायता कर सकती है ?

१३. वोकेशनल गाइडेन्स (Vocational Guidance) से आप क्या समझते हैं ? अध्यापक का व्यावसायिक निर्देशक (Career Master) की हैसियत से क्या स्थान है ? उसके कार्यों का उल्लेख कीजिए ।

१४. सीखने को नियन्त्रित करने वाली कौन-कौन सी अवस्थायें हैं ? बालकों को सिखाने में शिक्षक किन-किन साधनों का प्रयोग करेगा ?

—•—